SAMKALIN HINDI ALOCHNA AUR ASMITAWADI CHINTAN

A DISSERTATION SUBMITTED DURING (YEAR) 2015 TO THE UNIVERSITY OF HYDERABAD IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE OF AWARD OF A **Ph.D. DEGREE** IN DEPARTMENT OF HINDI, SCHOOL OF HUMANITIES.

2015

BY

RAJEEV KUMAR

(10HHPH06)

DEPARTMENT OF HINDI

SCHOOL OF HUMANITIES

UNIVERSITY OF HYDERABAD

HYDERABAD. 500046

“समकालीन हिन्दी आलोचना और अस्मितावादी चिंतन ”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय के पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

2015

शोधार्थी

राजीव कुमार

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद – 500046

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad – 500046
Telangana
India.

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **"Samkalin Hindi Alochna Aur Asmitawadi Chintan" ('समकालीन हिंदी आलोचना और अस्मितावादी चिंतन')** submitted by **Rajeev Kumar** bearing Regd. No. **10HHPH06** in partial fulfillment of the requirements for the award of the degree of Doctor of Philosophy in **Hindi** is a work carried out under my/our supervision, which is plagiarism free thesis.

The dissertation has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor
Prof. Suvas Chandra Kumar

Signature of the Co-supervisor
Dr. M. Shyam Rao

Head, Department of Hindi
University of Hyderabad

Dean, School of Humanities
University of Hyderabad

Declaration

I, RAJEEV KUMAR hereby declare that this dissertation entitled **"SAMKALIN HINDI ALOCHNA AUR ASMITAWADI CHINTAN"** ('समकालीन हिन्दी आलोचना और अस्मितावादी चिंतन') submitted by me under the guidance and supervision of Professor S. C. KUMAR and Dr. M. SHYAM RAO, is my *bonafide* research work and is free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Date:

Name: RAJEEV KUMAR

(Signature of the student)

Regd. No. 10HH0P06

अनुक्रमणिका

समकालीन हिंदी आलोचना और अस्मितावादी-चिंतन

	पृष्ठ संख्या
आत्मकथ्य	i-vii
प्रस्तावना	01-04
प्रथम अध्याय	05-96
1. समकालीन हिंदी आलोचना और दलित विमर्श	
1.1 हिंदी आलोचना की परम्परा में दलित-दृष्टि	
1.1.1-1.1.8 कतिपय आलोचक	
1.2 दलित विमर्श और प्रमुख आलोचक	
1.2.1-1.2.5 कतिपय आलोचक	
1.3 निष्कर्ष	
द्वितीय अध्याय	97-178
2. समकालीन हिंदी आलोचना और स्त्रीवाद	
2.1 हिंदी आलोचना की परम्परा और स्त्री-चेतना	
2.1. -2.1.4 कतिपय आलोचक	
2.2 समकालीन स्त्रीवादी आलोचना	
2.2.1-2.2.7 कतिपय आलोचक	
2.3 दलित स्त्रीवाद	
2.3.1-2.3.2 कतिपय आलोचक	
2.4 निष्कर्ष	

तृतीय अध्याय 179-229

3. समकालीन हिंदी आलोचना और आदिवासी विमर्श

3.1-3.9 आदिवासी विमर्श के प्रमुख पहलू

3.10 निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय 230 -255

4. समकालीन हिंदी आलोचना और मुस्लिम विमर्श

4.1-4.5 मुस्लिम विमर्श के प्रमुख पहलू

4.6 निष्कर्ष

पंचम अध्याय 256 -309

5. अस्मितावादी आलोचना की चुनौतियाँ

5.1 दलित विमर्श की चुनौतियाँ

5.2 स्त्रीवाद की चुनौतियाँ

5.3 आदिवासी विमर्श की चुनौतियाँ

5.5 मुस्लिम विमर्श की चुनौतियाँ

5.6 निष्कर्ष

उपसंहार 310 -313

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आत्मकथ्य

आज रचना के साथ आलोचना का फलक भी बड़ा हुआ है । समकालीन साहित्य ने रूप और वस्तु दोनों ही स्तर पर नई दिशाओं का संधान किया है । इसलिए आज रचना का अर्थ किसी खास विषय तक सीमित नहीं है । आज साहित्य का सम्बन्ध समाज, राजनीति, संस्कृति, अर्थतंत्र आदि के साथ ज्यादा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है । साहित्य आज मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाली छोटी से छोटी वस्तु को भी स्वयं में शामिल करना चाहता है । ऐसा करते हुए वह स्वयं को अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से भी जोड़ता है । साहित्य किसी विषय के चित्रण या वर्णन मात्र तक सीमित नहीं होता है बल्कि वह आलोचनात्मक-चेतना का विकास भी करता है । अर्थात् साहित्य स्वयं आलोचना को जरूरी मानता है अन्यथा आलोचनात्मक विवेक या आलोचनात्मक मूल्यांकन के अभाव में साहित्य दस्तावेज मात्र बन कर रह जाएगा ।

आलोचना का दायित्त्वबोध उसकी महत्ता को प्रतिपादित करता है । मुक्तिबोध आलोचना को गंभीर सामाजिक कर्म मानते थे इसलिए वह आलोचना को 'सभ्यता-समीक्षा' से जोड़कर देखते थे । हालाँकि मुक्तिबोध 'सभ्यता-समीक्षा' को आलोचना और रचना दोनों के लिए आवश्यक मानते थे । उनकी 'कामायनी' की आलोचना जयशंकर प्रसाद की सभ्यता-समीक्षा की आलोचना है तो स्वयं मुक्तिबोध की कविताएँ रचना में 'सभ्यता-समीक्षा' की प्रमाण हैं । इस दृष्टि से हिन्दी के समकालीन आलोचना पर विचार करना आवश्यक है । आलोचना का दायित्त्व अपने समय के साथ पूर्ववर्ती पम्पराओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना भी होता है । इसी अर्थ में वह 'सभ्यता-समीक्षा' से जुड़ती है । समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में विभिन्न अनुभव जगत के साथ साहित्य रचना की विभिन्न पद्धतियाँ दिखाई पड़ती हैं । ऐसे में समकालीन हिंदी आलोचना की भूमिका पर विचार करना महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है ।

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में विभिन्न अस्मिताओं का सवाल प्रमुखता से उपस्थित हुआ है । उनसे सम्बन्धित रचनाएँ विपुल मात्रा में रची जा रही हैं । अस्मितावादी साहित्य के विकास के साथ उससे सम्बंधित आलोचना पद्धति का भी

विकास हुआ है। दलित विमर्श, स्त्रीवाद, आदिवासी विमर्श, और अल्पसंख्यक विमर्श प्रभृत आलोचना की पद्धतियाँ इसी संदर्भ में समकालीन हिंदी आलोचना के पटल पर दिखाई देती हैं। इन आलोचना पद्धतियों के केंद्र में 'अस्मिता' या 'पहचान' का प्रश्न है। इनका प्रमुख लक्ष्य 'अन्यीकरण' की उस प्रक्रिया को व्याख्यायित करना एवं चुनौती देना है, जिसकी वजह से इन अस्मिताओं की उपस्थिति को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः नकारा गया।

आधुनिक से कथित उत्तर-आधुनिक समय में रूपांतरित हो रहे भारतीय समाज के जटिल परिप्रेक्ष्य में विभिन्न अस्मितावादी साहित्य का उत्थान दिखाई पड़ता है। हालाँकि ये अस्मिताएँ व्यक्ति की जगह समूह की अस्मिता की हिमायती होने का दावा करती हैं। इसलिए इस दावे की सत्यता की जाँच आवश्यक है। जिसका एक विनीत प्रयास यह शोध-प्रबंध भी है। अस्मिताओं का सवाल कई बार समाज को खण्डों में विभाजित करके देखने से जुड़ा नजर आता है। ऐसे में बनारस में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सन् 1910 में दिए गए वक्तव्य में कही गई बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ संकीर्ण दायरों में बंधे बिना अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को दृढ़ करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। वह मानते थे कि एकता को निर्मित करने का सही तरीका, अलगाव को चिन्हित करने में है। उनका इस बात पर जोर था कि आज समस्या विभेद मिटा देना नहीं, विभेद बरकरार रखते हुए एकता स्थापित करना है, जो सचमुच कठिन है। हमारा समकालीन परिदृश्य भी ऐसे ही कठिन दौर से गुजर रहा है। ऐसे में विभिन्न अस्मिताओं पर विचार किए बिना न ही भारतीय समाज की संश्लिष्टता को समझा जा सकता है और न ही सामाजिक एकता को मजबूत किया जा सकता है। इसलिए यहाँ अस्मितावादी आलोचना पर विचार करना प्रासंगिक प्रतीत होता है क्योंकि आलोचना पर विचार करने के माध्यम से ही किसी उचित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

'समकालीन हिंदी आलोचना और अस्मितावादी चिंतन' विषय पर कार्य करने का विचार हैदराबाद विश्वविद्यालय परिसर की बहसों की देन है। इस परिसर में अस्मिता पर आधारित बहसें कक्षाओं, सेमिनारों से लेकर आपसी बातचीत में चलती रहती हैं। कई बार ये चर्चाएँ अतिरंजित या किसी तय निष्कर्ष की तरफ बढ़ती दिखाई देती हैं। एक तरफ ये चर्चाएँ हमारे सहज विश्वासों को चुनौती देती जान पड़ती हैं तो

दूसरी तरफ उनमें सहज आलोचनात्मक विवेक का अभाव जान पड़ता है। समकालीन अस्मितावादी साहित्य और आलोचना में भी ये दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। ऐसे में हिंदी साहित्य और आलोचना में चल रहे अस्मितावादी विमर्शों का अध्ययन प्रासंगिक प्रतीत हुआ। असल में अस्मितावादी साहित्य के विकास में उसकी आलोचना की भूमिका को जानने की जिज्ञासा इस शोध-कार्य के केंद्र में है। अतएव इस शोध-कार्य में अस्मितावादी आलोचना के मुख्य विशेषताओं को रेखांकित करने के साथ उसके सीमाओं पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

शोध-कार्य के समुचित विवेचन को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध-प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

पहले अध्याय 'समकालीन हिंदी आलोचना और दलित-विमर्श' में हिंदी आलोचना की परम्परा में दलित दृष्टि की उपस्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ समकालीन हिंदी आलोचना के प्रमुख दलित एवं गैर दलित आलोचकों के आलोचना-कर्म पर विचार किया गया है।

दूसरे अध्याय 'समकालीन हिंदी आलोचना और स्त्रीवाद' में स्त्रीवादी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। हिंदी आलोचना की परम्परा में 'स्त्री-चेतना' को निर्धारित करने के साथ समकालीन स्त्रीवादी आलोचकों के आलोचना कर्म पर आलोचनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

तीसरे अध्याय 'समकालीन हिंदी आलोचना और आदिवासी विमर्श' में समकालीन परिदृश्य में आदिवासी विमर्श के विकास के कारणों की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। आदिवासियों की अस्मिता के साथ उनके अस्तित्व से जुड़े प्रमुख पहलुओं पर विचार किया गया है। आदिवासी विमर्श की उपस्थिति एवं विकास की प्रक्रिया का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

चौथे अध्याय 'समकालीन हिंदी आलोचक और मुस्लिम विमर्श' में मुस्लिम समुदाय की समस्याओं एवं चुनौतियों पर आधारित आलोचना कर्म पर विचार किया गया है।

पाँचवें अध्याय 'अस्मितावादी आलोचक की चुनौतियाँ' में उपरोक्त सभी अस्मितावादी आलोचना पद्धतियों के समक्ष उपस्थित चुनौतियों को जानने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय के अंतर्गत इन अस्मितावादी आलोचनाओं के अंतर्विरोधों एवं सीमाओं पर आलोचनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

यह पूरा विश्लेषण अस्मितावादी आलोचना की संभावनाओं एवं सीमाओं को जानने का विनीत प्रयास है। किसी भी साहित्य और उसकी आलोचना के निरंतर विकास के लिए उनकी क्षमता एवं सीमा का ज्ञान आवश्यक होता है। यह शोध-कार्य हिंदी साहित्य और आलोचना के विकास में अपनी छोटी सी भूमिका निभाने की कोशिश मात्र है।

इस विषय से सम्बंधित विषयों पर शोध-कार्य कई अन्य विश्वविद्यालयों में भी हो रहे हैं परन्तु उन शोध कार्यों में अस्मितावादी आलोचना के किसी एक आलोचना पद्धति को ही केंद्र में रखा गया है। यथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के ब्रह्मानंद का विषय 'हिन्दी दलित आलोचना का स्वरूप और दृष्टियाँ' है। इसी विश्वविद्यालय के विशेष कुमार का विषय 'हिन्दी में दलित आलोचना का विकास' है। हैदराबाद विश्वविद्यालय में गायकवाड़ गंगाधर संग्राम द्वारा जमा किये गए शोध-प्रबंध का विषय 'दलित साहित्य और हिन्दी आलोचना' है। अधिकांश शोध किसी एक आलोचना पद्धति या विमर्श पर आधारित हैं। मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध में अस्मितावादी आलोचना के विभिन्न पद्धतियों पर विचार किया गया है। समकालीन हिन्दी आलोचना में उपस्थित अस्मितावादी आलोचना का समग्र मूल्यांकन करने का प्रयास इस शोध-प्रबंध में किया जायेगा।

हिन्दी आलोचना का फलक बेहद विस्तृत है। समकालीन हिन्दी आलोचना का फलक और भी चुनौतीपूर्ण है। अस्मितावादी आलोचना की पद्धतियों की उपस्थिति ने समकालीन हिन्दी आलोचना को नए तरीके से प्रभावित किया है। ऐसे में इस विषय से सम्बंधित विषय पर शोध करने की, मेरी क्षमता पर विश्वास करने के लिए मैं अपने शोध निर्देशक प्रोफेसर सुवास कुमार का कृतज्ञ हूँ। इस शोध कार्य की रूपरेखा बनाने से लेकर इसे अंतिम रूप प्रदान करने तक में उनका सहयोग मुझे मिलता रहा। उनके

कीमती सुझावों और दिशा निर्देशन के बिना यह कार्य कभी पूरा नहीं हो पाता। इसलिए मेरे शोध निर्देशक और मार्गदर्शक आदरणीय सुवास कुमार को मैं तहे दिल से आभार ज्ञापित करता हूँ। मेरे दूसरे शोध निर्देशक डॉ. एम. श्याम राव का एम. फिल. करने से लेकर पीएच.डी. करने तक में जिस तरह तरह का सहयोग मिला है, उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। शोध कार्य के दौरान मैं जब भी हतोत्साहित हुआ श्याम राव सर के ऊर्जावान और स्नेहिल सलाहों ने मेरी बहुत मदद की। इन पाँच सालों में मुझे उत्साहित और ऊर्जावान बनाये रखने के लिए मैं उनका आभार प्रकट करता हूँ। विभागाध्यक्ष प्रोफेसर आर. एस. सर्राजु का मैं विशेष तौर आभारी हूँ। वह मेरे डॉक्टरियल कमिटी के सदस्य भी हैं। अतः उनके सुझाव इस शोध-कार्य के सन्दर्भ में प्रारम्भ से ही मूल्यवान साबित हुए। उनके बहुमूल्य सुझाव और उनकी सहयोगी प्रवृत्ति के कारण ही यह शोध प्रबंध अपना अंतिम रूप ले पाया। मेरे डॉक्टरियल कमिटी के दूसरे सदस्य डॉ. भीम सिंह के सुझाव भी इस शोध कार्य को पूरा करने में बेहद उपयोगी साबित हुए हैं। अतः उन्हें भी आभार ज्ञापित करता हूँ। विभाग के सभी अध्यापकों का मैं दिल से आभार प्रकट करता हूँ।

शोध कार्य एक ऐसी पंचवर्षीय परियोजना है जो बनते-बिगड़ते हुए तब तक चलती रहती है जब तक इसे अंतिम रूप से पूरा हुआ नहीं मान लिया जाता। इस बनने-बिगड़ने और पूरा होने की प्रक्रिया में कई सारे आध्यापकों, अग्रजों, मित्रों और परिजनों का साथ रहा है। इस सन्दर्भ में आदरणीय गजेन्द्र कुमार पाठक के मार्गदर्शन और सुझाव अमूल्य साबित हुए। उनके सुझावों के बिना यह शोध कभी भी कार्य-रूप में तब्दील नहीं हो पाता। अग्रज अभिषेक रोशन से समय-समय पर मिलने वाले सुझावों ने शोध-कार्य की निरंतरता को बनाये रखा। हैदराबाद शहर में लाल्टू का होना हमेशा उम्मीद बंधाता है। लाल्टू की झिड़कियों का अगर डर नहीं होता तो यह योजना शायद अधूरी ही रह जाती। समय-समय पर उनसे मिलने वाले सुझावों और 'फटकारों' ने तमाम दुनियावी परेशानियों के बावजूद मुझे लक्ष्य से विरत नहीं होने दिया।

इस अवसर पर मैं अपने पहले अध्यापक शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी को याद करना चाहता हूँ। मेरे लिए वह पहले अध्यापक के साथ मेरे साहित्यिक अभिभावक भी थे। उनका होना जीवन में आस्था को मजबूत करता था। उनके आत्मीय मार्गदर्शन के

बिना मेरा सफ़र कभी आगे नहीं बढ़ पाता। उनकी असमय मृत्यु ने उनके परिवार के साथ मुझसे भी बहुत कुछ छीना है। उनके देखे सपनों को पूरा करने का प्रयास करूँगा। आदरणीय हरिश्चन्द्र मिश्र और जगदीश भैया का स्नेह मुझे हमेशा मिलता रहा है। उनसे मिलने वाले सहयोग की कीमत कभी नहीं चुका सकता फिर भी पूरी विनम्रता से मैं उन्हें अपना आभार निवेदित करना चाहता हूँ।

सम्बंधित पुस्तकों और पत्रिकाओं के सहयोग के बिना कोई भी शोध-कार्य पूरा नहीं हो सकता। इसलिए मैं हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय के इंदिरा गाँधी मेमोरियल पुस्तकालय का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अलावा इस शोध-कार्य के पूरा होने में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पुस्तकालय और नेशनल लाइब्रेरी कोलकाता का योगदान प्रमुख रहा है।

पूरी जिन्दादिली से अब तक जीवित शान्तिनिकेतन की हमारी मित्र मंडली और उनके नए सदस्यों को ऐसे समय में कैसे भूल सकता हूँ। स्वेडी, नबो, माही, महेश, अरूप, दीप, सलमा, तनु, दिलीप, राई, अयान, तुषार सभी मेरे इस कार्य में शामिल रहे हैं। पीयूष राज, अरविन्द यादव, मृत्युंजय, सुनील किस्कू, सुभाष किस्कू, जीतेन्द्र सिंह, आलोक कुजूर, कामिल धान, संजय जैसे मित्रों ने दूर रहकर भी जीवन और मित्रता के ताप को कभी कम नहीं होने दिया।

हैदराबाद विश्वविद्यालय के परिसर का योगदान अतुलनीय है। आज के समय में हम सभी प्रवासी हैं, अपनी जमीं और जगह से प्रवासित होने को अभिशप्त। ऐसे में इस परिसर ने मुझे अपनी जमीन और अपना परिवार दिया। रोशन ख़लखो, जीतेन्द्र कुमार, गोपाल चौधरी, रवि गोस्वामी, आलेम जमीर, थोंगाम बिपीन, सागरिका, गौरांग चन्द्र रावत, शुभोदीप कुमार, बनोथ सुभाष, राजेंद्र नायक, तांडा रवि, सुनील केरकेट्टा, संग्राम राठोड़, चित्रसेन भुए, चोड़ोगंगा, चिन्ता, दाशरथी, विशाल, आशुतोष, दिवाकर, कृष्णा, सतीश, ईश्वर मुर्मू, सागर टुडू जैसों ने मिलकर जीवन को बेहद आसान बनाए रखा। उम्मीद है हम जहाँ भी रहें, साथ रहेंगे और मिलकर जीवन को जीने लायक बनाते रहेंगे।

घाटे कैलाश और मधुरा केरकेट्टा के सहयोग के बिना यह शोध कार्य इस रूप में कभी पूरा नहीं हो पाता। टंकण कार्य में इनकी मदद के बिना मैं बेफिक्र होकर नहीं लिख पाता। टंकण के साथ, वर्तनी की अशुद्धियों को दूर करने से लेकर शोध-प्रबंध को अंतिम रूप देने में मधुरा का विशेष सहयोग रहा है।

माँ-पिताजी और नाना-नानी का इंतज़ार ख़त्म हुआ इस बात की मुझे बेहद ख़ुशी है। हालाँकि उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं है कि पीएच.डी. क्या होती है। उन्हें इतना पता है कि मैं किसी महत्त्वपूर्ण काम को अंजाम दे रहा हूँ। उम्मीद करता हूँ उनकी यह चाहत सच साबित हो। तनिमा दी, राजन और सावण ने हमेशा मेरी काबिलियत पे मुझसे ज्यादा विश्वास किया है। चाहता हूँ कि उनके विश्वास को भविष्य में सच साबित कर सकूँ। मेरे परिवार के अंकल, चाची, अम्मा, अमृतांशु और सिद्धार्थ को कैसे भूल सकता हूँ। मेरे इस पूरे कार्य में ताशा की विशेष भूमिका रही है। इस शोध कार्य में अगर सचमुच कुछ 'सकारथ' हो पाया है तो वह उसके विश्वास और प्रयासों का नतीजा है।

अंततः जंगलों-पहाड़ों में बसे मेरे झारखंडी गाँव का शुक्रिया। लगातार उजड़ते हुए भी जो अपनी जीवटता के कारण मेरी चेतना में बना हुआ है। यहाँ के परिवेश और आदिवासी जीवन ने मुझे चाहे-अनचाहे गढ़ते रहने का काम किया है। शुक्रिया डूमरचीर, शुक्रिया अमड़ापाड़ा। बहुत दिन हुआ गए ...अब जाउँगा।

(राजीव कुमार)

प्रस्तावना

सन् 1980 और 1990 से विभिन्न अस्मितावादी आंदोलनों का उभार हिन्दी संसार एवं साहित्य के भीतर दिखाई देने लगता है। ये सभी आन्दोलन अस्मिता को केंद्र में रखकर विकसित हो रहे थे। ये सभी आन्दोलन वर्षों से दबाए और विकृत किए गए पहचान को पुनर्प्रतिष्ठित और पुनर्परिभाषित करने के लिए प्रतिबद्ध थे। इनका स्पष्ट मानना था कि उनकी अस्मिता को 'अन्यीकरण' का शिकार होना पड़ा है। हम जानते हैं कि किसी भी 'अस्मिता' या 'आत्म-पहचान' का सवाल अन्यीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा होता है। 'आत्म-पहचान' या 'अस्मिता', 'अन्य' के बिना निर्मित नहीं हो सकती। अंग्रेजों ने भी भारत पर आधिपत्य ज़माने के बाद भारतीय लोगों का अन्यीकरण करना शुरू किया था। उन्होंने भारतीयों को असभ्य और संस्कृति विहीन बताया। पूरी दुनिया को यह बताया कि वे भारत पर शासन करने नहीं आए बल्कि भारत के लोगों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने आए हैं। तभी भारतीय अस्मिता का प्रश्न उस समय एक बड़ा प्रश्न बन गया था, जिसका आजादी की लड़ाई से भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध था।

आज के समय में अस्मिता या पहचान के संघर्ष का सम्बन्ध इस देश की पूँजीवादी-ब्राह्मणवादी-पितृसत्तात्मक व्यवस्था से है । इस व्यवस्था ने आज के आधुनिक समय में भी विभिन्न समुदायों को बराबरी का हक प्राप्त नहीं होने दिया है । संविधान प्रदत्त अधिकारों की प्राप्ति के लिए भी अधिकांश आबादी को संघर्ष करना पड़ता है । लोकतांत्रिक व्यवस्था होने के बावजूद जाति के नाम पर एक बहुत बड़े समुदाय को वंचना और प्रताड़ना का लगातार शिकार होना पड़ा है । इसी तरह महिलाओं के साथ लैंगिक आधार पर होने वाले शोषण और अत्याचार की संख्याओं में भी उल्लेखनीय कमी नहीं आई है। आदिवासी और अल्पसंख्यकों और किसानों की स्थिति बिगड़ती गई है। समाज में विषमता की खाई कम होने की जगह बढ़ती गई है।

वर्षों से चली आ रही अन्यीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप विभिन्न अस्मिताओं का उदय होता है। इन अस्मिताओं का छिट-पुट संघर्ष आज़ादी पूर्व से चलता रहा है परन्तु एक विशेष कालखण्ड में यह आंदोलनात्मक रूप अपना लेते हैं।

इसी का परिणाम है कि हिंदी साहित्य और आलोचना में विभिन्न विमर्शों की आवाज़ सुनाई देने लगती है। इस अन्यीकरण की प्रक्रिया के कारण दलितों को अमानवीय स्थिति में जीवन बिताने को अभिशप्त होना पड़ा। आदिवासियों को दानव कहा गया और विकास के नाम पर विस्थापित और शोषित किया गया। स्त्री-सुधार के तमाम कथित प्रयासों के बावजूद स्त्रियों को पितृसत्ता के अधीन रहना पड़ा है। मुस्लिम समुदाय भी शिक्षा और विकास की धारा से अलग एक घेटो में ही सिमटता गया है। ऐसे में इन स्थितियों के विरुद्ध उठी आवाजें अस्मितावादी आन्दोलन के रूप में समाज से चलकर साहित्य तक पहुँची। इससे साहित्य के विषयों और अनुभवों का विस्तार होना शुरू होता है।

नए अनुभवों पर आधारित रचनाएँ साहित्य की दुनिया का तो विस्तार करती ही हैं, आलोचना का स्वरूप भी तदनुसार परिवर्तित होता है। हिंदी आलोचना की परम्परा इस बात का प्रमाण है कि बदलते साहित्य के साथ आलोचना की पद्धति और प्रतिमान भी बदले हैं। इस शोध-कार्य में अस्मितावादी आलोचना पर विचार करने का सम्बन्ध इन्हीं सन्दर्भों से है। यहाँ विभिन्न अस्मितावादी आलोचना की प्रकृति एवं प्रवृत्ति पर विचार करने का प्रयास किया जाएगा। अस्मितावादी आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियों की पहचान के साथ उनकी सीमाओं पर भी विचार करने का प्रयास किया जाएगा। उन चुनौतियाँ पर गहनता से विचार-विमर्श करने का प्रयास किया जाएगा, जिन्हें हल करना अस्मितावादी आलोचना के लिए बेहद आवश्यक है।

गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने अपने प्रसिद्ध लेख 'कैन सबल्टर्न स्पीक' में यह सवाल उठाया था कि क्या चुप करा दिए गए, बेआवाज तबके अपनी आवाज बुलंद कर सकते हैं ? इसी सन्दर्भ में यह सवाल भी बार-बार उठाया है कि कौन बोल सकता है और किसके लिए ? इसका दूसरा पहलू यह है कि ऐसे तबकों को आवाज उठाना ही चाहिए। अस्मितावादी आलोचना पर विचार करते हुए यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि 'आत्म' की पहचान को स्थापित करने के क्रम में वह कहीं स्वयं उस अन्यीकरण की प्रक्रिया का तो शिकार नहीं हो जा रहा ? ऐसा न हो कि अस्मिता के संघर्ष में जो वास्तविक 'अन्य' है वह पीछे छूट जाएँ। व्यवस्था द्वारा प्रातिनिधिकता के

नाम पर कई बार अन्दोलनों को असफल बनाने का प्रयास किया जाता है या भटकाव का शिकार बना दिया जाता है।

अस्मितावादी आलोचना का मुख्य कार्य अन्यीकरण की प्रक्रिया को सामने लाना है। इसलिए यह विचारणीय है कि दमितों की आवाज प्रातिनिधिकता के नाम पर मलिन तो नहीं हो जा रही ? लोकतांत्रिक व्यवस्था में कई बार विभिन्न समुदायों को नाम मात्र का प्रतिनिधित्व दे दिया जाता है और इसे उस पूरे समुदाय की उन्नति से जोड़कर दिखा दिया जाता है। ऐसा होने के पीछे सिर्फ व्यवस्था जिम्मेदार नहीं होती बल्कि उस वर्ग के कथित प्रतिनिधि भी जिम्मेदार होते हैं। इसलिए अस्मितावादी आलोचना के अंतर्विरोधों को भी इस शोध-कार्य में विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा।

अक्सर किसी अस्मिता को अपरिवर्तनीय और आधारभूत विशेषताओं से युक्त मान लिया जाता है। जैसे दलित अस्मिता को अनिवार्यतः एक जाति विशेष से जोड़कर देखा जाता है। अगर कोई दलित पूँजीपति भी बन जाता है तो उसकी दलित अस्मिता को अक्षुण्ण माना जाता है। यह एक गंभीर संकट को जन्म देता है। इससे दलित अस्मिता के अंतर्गत अन्यीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। यह समझने की जरूरत है कि अस्मिता का प्रश्न तो न्यायसंगत है किन्तु अस्मिता की अपरिवर्तनीय प्रभुता पर भी सवाल उठाया जाना चाहिए। इसके अभाव में लोकतांत्रिक अधिकारों की पुनर्प्रतिष्ठा की जगह उसका अवमूल्यन ही जारी रहेगा।

दलित ही दलित पर लिख सकता है या स्त्री ही स्त्री के बारे में लिख सकती है, का सवाल अस्मिता की प्रभुता से जुड़ा सवाल है। इससे उन अंतर्विरोधों पर खुलकर विचार नहीं हो पाता है, जो इन अस्मितावादी विमर्शों के भीतर मौजूद होते हैं। यह वैसा ही है कि भारतीय अस्मिता पर बात करते हुए कोई उसके अंतर्गत मौजूद जाति, धर्म, लिंग, भाषा आदि के आधार पर हो रहे शोषण पर विचार नहीं कर सकता। लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए होने वाले आन्दोलनों का चरित्र भी लोकतांत्रिक होना अनिवार्य है। यह समझना आवश्यक है कि अस्मिता या पहचान का संघर्ष स्वायत्त या

अंतिम नहीं है। इसी सन्दर्भ में अस्मितावादी आलोचना पर विचार करने का प्रयास किया जायेगा।

यह शोध-कार्य अस्मितावादी-आलोचना की क्षमताओं एवं सीमाओं को जानने का विनीत प्रयास है। इसलिए यहाँ उन अस्मिताओं के आलोचना पर विचार किया गया है जिनकी आलोचना विकसित हो पाई है। यहाँ पर विचारित अस्मिताओं के अतिरिक्त भी समाज में कई तरह की अस्मिताएं मौजूद हैं। उन पर आधारित साहित्य भी लिखा जा रहा है परन्तु शोध का विषय आलोचना का क्षेत्र होने से उन अस्मिताओं पर विचार करना संभव नहीं हो पाया है।

अस्मितावादी आलोचना के आगमन से हिंदी आलोचना का चरित्र बदला है। नए विषयों के साथ नए प्रतिमान भी शामिल हुए हैं। इसलिए विभिन्न अस्मितावादी आलोचना की परम्परा पर विचार करते हुए उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित करने का प्रयास किया जाएगा। इसके साथ ही अस्मितावादी आलोचना की चुनौतियों पर भी गंभीरता से विचार करने का प्रयास किया जाएगा। किसी भी रचना या आलोचना का मूल्यांकन समग्रता में होना चाहिए। आलोचना स्वयं आलोचना की संस्कृति की समर्थक है तो अस्मितावादी आलोचना की आलोचना भी आवश्यक है, तभी यह शोध-कार्य सम्पूर्ण हो पाएगा।

प्रथम अध्याय

1. हिन्दी आलोचना की परम्परा में दलित दृष्टि

समकालीन हिन्दी आलोचना और अस्मितावादी आलोचना के संबंध पर विचार करने के लिए हिन्दी आलोचना की परम्परा में दलित दृष्टि की उपस्थिति को रेखांकित करना आवश्यक है। इस दृष्टि से हिन्दी आलोचना की परम्परा पर विचार किए बिना समकालीन हिन्दी आलोचना को नहीं समझा जा सकता। दलित विमर्श का महत्त्व सिर्फ समकालीन हिन्दी आलोचना तक सीमित नहीं होना चाहिए। यह विमर्श हमें इतिहास की पुनर्व्याख्या के लिए भी आमंत्रित करता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अंतर्गत आलोचना के इतिहास पर भी विचार होना चाहिए। ऐसे में दलित शब्द के अर्थ को व्यापक सन्दर्भों में समझने का प्रयास जरूरी है। तभी हम दलित अस्मिता और जाति प्रश्न की ऐतिहासिकता को समझ सकते हैं। आम तौर पर दलित शब्द का अर्थ अनुसूचित जाति विशेष तक सीमित कर दिया जाता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री घनश्याम शाह के अनुसार "दलित मराठी, गुजराती, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का एक प्रचलित शब्द है जिसका अर्थ है गरीब और उत्पीड़ित।"[1] घनश्याम शाह दलित शब्द के साहित्य और आन्दोलन विशेष के सन्दर्भ में प्रयोग होने वाले अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "आन्दोलन और साहित्य के साथ दलित शब्द जोड़ने से फ़ौरन एक भिन्न समझ का सम्प्रेषण होता है।"[2] उनके अनुसार इस विशिष्ट सन्दर्भ में दलित शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अम्बेडकर के नवबौद्ध अनुयायियों ने किया था। इलिनियर जिलियट के हवाले से उन्होंने लिखा है, "इस शब्द में अन्तर्निहित था कि : जिसे तोड़ दिया गया है और जिसे उसके सामाजिक दर्जे से ऊपर बैठे लोगों ने जान-बूझ कर नियोजित रूप से कुचल डाला है। इस शब्द में छुआछूत, कर्म सिद्धांत और जातिगत श्रेणीक्रम का नकार निहित है।"[3] अर्थात् सामाजिक आधार पर चल रहे वर्चस्व के खिलाफ अपनी अस्मिता को निर्मित करने का प्रयास इसमें निहित है। इसके लिए समाज के साथ साहित्य के क्षेत्र में भी व्यापक स्तर पर संघर्ष दिखाई पड़ता है। इसे हिंदी आलोचना के अंतर्गत रेखांकित करने का प्रयास इस शोध-कार्य के केन्द्र में है।

---

[1] अभय कुमार दुबे (संपा.), आधुनिकता के आईने में दलित, घनश्याम शाह का लेख- 'अस्मिताओं का सहअस्तित्व', पृ. सं. 196

[2] उद्धृत, वही, पृ. सं. 196

किसी भी विचार परम्परा में सामाजिक न्याय के विचार को महत्त्व देना अत्यंत आवश्यक होता है। यदि आज दलित साहित्य और उस पर आधारित आलोचना दलितों के प्रति हुए अन्याय को स्वर दे रहे हैं तो उसके सभी सन्दर्भों को समझना आवश्यक हो जाता है। दलितों के प्रति हुए अवमानना को सामाजिक इतिहास के साथ साहित्यिक इतिहास में भी रेखांकित करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध समाजशास्त्री गोपाल गुरू का यह प्रश्न साहित्यिक और सामाजिक दोनों रूप से विचारणीय प्रतीत होता है कि "आखिर वह कौन सी सामाजिक परिस्थिति हो सकती है जिसमें अवमानना का पूरी तरह उन्मूलन किया जा सकता है।"[1]

अवमानना के सम्पूर्ण उन्मूलन पर व्यापक तौर पर दलित विमर्श के अंतर्गत विचार किया जा रहा है। यह विचार पद्धति कई बार स्वायत्त विमर्श की तरफ जाती दिखाई पड़ती है। इसका कारण इसे इतिहास से काट कर देखे जाने की वह दृष्टि है जो इसकी ऐतिहासिकता को भक्तिकालीन साहित्य से जोड़ती है किन्तु हिन्दी आलोचना की परम्परा की उपेक्षा करती है। यह समझे जाने की आवश्यकता है कि "किसी भी जाति की अस्मिता का बुनियादी कार्य है उस जाति को स्वयं द्वारा एक इतिहास देना।"[2] इतिहास निर्मित करने की यह प्रक्रिया इकहरी नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित अस्मिता की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए हिन्दी आलोचना के इतिहास में भी दलित दृष्टि का रेखांकन आवश्यक प्रतीत होता है।

दलित अस्मिता को रेखांकित करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं, "भारत में जैसे दलित आन्दोलन के अनगिनत चरण रहे हैं वैसे ही दलित साहित्य के भी। समता और सम्मान के लिए समय-समय पर आरम्भ हुए आन्दोलन ने साहित्य तथा साहित्यकारों को ऊर्जा दी, उन्हें विकट और विषम परिस्थितियों से जूझना सिखाया।"[3] मोहनदास नैमिशराय की तरह अन्य दलित आलोचक और साहित्यकार यह स्वीकार करते हैं कि दलित साहित्य कई चरणों से गुजरता हुआ वर्तमान रूप में निर्मित हुआ है। दलित साहित्य की ऐतिहासिकता के निरूपण का प्रयास भी दलित साहित्यकारों एवं आलोचकों द्वारा किया गया है। ऐसे में हिन्दी

---

[1] अभय कुमार दुबे (संपा.), आधुनिकता के आईने में दलित, गोपाल गुरू का लेख- 'अवमानना के आयाम', पृ. सं. 113

[2] प्रणय कृष्ण, विमर्श और आलोचना, पृ. सं. 34

[3] मोहनदास नैमिशराय, हिंदी दलित साहित्य, पृ. सं. 317

आलोचना के क्षेत्र में ऐसे प्रयासों का न होना आश्चर्यचकित करता है । दलित साहित्य हिंदी साहित्य का अद्यतन अध्याय है। ऐसे में हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित साहित्य के विभिन्न चरणों की पहचान के साथ हिन्दी आलोचना के अंतर्गत भी ऐसे प्रयास आवश्यक हैं। हिन्दी आलोचना की परम्परा से इतर दलित अस्मितावादी आलोचना को देखने का प्रयास दलित विमर्श की व्यापकता को सीमित कर सकता है । भाषा, साहित्य और आलोचना का सम्बन्ध निरन्तर विकसित होता चलता है, ये तीनों परस्पर से प्रभावित होती रहती हैं।

अतः हिन्दी के दलित विमर्श या दलित आलोचना पर विचार करते हुए हिन्दी आलोचना की परम्परा के अंतर्गत जाति प्रश्न पर हुए विचारों को रेखांकित किया जाना चाहिए । उस आलोचना परम्परा को समझते हुए ही सही अर्थों में दलित आलोचना या विमर्श का विकास संभव हो सकता है। हिन्दी आलोचना की विकास-यात्रा को समझते हुए ही अस्मितावादी विमर्श की उपस्थिति के महत्त्व को समझा जा सकता है। यहाँ हिन्दी आलोचना की समूची परंपरा की पड़ताल करना उद्देश्य नहीं है बल्कि हिन्दी के प्रमुख आलोचकों के हवाले से हिन्दी आलोचना में जाति-प्रश्न और दलित-दृष्टि की स्थिति और उपस्थिति पर विचार करना है । इसलिए हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचकों के आलोचना-संसार में उपस्थित दलित-दृष्टि की स्थिति को जानने का प्रयास किया जाएगा।

1.1 रामचंद्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना पर किसी भी तरह की गंभीर चर्चा रामचंद्र शुक्ल के बिना संभव नहीं है । जैसा कि हम जानते हैं बालकृष्ण भट्ट, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्मित और विकसित आलोचना को रामचंद्र शुक्ल ने पहली बार व्यवस्थित रूप प्रदान किया। साहित्य के साथ आलोचना के गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्त्व का बोध सर्वप्रथम रामचंद्र शुक्ल ने विकसित किया।

आज जिस तरह से दलित विमर्श पर विचार किया जा रहा है उस तरह से रामचंद्र शुक्ल ने निश्चित रूप से विचार नहीं किया है। इसके बावजूद निर्गुण-मत, कबीर, रैदास, दादू आदि पर विचार करते हुए, इससे संबंधित विषयों पर अपने कुछ विचार अवश्य प्रकट किए हैं । उन्होंने अपने इतिहास-ग्रन्थ के अंतर्गत पूर्व-मध्यकाल : भक्तिकाल (सं 1375-1700), प्रकरण-एक में लिखा है, “इसमें कोई

संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुणपंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।"[1]

इस उद्धरण से हम समझ सकते हैं रामचंद्र शुक्ल कबीर की महत्ता को स्वीकार तो करते हैं, परंतु उनका रूख बहुत सकारात्मक नहीं है। इसी कारण वह जोर देकर लिखते हैं, 'उनका निर्गुणपंथ चल निकला'। कबीर ने कोई पंथ चलाने का निर्णय किया था या नहीं इस पर विचार करने की आवश्यकता है परंतु निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाने के कार्य को रामचंद्र शुक्ल कबीर की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते हैं। आज भी दलित विमर्श कबीर से अपनी परंपरा को इसलिए जोड़ पाता है क्योंकि कबीर निम्न श्रेणी की जनता (जाहिर है उसमें अधिकांशतः दलित और दमित जाति एवं वर्ग के लोग आते हैं) में आत्मगौरव का भाव जगा पाने में सक्षम हैं।

रामचंद्र शुक्ल कबीर के इस ऐतिहासिक योगदान के महत्त्व को इसलिए स्वीकारते हैं क्योंकि इसी कारण निम्न श्रेणी की जनता सगुण भक्ति की तरफ उन्मुख हुई। उनकी दृष्टि में भक्ति का ऊँचा सोपान संभवतः यही था। रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "इन संतो के ईश्वर ज्ञान स्वरूप और प्रेम स्वरूप ही रहे, धर्म स्वरूप न हो पाए। ईश्वर के धर्मस्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर, जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है, प्राचीन वैष्णव भक्तिमार्ग की रामभक्ति शाखा उठी। कृष्णभक्ति शाखा केवल प्रेमस्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।"[2] स्पष्ट है कि रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा की तुलना में उन्हें निर्गुण भक्ति शाखा कम महत्त्वपूर्ण लगती थी।

रामचंद्र शुक्ल के विश्लेषण में अंतर्विरोध स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वे निर्गुण मत के महत्त्व को अस्वीकार भी नहीं कर पाते और उनके सामाजिक अवदान को स्वीकार भी नहीं कर पाते। निर्गुण भक्तिधारा का विरोध करते हुए भी उनके महत्त्व

[1] रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. सं. 36

[2] वही, पृ. सं. 36

को रेखांकित करना नहीं भूलते। यथा "यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्राह्मणवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह 'निर्गुणपंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जाने वाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच-नीच और जाति-पांति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था।"[1]

अर्थात् उस समय के समाज में जाति के आधार पर भेदभाव मौजूद था। नीची समझी जाने वाली जातियों को जाति के आधार पर अपमान और अन्याय का शिकार होना पड़ता था। इसका नकार निर्गुणपंथ के संत कवि कर रहे थे परंतु रामचंद्र शुक्ल के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था। निर्गुण मत को मानने वाले कवियों का चिंतन उन्हें धर्मस्वरूप नहीं प्रतीत होता था। इसलिए इनका महत्त्व लोकरक्षक राम एवं लोक-रंजक कृष्ण की भक्ति करने वालों की तुलना में कम महत्त्व का था। इसके बावजूद कबीर की कविता की शक्ति और उसके सामाजिक महत्त्व को स्वीकार करते हैं। कबीर के बारे में विचार करते हुए वे लिखते हैं, "उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम रहीम की एकता समझा कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।"[2] परंतु इसकी अगली ही पंक्ति में लिखते हैं, "यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं।"[3] कबीर का पढ़ा लिखा न होना उन्हें निराश करता है तो कबीर की प्रतिभा उन्हें चमत्कृत करती है। इसके बावजूद उनके विश्लेषण से पता चलता है कि बाह्याचारों और कर्मकांडी पंडितों-मुल्लाओं की कबीर द्वारा की जाने वाली आलोचना उन्हें उत्साहित करती थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच का कृत्रिम विभेद रामचंद्र शुक्ल को कतिपय प्रीतिकर नहीं था। उनकी इस दृष्टि को दलित-दृष्टि न भी कहें तो मानवतावादी दृष्टि तो कहा ही

---

[1] रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. सं. 36

[2] वही, पृ. सं. 44

[3] वही, पृ. सं. 44

जा सकता है। दलित अस्मिता का प्रश्न भी मूलतः मानवतावाद पर ही आधारित है।

रामचंद्र शुक्ल की निर्गुण पंथ की आलोचना शिक्षित जनता और शिक्षित कवियों पर आकर ठहर जाती है। इसे हम एक बड़े आलोचक की अपनी सीमा भी मान सकते हैं। कबीर का पढ़ा लिखा न होना उन्हें जहाँ दुःखी एवं निराश करता है वहीं सुंदरदास का शिक्षित होना ही, उनकी नजर में सुंदरदास को निर्गुणपंथ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि बना देता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा, "निर्गुणपंथियों में यही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। ...संत तो ये थे ही पर कवि भी थे।"[1] किसी रचना के साहित्यिक और सरस होने को प्रमाणित करने वाली रामचंद्र शुक्ल की यह कसौटी थोड़ी विवादपूर्ण है। इसी आधार पर वे न सिर्फ कबीर को बल्कि समस्त निर्गुणमार्गी कवियों को ही नकारे जाने का प्रस्ताव रखते हैं, "जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं, जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी वाणी अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है, उसमें मानव जीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जन समाज को आकर्षित कर सके।"[2]

इस तरह से तो रामचंद्र शुक्ल की मानवतावादी दृष्टि पर भी सवाल खड़ा हो सकता हैं परंतु उनके एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परंतु किंचित अचर्चित लेख 'जाति-व्यवस्था' का संज्ञान यहाँ पर जरूरी प्रतीत हो जाता है। 'जाति-व्यवस्था' नामक लेख रामचंद्र शुक्ल के निबंधों का संग्रह 'चिंतामणि' भाग-4 में पहली बार शामिल होता है। यह मूल रूप से अंग्रेजी में लिखा गया है एवं अपूर्ण भी है। अनुमानित तौर पर 1924 ई. में लिखे गए इस लेख में रामचंद्र शुक्ल 'जाति-व्यवस्था' की कई बुनियादी खामियों की तरफ इशारा करते हैं। इस लेख की पहली पंक्ति है, "जाति संस्था ने प्रजाति की शुद्धता को सुरक्षित रखने का असफल प्रयत्न किया है।"[3] जाति व्यवस्था की अभिशप्तता को रेखांकित करने का प्रयास जिस तरह से

[1] रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. सं. 48-49

[2] वही, पृ. सं. 51

[3] ओमप्रकाश सिंह (संपा.),आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली-4, पृ. सं. 202

आधुनिक दलित आलोचकों ने किया है, लगभग उसी स्वर में रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "जाति व्यवस्था के विरूद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इसने मनुष्य का स्तरों और श्रेणियों में रूढ़ विभाजन कर दिया है ।"[1] लगभग चुनौती देते हुए स्वर में वह इस सोपानबद्ध जाति व्यवस्था का विरोध करते हुए जाति व्यवस्था के समर्थकों की यह कहकर भर्त्सना करते हैं कि समर्थक-सदस्य इस रूढ़ व्यवस्था को ठीक नहीं कर सकते । मनुष्य-मनुष्य का यह विभेद, रामचंद्र शुक्ल को तनिक भी स्वीकार्य नहीं है । तभी तो वह हर जाति द्वारा अपने से नीची जाति ढूँढ़ने की अभिशप्त रीति के सूत्रपात का जिम्मेदार ब्राह्मणवाद को मानते हैं, "कुलीन और ऊपर से दैवीय कहे जाने वाले ब्राह्मण अन्य सबको हेय दृष्टि से देखते हैं । क्रमशः प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति को तुच्छ समझती है ।"[2] अपने से तथाकथित नीची जाति को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति ही जाति व्यवस्था एवं ब्राह्मणवाद को खाद-पानी देने एवं मजबूती से जिलाए रखने का कार्य करती है । "इस प्रकार जाति व्यवस्था हार्दिक सहयोग या प्रतिक्रिया, प्रेम, विश्वास और परस्परिक प्रभाव या आचरण की स्वतंत्रता के अवरोध का कारण बनती है ।"[3] रामचंद्र शुक्ल सच्चे राष्ट्रवादी थे जिनका राष्ट्रवाद किसी अंधी या भ्रांतिमूलक अवधारणा पर अवलम्बित नहीं था बल्कि जीवित लोगों एवं उनके सुख-दुःख को केंद्र में रखकर चलता था । तभी तो वे 'जाति-व्यवस्था' को समुचित रूप से समाप्त करने की अनिवार्यता पर जोर देते हैं, "इसे (जाति व्यवस्था) यदि समाप्त नहीं किया गया तो भारतीय संस्कृति और शिष्टता, राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति की मृत्यु निश्चित है ।"[4]

आजादी प्राप्ति के बाद उनकी यह बात ज्यादा अच्छी तरह से सच साबित हुई । रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि में मनुष्य केंद्र में है । तभी तो वह समझ सके कि जाति- व्यवस्था कर्म पर आधारित न होकर जन्म के वैशिष्टय पर आधारित है । "वे कर्म के आधार पर नहीं जन्म के वैशिष्टय से ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं और जब तक वे इस वैशिष्टय का उपयोग करते हैं तब तक किसी अन्य के वैशिष्टय या अच्छाई के बारे में बिल्कुल नहीं सोचते ।"[5] इस संदर्भ में उनका यह विचार कि

---

[1] ओमप्रकाश सिंह (संपा.), आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली-4, पृ. सं. 202

[2] वही, पृ. सं. 202

[3] वही, पृ. सं. 202

[4] वही, पृ. सं. 202

[5] वही, पृ. सं. 202

हर व्यक्ति के लिए उसकी जाति ही पहली और अंतिम सच्चाई है, समसामयिक वास्तविकता प्रतीत होती है। उन्होंने लिखा, "ऐसे व्यक्ति मनुष्य-मनुष्य के मध्य बन्धुत्व की भावना से रहित होकर अपनी ही जाति या वर्ग की उन्नति में रूचि लेते हैं। उनका आदर्श वाक्य है- हमारी जाति प्रथम हमारी जाति अंतिम।"[1] मिथ्या विभाजनों पर अवलम्बित इस भ्रांतिपूर्ण एवं अन्यायी व्यवस्था के कर्णधारों की राजनीति को भी वे बखूबी समझते हैं। उन्होंने लिखा है, "वे निर्धन पददलितों की कीमत पर खुद को समृद्ध करते हैं, आनन्द लेते हैं और अज्ञानी जनसमूह की सामान्य भ्रांतियों को बढ़ाते हैं। इससे भी अधिक ये पंडित अनुशासन या शासन के नाम पर उनके लिए हर प्रकार की गालियाँ और अनाप शनाप बकवास रचते हैं।"[2]

रामचंद्र शुक्ल की यह व्यावहारिक आलोचना उन्हें दलित विमर्श के आज के आलोचकों की कतार में शामिल कर देती है। सामान्य तौर पर ऐसा तेवर उनकी भाषा में कम ही दिखाई पड़ता है। असल में वे जाति के दंश को राष्ट्र-दंश के रूप में देखते थे। वे चाहते थे कि उनका देश भी सभ्यता के उच्चतर सोपानों को हासिल करे परंतु जाति व्यवस्था सबसे बड़ी बाधा के रूप में सम्मुख खड़ी थी। "...सभ्यता के अभियान में योरप और अमेरिका के साथ सम्मानपूर्वक टिके रहने के लिए भारत अपना उचित अंश प्राप्त करे। मार्ग में बाधा की तरह उपस्थित होकर जाति व्यवस्था हमें जीवन की आधुनिक अवस्थाओं की इन आवश्यकताओं के साथ सहज अनुकूलन नहीं करने देती।"[3]

आज तक जाति व्यवस्था का दंश हमें ऐसे किसी अभियान में शामिल नहीं होने देता। सामाजिक प्रगति की दृष्टि से हम लगातार पिछड़ते गये हैं। क्योंकि "एक अच्छा समाज समग्रता में सुसंबद्ध होता है- विभाजित या उपविभाजित रूप में नहीं, जैसा कि वर्तमान में है। यहाँ कुछ बुद्धिमान व्यक्तियों को दी गई सत्ता और उनके द्वारा उसका दुरूपयोग, कर्तव्य और उत्तरदायित्त्व के भाव को, यथार्थ और सौंदर्य के संपूर्ण बोध को मंद कर देता है फिर पाश्चात्य सभ्यता की बराबरी कैसे हो ?"[4] रामचंद्र शुक्ल की यह बात आज भी शब्दशः सत्य प्रतीत होती है।

---

[1] ओमप्रकाश सिंह (संपा.), आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली-4, पृ. सं. 202

[2] वही, पृ. सं. 203

[3] वही, पृ. सं. 203

[4] वही, पृ. सं. 203

1.2 हजारीप्रसाद द्विवेदी

रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना को समुचित गति देने का कार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित हुआ। हिन्दी साहित्य को भारतीय चिंतन का स्वाभाविक विकास मानने के क्रम में उन्होंने दलित और दलित जातियों एवं वर्गों पर गहनता से विचार किया है। हिन्दी साहित्य को वह हतदर्प पराजित हिन्दू जाति की संपत्ति मानने का प्रत्याख्यान करते हुए लिखते हैं, "...क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं, बल्कि आवश्यक ज्ञातव्य वस्तु है।"[1] साहित्य को मानवता की प्रगति के साथ देखने का निवेदन किसी भी साहित्य, समाज या शोध कार्य के लिए बेहद आवश्यक है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत आज भी किसी प्रकार के अनुसंधान के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की चिंता के केंद्र में वर्षों से कुचले हुए जो मनुष्य हैं; कबीर उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दलित साहित्य के उत्थान के साथ ही यह बहस लगातार चर्चा में रही है कि दलितों द्वारा दलित साहित्य लिखा जाना उसकी प्रामाणिकता को कितना प्रभावित करता है ? दलित साहित्य के उत्थान और विकास के कई कारणों पर भी लगातार विचार होता रहा है। 1950 के दशक में लिखी गई 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में अपने तईं हजारीप्रसाद द्विवेदी भी कबीर के संदर्भ में ऐसी ही एक चुनौती को समझने का प्रयास कर रहे थे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "कबीरदास के जाति-पाँति विरोधी विचारों को देखकर बहुत से लोगों की यह धारणा होती है कि कम-से-कम यह बात कबीरदास में मुसलमानी प्रभाव के कारण आई है। किसी-किसी पंडित को तो यह शंका भी हुई है कि ये बातें मुसलमानी धर्म के प्रचार में हथकंडे हैं और कुछ लोग मुसलमानी आदर्श के प्रति कबीरदास की गहरी निष्ठा का प्रमाण इन्हीं बातों में बताते हैं। यह युक्तियाँ कुछ जँचती-सी नहीं जान पड़तीं। जाति वर्णन के भेद से जर्जरीभूत इस देश में जो कोई महासाधक आया है, उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें जातिभेद को उड़ा देने पर जोर दिया गया है, पर

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 15

संस्कृत की पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियों के लोगों द्वारा लिखी गई होती हैं, जिनमें लेखक केवल तटस्थ विचार की भाँति रहता है। स्वयं नीच कहे जाने वाले वंश में उत्पन्न नहीं होने के कारण उनमें भुक्त-भोगी की उग्रता और तीव्रता नहीं होती।"[1] अर्थात् जाति प्रथा को हजारीप्रसाद द्विवेदी देश को जर्जर करने वाला कारण मानते थे। देश को मजबूत और सुसंपन्न बनाने के लिए वे इस प्रथा का विनाश चाहते थे। इसलिए इस बेहद सुसंगठित और जटिल व्यवस्था पर जिसने भी आक्रमण किया, वे हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, चाहे वे अश्वघोष हों, सरहपा हों या फिर स्वयं कबीर।

हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सन्दर्भ में एक बहुचर्चित प्रश्न भी उठाते हैं। यह प्रश्न समकालीन आलोचना का बहु-विचारित प्रश्न रहा है कि दलित साहित्य का सर्जक कौन हो सकता है ? स्वयं दलित ? या गैर दलितों की रचनाओं को भी प्रामाणिक माना जाएगा ? हजारीप्रसाद द्विवेदी इस उद्धरण में बताते हैं कि गैर दलित जातियों द्वारा दलितों के बारे में तटस्थ भाव से लिखा जा सकता है। यह अवश्य है कि स्वयं भुक्त-भोगी नहीं होने के कारण ऊँची कही जाने वाली जातियों द्वारा लिखे गए साहित्य में उग्रता और तीव्रता का अभाव होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह निष्कर्ष कई तरह के सवालों को हमारे सामने उपस्थित कर देता है। ऐसा लगता है जैसे वह भी कई सारे सवालों के जवाब का सामान्यीकरण कर रहे हैं। जैसे नीची कही जाने वाले जाति का रचनाकार ही प्रामाणिक रूप से दलितों के बारे में लिख सकता है। उग्रता और तीव्रता इस तरह के साहित्य के प्राण-तत्व हैं, इसके बिना दलितों पर लिखा जाने वाला साहित्य प्रामाणिक नहीं हो सकता। बिल्कुल इसी तरह के विचार समकालीन आलोचना के कई सारे दलित विमर्शकारों का भी है। ऐसे में हमें हजारीप्रसाद द्विवेदी के इन मतों का संजीदगी से अध्ययन करना होगा। इसी प्रसंग में हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "फिर भी उच्च वर्ग के लोगों ने सदा तटस्थता का ही अवलंबन नहीं किया। कभी-कभी उन्होंने भी उग्रतम आक्रमण किया है। अश्वघोष (कालिदास के पूर्ववर्ती कवि) की लिखी हुई वज्रसूची एक ऐसी ही पुस्तक है। सरोरूहपाद (सरहपा) नामक सहजयानी सिद्ध जाति व्यवस्था के भयंकर विरोधी थे। वे कहते हैं- 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे; जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा हो

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 42

रहे हैं, तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ।"[1] "इसी प्रकार शिवोपासक योगियों के संबंध में सरोरूवज्र कहते हैं- 'ये शिव (ईश्वर) के भक्त शरीर में राख मलते हैं, सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घर में बैठे रहते हैं और ईशान कोण में बैठकर घंटा बजाया करते हैं, आसन बाँधकर आँख मूँदा करते हैं और लोगों को नाहक धोखा देते हैं।"[2]

इस तरह हजारीप्रसाद द्विवेदी यह बताते हैं कि "इन खंडनों का स्वर एकदम वही है जो कबीरदास का। अंतर इतना ही है कि कबीर के युग में अवस्था और जटिल हो गई थी। उन्हें मुसलमानों, हिन्दुओं, योगियों और इन सिद्धांतों तथा इनके साधकों-सबसे एक-एक हाथ लड़ लेना था।"[3] अर्थात् प्रतिबद्धता अगर है तो प्रामाणिकता अंतर्निहित होती है। इसी प्रकार आगे जब वह रैदास की चर्चा करते हैं तब यह प्रमाणित हो जाता है कि नीची समझे जाने वाली जातियों का साहित्य सिर्फ भुक्तभोगियों की उग्रता और तीव्रता का साहित्य नहीं होता।

मध्यकाल में शास्त्र का ज्ञान, वेद-पुराण का ज्ञाता होना श्रेष्ठता का परिचायक था। आज भी श्रेष्ठता का यह भाव किसी न किसी रूप में भारतीय समाज में मौजूद है। हजारीप्रसाद द्विवेदी इससे अलग स्थापना हमारे सामने रखते हैं। उनका मानना है कि इस तरह के किसी भार से मुक्त होने के कारण ही नीची कही जानेवाली जातियों का साहित्य महान् है। उनके अनुसार "कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञान-हीन, सुनी-सुनाई बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिए और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास ने जान-बूझकर उनकी अवहेलना की थी ! सच पूछा जाए तो शास्त्रज्ञान, तत्वज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी-कभी तो उस युग की तथोक्त नीच जातियों में से आए महापुरूषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारों से वंचित रहने के कारण ही वे सब जगह से सहज सत्य को सहज ही ले सकते थे।"[4]

---

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 42-43
[2] वही, पृ. सं. 43
[3] वही, पृ. सं. 43
[4] वही, पृ. सं. 46

इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में अगर दलित लेखन और आन्दोलन सामने आता तो वह इसे प्रशंसा की दृष्टि से देखते। दलित तबके के रचनाकारों को हजारीप्रसाद द्विवेदी जीवन और सच्चाई के करीब का रचनाकार मानते थे। तथाकथित उच्च जातियों के तथाकथित ऊँचे संस्कारों की जगह वह निम्न समझी जाने वाली जातियों के सहज सत्य के निकट होने और उसे उसी सहजता से प्रकट करने को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते थे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी जाति की समस्या को हिन्दू समाज की सबसे बड़ी समस्या के रूप में रेखांकित करते थे। कबीर इस प्रथा का जोरदार विरोध करते थे। इसी कारण कबीर हजारीप्रसाद द्विवेदी को अपने समय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाकार प्रतीत होते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार "सांप्रदायिक शास्त्र-ज्ञान को अधिक महत्त्व देने वाले पंडितों को कभी-कभी कबीर की उक्तियों में उजड्डपन और ऊटपटाँग बातों का आभास मिल जाना असंभव नहीं है, पर अगर वे धीर भाव से विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस-युग में अर्थहीन जात-पाँत के ढकोसले पर कड़े से कड़ा आघात करना लोकपक्ष का अमंगल नहीं था। आज भी वह अर्थहीन जंजाल वर्तमान है और आज का महापुरूष भी, चाहे वह कोई हो इस पर आघात करने को बाध्य है।"[1]

हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के माध्यम से सिर्फ कबीर के समय पर ही नहीं अपितु अपने तत्कालीन समय और समाज पर भी विचार करते हैं। इसी कारण यह हमारे समय से भी जुड़ जाता है। कबीर के समय से लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में जो अर्थहीन जाति व्यवस्था मौजूद थी वह वर्तमान भारत में भी पूरी विभीषिका के साथ मौजूद है। इसीलिए आज भी इस अर्थहीन व्यवस्था पर पूरी ताकत के साथ आघात करने की जरूरत बनी ही हुई है।

जात-पाँत की अर्थहीन व्यवस्था की जटिलता को समझने के कारण ही हजारीप्रसाद द्विवेदी को भक्ति आन्दोलन हारी हुई हिन्दू जनता की प्रतिक्रिया नहीं लगती। "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप में प्रकट हुई थी।"[2] इस्लाम के

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 56

[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. सं. 66

आगमन के कारण "इस देश की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर इसकी कठोर प्रतिक्रिया हुई। भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिए धीरे-धीरे अपने आप में सिमटता गया। ऊँची समझी जानेवाली जातियों में सुरक्षित स्थान में पहुँचकर अपनी विशेषता बनाए रखने का उद्योग शुरू हुआ...इस प्रकार यह अद्भूत विरोधाभास है कि जाति-पाँति के कुफ्र को तोड़नेवाले धर्म संप्रदाय के संपर्क में आने के बाद हिंदुओं की जाति-पाँति की प्रथा और भी संकीर्ण और कठोर हो गई और कसी जाने लगी।"[1] इस संकीर्ण, कठोर और अत्यन्त जटिल जाति व्यवस्था के विरोध में एक तरह से उपस्थित होने के कारण ही रामानंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी को महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उन्होंने लिखा है, "उस काल में उच्च समझे जानेवाले वर्ण के लोग छोटी समझी जानेवाली जातियों के प्रति जिस दृष्टि से देखते थे, उसे देखते हुए रामानंद का अद्भूत साहस, मानव-प्रेम और औदार्य आश्चर्यचकित करने वाले हैं।"[2] तुलसीदास भी उपासना के क्षेत्र में जाति-पाँति के विरोधी होने के कारण ही उनके लिए महत्त्वपूर्ण कवि हैं। तुलसीदास की समन्वय चेतना के प्रशंसक होते हुए भी, वह स्वीकार करते हैं कि तुलसीदास वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्के समर्थक थे। "तुलसीदास राम-भक्ति के उपासक थे। लोक में वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्के समर्थक थे, पर उपासना के क्षेत्र में जात-पाँत की मर्यादा को व्यर्थ समझते थे।"[3]

हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर को एक नये युग का सूत्रपात करने वाला व्यक्ति मानते थे। कबीर के समय में जाति व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष जितना मुश्किल था, उतना ही हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए भी अपने समय में कबीर के बारे में यह कहना मुश्किलों से भरा था कि "उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी। इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।"[4] मुश्किलों से भरा इसीलिए था क्योंकि वह जाति के विरूद्ध कबीर के संघर्ष को, कबीर के युगप्रवर्तक होने के पीछे एक बड़ा कारण मानते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह 'अस्वीकार का साहस' निश्चित रूप से कबीर से ही मिला हुआ प्रतीत होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का तर्क है, "वे दरिद्र और दलित थे इसलिए अंत तक वे इस श्रेणी के प्रति की गई उपेक्षा को भूल न सके। उनकी नस-नस में इस अकारण दंड के विरूद्ध विरोध का

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. सं. 65
[2] वही, पृ. सं. 72
[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 57
[4] वही, पृ. सं. 92

भाव भरा था।"[1] इसी कारण कबीर के अंदर एक अदम्य विश्वास का भाव था और स्पष्टवादिता उनका सबसे बड़ा हथियार। उनकी उक्तियों में "...उनका अपूर्व आत्म-विश्वास अपने प्रति अवज्ञा का अभाव और साथ ही सरलता स्पष्ट मालूम होती है। उनकी सरलता और स्पष्टवादिता में कभी-कभी शास्त्र-पंथियों को अक्खड़ता मालूम होती है, क्योंकि यह समझ लिया जाता है कि वे एक मामूली जुलाहे थे और उनको यह सब बातें कहने का हक नहीं था।"[2]

इस तरह के जातिवादी आरोपों का सामना आज के दलित लेखन को भी अपनी प्रारंभिक अवस्था में करना पड़ा है। प्रकारांतर से द्विवेदी जी का मत स्पष्ट है कि साहित्य रचना पर किसी जाति-विशेष का अधिकार नहीं होना चाहिए तथा किसी साहित्य की मार्मिकता और उपादयेता की पड़ताल, रचनाकार की जाति को केंद्र में रखकर बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिए । यहाँ द्विवेदी जी का मत समकालीन दलित और तथाकथित सवर्ण लेखन के विभेद का भी प्रकारांतर से प्रत्याख्यान करता प्रतीत होता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर का समुचित मूल्यांकन करते हुए भी, उनकी उग्रता और मस्तमौला स्वभाव के अत्यधिक मुरीद प्रतीत होते हैं । 'कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे साफ कहते थे।'[3] 'सिर से पैर तक मस्तमौला थे। बेपरवाह, दृढ़, उग्र।'[4] इसके बावजूद वह कबीर की उक्तियों को एक पूरे समाज की परिणति न समझकर व्यक्तिगत कर्म ही मानते हैं। नानक पर विचार करते हुए वह इसे स्पष्ट करते हैं। उनका मानना है कि 'नानक की उक्तियों में कबीर की तरह तीव्रता नहीं है।'[5] इसके पश्चात द्विवेदी जी की कबीर और नानक के संबंध में जो तुलनात्मक टिप्पणी है, वह गौरतलब है, "कबीर की दृष्टि में भेद-भाव का रहना इसलिए अन्यायमूलक नहीं था कि उसमें एक श्रेणी के मनुष्यों पर निदर्यता का व्यवहार हो रहा है और वह मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए कि उन दलित मनुष्यों को भी अपनी बराबरी का समझे। वे स्वयं उस लांछना को भोग चुके थे, इसलिए, उनकी उक्तियों में इस विधान के लिए जो लोग उत्तरदायी हैं । उन पर खुला

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 92
[2] वही, पृ. सं. 93
[3] वही, पृ. सं. 93
[4] वही, पृ. सं. 94
[5] वही, पृ. सं. 94

आक्रमण किया गया है । पर नानक की साम्य-भावना विचार-प्रसूत और करूणामूलक थी ।"[1] द्विवेदी जी का यह मत इसलिए भी विचारणीय है क्योंकि वे एक तरफ भक्ति आन्दोलन को जन आन्दोलन मानते हैं और कबीर को युग प्रवर्तक मानते हैं । दूसरी तरफ वह उन्हें सामुदायिकता और सामाजिकता के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य से काटकर प्रस्तुत करते हैं । कबीर का दर्द जितना स्वयं द्वारा भोगे गए लांछना के विरूद्ध है उतना ही अन्यायमूलक व्यवस्था के प्रतिष्ठाओं के विरूद्ध भी है । कबीर की व्यथा व्यक्तिगत नहीं है और उनका विरोध भी ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के पहले महत्त्वपूर्ण इतिहास लेखक और आलोचक हैं जो जाति व्यवस्था को केंद्रीय महत्त्व प्रदान करते हैं । भक्ति आन्दोलन अगर पहला जन-आन्दोलन है तो कबीर उस आन्दोलन के सबसे महत्त्वपूर्ण नायक हैं । हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के युग प्रवर्तक होने में जाति-पाँति के संस्कारों से भरे शोषणमूलक समाज की सबसे बड़ी भूमिका थी । उनके अनुसार कबीर का दलित और दरिद्र होना उनकी रचनाओं को अलग स्वर प्रदान करता है । इस प्रकार हिन्दी आलोचना की परंपरा में हजारीप्रसाद द्विवेदी जाति आधारित समस्याओं पर विचार करते हुए दलित दृष्टि को रेखांकित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं ।

1.3 राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन बौद्ध-दर्शन और मार्क्सवाद दोनों से ही गहरे तौर पर प्रभावित रहे हैं । दलित विमर्श बौद्ध दर्शन को अपनी प्रेरणा का आदि स्त्रोत मानता है एवं आज कई मार्क्सवादी आलोचक दलित साहित्य के महत्त्व को समझने का प्रयास कर रहे हैं । इस संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान चिंतक के विचारों को जानना जरूरी हो जाता है । राहुल सांकृत्यायन के अध्ययन का क्षेत्र व्यापक रहा है और उनकी चिंतन की भूमिका का विस्तार भी अपरिमित है । घुमक्कड़ी को अपना जीवन-दर्शन मानने वाले इस विद्वान ने देश की हालत को इसकी पूरी विभीषिका में जाना है । इसलिए विभिन्न समस्याओं के साथ जाति के दंश की पीड़ा को भी उन्होंने पूरी सच्चाई के साथ महसूस किया । राहुल सांकृत्यायन ने राष्ट्रीय

[1] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. सं. 94

समस्याओं के साथ दैनंदिन समस्याओं पर भी विचार किया है। राहुल सांकृत्यायन की सबसे बड़ी विशेषता किसी समस्या को व्यावहारिक रूप में समझने और समझाने की है। इसलिए उनकी कलम भी बेलाग चलती है। कई बार उनकी भाषा अकादमिक दुनिया के संस्कारों को चुनौती देती प्रतीत होती है।

राहुल सांकृत्यायन को जाति व्यवस्था एक ऐसी जड़ व्यवस्था लगती थी, जिसमें मानवता के विकास की कोई गुंजाईश नहीं दिखाई पड़ती थी । राहुल सांकृत्यायन एक दृष्टांत के माध्यम से बताते हैं, "कुएँ में पानी है, जगत पर लोटा-डोरी रखी हुई है, एक तरफ मंदिर के आँगन में भक्तिभाव से झूम-झूमकर लोग रामायण पढ़ रहे हैं- 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि के भजै सो हरि के होई।' गीता हो रही है-'विद्या विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गति हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः।' (विद्या और शील-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल सबमें पण्डित लोग समदर्शी होते हैं) महात्मा और पण्डित लोग गदगद होकर अर्थ कर रहे हैं- 'जो है सब भगवान की देन है। सियाराम मय सब जग जानी। करहु प्रणाम जोरि जुग पानी। चराचर जगत सब भगवान के रूप हैं, जो है सो उसमें कोई भेद नहीं।' मालूम होता है चारों और समदर्शिता, विश्व-बंधुत्व और प्रेम का महासमुद्र लहरें मार रहा है। उसी समय जेठ की दुपहरी में प्यास का मारा चमार आ जाता है, उसका कदम कुएँ की ओर बढ़ता है, भक्तों में से कोई उसकी जात पहचानता है, कानाफूसी होती है। महात्मा और भक्ति रस में गदगद सभी श्रोताओं की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं। आँखें लाल हो जाती हैं और सभी मानो जीते जी खा जाने लिए उस निरपराध व्यक्ति की ओर दौड़ पड़ते हैं। उसका कसूर क्या ? क्या कुएँ से पानी पीना अपराध है ?"[1]

राहुल सांकृत्यायन बड़ी से बड़ी समस्या को व्यावहारिक उदाहरणों से प्रस्तुत करते हैं। जाति की समस्या को वे एक गहरे सामाजिक समस्या के रूप में सामने रखते हैं। मन, वचन और कर्म के दोहरेपन का जो अभ्यास हमारा समाज नित प्रतिदिन करता रहा है, उसकी यहाँ कड़ी आलोचना है। मनुष्य मनुष्य के भेद की समस्या को न समझने वाला, समाज और मानवहित में कैसे अपना सहयोग दे सकता है ? यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दलित साहित्य -चिंतन और रचनाशीलता दोनों ही दृष्टि से राहुल सांकृत्यायन से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।

[1] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ.सं. 14

राहुल सांकृत्यायन इतिहास और मिथक दोनों के समाजशास्त्रीय अध्ययन पर जोर देते थे। इतिहास की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी वह इतिहास के प्रति आलोचनात्मक रूख रखते थे। उनका मानना था कि "इतिहास हमारी पुरानी मानसिक स्वतंत्रता का सबसे बड़ा शत्रु है। ...सहस्त्राब्दियों से मुनष्यता का घोर शत्रु सिद्ध हुआ धर्म, बहुत कुछ इतिहास के आधार पर टिका हुआ है।"[1] अपनी इस अवधारणा के समर्थन में वह अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं, "हिन्दुओं के इतिहास में राम का स्थान बहुत ऊँचा है। आजकल के बड़े नेता गाँधीजी, मौके-ब-मौके रामराज्य की दुहाई दिया करते हैं। वह रामराज्य कैसा होगा जिसमें कि बेचारे शूद्र शम्बुक का सिर्फ वही अपराध था कि वह धर्म कमाने के लिए तपस्या कर रहा था और इसके लिए राम जैसे अवतार और धर्मात्मा राजा ने उसकी गर्दन काट ली ?"[2] गाँधीजी की रामराज्य की परिकल्पना, असल में तुलसी कल्पित रामराज्य का आदर्श ही है। जिसका समर्थन रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचक भी करते हैं। राहुल सांकृत्यायन के लिए किसी ईश्वर, महात्मा या महान् रचनाकार से बड़ा मनुष्य है। जिस समाज में मनुष्य को ब्राह्मण और शूद्र वर्गों में बाँटकर देखा जाता हो, जहाँ मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके कर्मों से न होकर उसकी जाति के आधार पर होती हो, निश्चित रूप से वह आदर्श समाज नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी की भूमिका को दलित विमर्श शंका की नज़र से देखता है। राहुल सांकृत्यायन के मन में गांधीजी के प्रति पर्याप्त सम्मान का भाव है। 'अछूतों को क्या चाहिए' नामक अपने लेख में राहुल सांकृत्यायन ने यह स्वीकार किया है कि "सच पूछिये तो महात्मा गांधी के उत्थान के पूर्व हमारे इन भाइयों के अभ्युदय के प्रश्न पर गंभीरता से विचार ही नहीं किया गया था।"[3] गांधीजी की इस ऐतिहासिक भूमिका को स्वीकार करते हुए, वह यह भी मानते हैं कि गांधीजी जिस रास्ते अछूत-समस्या का हल पाना चाहते हैं, वह निरर्थक है। उन्होंने लिखा, "गांधीजी अछूतपन को हटाना चाहते हैं, लेकिन शास्त्र और वेद की दुहाई भी साथ ले चलना चाहते हैं। यह तो कीचड़ से कीचड़ धोना है।"[4]

---

[1] राहुल सांकृत्यायन,तुम्हारी क्षय, पृ. सं. 41

[2] वही, पृ. सं. 41

[3] राहुल सांकृत्यायन, दिमागी गुलामी, पृ. सं. 53

[4] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ. सं. 47

राहुल सांकृत्यायन जाति समस्या का संपूर्ण निदान चाहते थे। वह संपूर्ण रूप से जाति व्यवस्था का उन्मूलन चाहते थे। वह इसे न सिर्फ नीची समझी जाने वाली जाति के विकास के लिए आवश्यक मानते थे बल्कि वह इस राष्ट्र के विकास के लिए भी आवश्यक मानते थे। भारत में जातिभेद की समस्या को वह इस देश के पराभव की मुख्य वजह मानते थे। उन्होंने इसे विस्तार से समझाते हुए लिखा, "पिछले हजार बरस के अपने राजनीतिक इतिहास को यदि हम लें तो मालूम होगा कि हिन्दुस्तानी लोग विदेशियों से जो पददलित हुए, उसका प्रधान कारण जाति-भेद था। जाति-भेद न केवल लोगों को टुकड़े-टुकड़े में बाँट देता है, बल्कि साथ ही यह सबके मन में ऊँच-नीच का भाव पैदा करता है। ब्राह्मण समझता है, हम बड़े हैं, राजपूत छोटे हैं। राजपूत समझता है, हम बड़े हैं, कहार छोटे हैं। कहार समझता है हम बड़े हैं, चमार छोटे हैं। चमार समझता है, हम बड़े हैं, मेहतर छोटे हैं और मेहतर भी अपने मन को समझाने के लिए किसी को छोटा कह ही लेता है। हिन्दुस्तान में हजारों जातियाँ हैं। और सबमें यही भाव है।"[1]

समस्या यहीं नहीं रूकती। जाति व्यवस्था बहुत ही जटिल व्यवस्था है जो अपने मातहतों को, कई तरह के मिथ्या दंभ भरने को मजबूर करती है। इसलिए "राजपूत होने से ही यह न समझिए कि सब बराबर हैं। उनके भीतर भी हजारों जातियाँ हैं।"[2] उनका स्पष्ट मानना था कि जाति-विभाजन अनन्त तक चलने वाली शोषण की व्यवस्था है। हमारा समाज हमें लगातर ऐसी भावनाओं से ओत-प्रोत करता रहता है। सदियों से चली आ रही पुरातन विचारधारा, जाति व्यवस्था को कमजोर होने से हर संभव बचाने का प्रयास करती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि शोषक वर्ग लगातार अपनी दमनकारी व्यवस्था को सुरक्षित बनाए रख सके। जाति का प्रश्न, धार्मिक प्रश्न को भी साथ लेकर चलता है। जाति एवं उपजाति का विभाजन ब्राह्मणवादी व्यवस्था का एक ऐसा षड्यंत्र है जिसमें हर हाल में गरीब तबके को पिसना पड़ता है। राहुल सांकृत्यायन जोर देकर यह लिखते हैं, "ये सारी गंदगियाँ उन्हीं लोगों की तरफ से फैलायी गयी हैं जो धनी हैं या धनी होना चाहते हैं। सबके पीछे ख्याल है धन को बटोरकर रख देने या रक्षा का। गरीबों और अपनी मेहनत की कमाई खाने वालों को ही सबसे ज्यादा नुकसान है, लेकिन सहस्त्राब्दियों

[1] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ. सं. 48

[2] वही, पृ. सं. 48

से जात-पाँत के प्रति जनता के अंदर ख्याल पैदा किए गए हैं, वे उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति की ओर नज़र दौड़ाने नहीं देते।"[1]

राहुल सांकृत्यायन जाति-दंश के साथ आर्थिक शोषण की असलियत की तरफ भी हमारी चिंता को आकृष्ट करना चाहते हैं। गरीबी की मूल वजह जातिगत भेदभाव को मानते हैं। साथ ही गरीब जनता की उस मिथ्या चेतना की भी चर्चा करते हैं जिसे उनके भीतर हजारों वर्षों में पैबस्त किया गया है। जनता को उस शोषणकारी व्यवस्था की हकीकत का अहसास न होना, राहुल सांकृत्यायन की नज़र में सबसे बड़ी समस्या है। उनके अनुसार वर्चस्वशाली सत्ता समाज में विद्यमान विभेदों को बनाए रखने में ही अपना हित देखती है।

इसके बावजूद राहुल सांकृत्यायन आशावादी हैं। वह लिखते हैं, "देखने में जात-पाँत की इमारत मजबूत मालूम होती है, लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि उसकी नींव पर करारी चोट नहीं लग रही है।"[2] इस विषय में उनका विश्वास पक्का है। दुनिया भर में हो रहे बदलावों को देखते हुए उन्हें अपने देश की जनता पर पूरा भरोसा था। वह लिखते हैं, "दुनिया की चाल को देखकर अब हिंदुस्तान के अछूत अछूत रहने को तैयार नहीं हैं- अर्जल (निम्न जाति) अर्जल रहने को तैयार नहीं है। अछूत और अर्जल बनाये रखकर सिर्फ उनके साथ अपमानपूर्ण बर्ताव नहीं किया जाता, बल्कि आर्थिक स्वतंत्रता से भी वंचित किया जाता है।"[3]

राहुल सांकृत्यायन दलितों की राजनीतिक के साथ-साथ सामाजिक मुक्ति भी जरूरी समझते हैं। देश की आजादी की लड़ाई के बरक्स ही वह दलितों के मुक्ति को रखते हैं। वह महज कागजी आजादी नहीं चाहते थे जिससे देश आजाद होकर भी जाति और धर्म के नाम पर बँटा रहे। वह जातीय एकता की भावना से परिपूर्ण आजाद मुल्क चाहते थे जिसमें कुछ चुने हुए लोगों का आधिपत्य न हो। एक ऐसे राष्ट्र के निर्माता के रूप में वह दलित और दमित तबके को ही देख रहे थे। उनके अनुसार "उनके लिए राजनीतिक युद्ध से यह सामाजिक युद्ध, कम महत्त्व नहीं

[1] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ.सं 50
[2] वही, पृ. सं. 50
[3] वही, पृ.सं. 50

रखता। वे जानते हैं कि जब तक जातियों की खाइयाँ बंद न की जायेंगी, तब तक जातीय एकता की ठोस नींव रखी नहीं जा सकती।"[1]

राहुल सांकृत्यायन दलितों के राजनीतिक और सामाजिक युद्ध को उनकी आर्थिक आजादी के लिए जरूरी मानते थे। इन तीनों ही मोर्चे पर जीत को जरूरी मानते थे। राहुल सांकृत्यायन समाज में समानता का राज चाहते थे। इसलिए वे रोटी-बेटी के संबंधों को सभी जातियों में खुला छोड़ देने का समर्थन करते हैं। राहुल सांकृत्यायन हर हाल में हिंदुस्तान को मजबूत राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं। इसके लिए वह सबकी भागीदारी को भी आवश्यक मानते हैं। बहुत सारे विचारक दलित विमर्श को देश की एकता को खंडित करने वाला विमर्श मानते हैं। उनके लिए राहुल सांकृत्यायन का स्पष्ट मत था कि "ठोस जातीय एकता हमारे लिए सबसे आवश्यक चीज है और वह मजहबों और जातियों की चहारदीवारियों को ढहाकर ही कायम की जा सकती है।"[2]

राहुल सांकृत्यायन जाति-प्रथा का हर हाल में अंत चाहते हैं। इसके लिए वह 'अछूतों को क्या चाहिए' अपने निबंध में तीन हल बताते हैं। "पहला, दलितों के लिए कृषि भूमि का सरकार की तरफ से प्रबंध किया जाना चाहिए। दूसरा, शहरों और कस्बों में उनके लिए बस्तियाँ बसाकर गृह शिल्प की व्यवस्था करनी चाहिए एवं तीसरा, सरकारी कल-कारखाने स्थापित किए जाने चाहिए जिसमें दलितों की भागीदारी ससम्मान सुनिश्चित की जाए।"[3]

राहुल सांकृत्यायन दलित की मुक्ति में राष्ट्र की मुक्ति देखते थे। पूरे संसार भर की यात्रा में भारत में विद्यमान जाति-दंश की समस्या ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। उनके अनुसार यह हिंदुस्तान की अपनी जटिल-व्यवस्था थी जिसे किसी और देश के लोगों को समझाना उनके लिए हमेशा चुनौतीकारी रहा। निश्चित रूप से राहुल सांकृत्यायन के विचारों से दलित विमर्श लाभ उठा सकता है। राहुल सांकृत्यायन के विचार दलित विमर्श को और समर्थ बना सकते हैं। दलित विचारकों की तरह राहुल सांकृत्यायन भी जाति-मुक्त राष्ट्र का सपना देखते थे।

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ.सं 50

[2] वही, पृ.सं. 52

[3] राहुल सांकृत्यायन, दिमागी गुलामी, पृ.सं. 55-56

राहुल सांकृत्यायन का दृढ़ विश्वास था, "निश्चय है कि जात-पाँत की क्षय करने से हमारे देश का भविष्य उज्जवल हो सकता है।"[1]

1.4 रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा हिन्दी आलोचना की परम्परा में एक मार्क्सवादी आलोचक के रूप में स्वीकृत हैं। उनका सारा विश्लेषण मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित है। उन्होंने वर्ग को अपनी आलोचना के केंद में रखा है। इसलिए जाति समस्या पर सीधे तौर पर विचार न के बराबर ही किया है। इसके बावजूद जाति की समस्या को वे नजरअंदाज नहीं कर पाये हैं। भक्तिकाल को वे लोकजागरण का काल मानते हैं। भारतेन्दुकाल के जनजागरण को पहला न मानकर उसे पूववर्ती जनजागरण से जोड़ते हैं। 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्या' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है, "भारतेन्दु युग उत्तर भारत में जनजागरण का पहला या प्रारंभिक दौर नहीं है, भारत में जनजागरण की पुरानी परम्परा का खास दौर है। जनजागरण की शुरूआत तब होती है जब यहाँ बोलचाल की भाषा में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहाँ के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है। यह सामंत विरोधी जनजागरण था।"[2] भक्तिकाल को लोकजागरण माने जाने के पीछे तर्क देते हुए वे कहते हैं, "आत्मकल्याण और लोककल्याण करने वाले कर्मों की ओर जनता को भक्त कवि ले गए। इसीलिए भक्तिकाल को लोकजागरण का काल कहना उचित होगा।"[3]

रामविलास शर्मा के लिए आधुनिक जाति के निर्माण का अर्थ है हिन्दी जाति का निर्माण। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के साथ अंग्रेजी जाति के निर्माण की तरह वह हिन्दी जाति के निर्माण की प्रक्रिया को विश्लेषित करते हैं। तभी तो वह बताते हैं, "व्यापारिक पूँजीवाद के अभ्युदयकाल में हमारे यहाँ लोकजागरण का प्रसार हुआ, भक्ति आन्दोलन उसकी सबसे शक्तिशाली धारा थी।"[4]

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, पृ.सं. 53

[2] रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, पृ. सं. 13

[3] रामविलास शर्मा, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, पृ. सं. 10

[4] रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, पृ. सं. 327

ऐसे में सवाल यह उठता है कि सामंतवाद के विरोध में जब बोलचाल की भाषा में साहित्य रचा जाने लगता है और उससे जिन आधुनिक जातियों का निर्माण होता है, उनके लोकजागरण का स्वरूप क्या है ? क्या यह सिर्फ सामंतों की बर्बरता के खिलाफ था ? क्या जाति व्यवस्था सामंतवादी व्यवस्था नहीं है ? सामंतवाद का भारतीय स्वरूप भी क्या यूरोप की तरह था ? निश्चित रूप से भारतीय सामंतवाद का चरित्र यूरोपीय नहीं हो सकता था और इसके खिलाफ लड़ी जा रही लड़ाइयों का स्वरूप भी इकहरा नहीं हो सकता था। आधुनिक जातियों का निर्माण निश्चित रूप से उत्पादन के साधनों में आए परिवर्तनों की वजह से हो रहा था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। भक्तिकाल के कई कवियों की जाति और व्यवसाय का साक्ष्य इतिहासकार इरफान हबीब ने धन्ना जाट के एक भजन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इरफान हबीब लिखते हैं, "लोकप्रिय एकेश्वरवादी आन्दोलन के नेता दूसरे छोर से आते थे। इनका नाम धन्ना जाट ने एक स्मरणीय भजन में लिये हैं, जो उनके नाम से गुरू अर्जुन (निधन 1606) ने रचा था। नामदेव, सूती कपड़े पर छपाई करने वाले छोटे से कारीगर थे (आध दाम को छीप)। कबीर, निम्न जाति के जुलाहे थे (नीच कुल जोलाहरा)। रविदास चमड़ा उतारते थे (धुवंता ढोर)। और सेनानाई ग्रामीण नीची जाति के थे (नाई बुटकारिया)। ...दादू, रूई धुननेवाले (नद्दाफ) और हरिदास एक जाट गुलाम थे। ये लोग अपनी जड़ों से कटे हुए नहीं थे। कबीर स्वयं अपने बुनकर के पेशे की सगर्व घोषणा करते थे।"[1]

इतिहासकार यह बताते हैं कि मकानों, सड़कों आदि के निर्माण से नए तरह के कारीगर एवं श्रमिक वर्ग सामने आ रहे थे। इसके बावजूद इरफान हबीब का उपर्युक्त उदाहरण यह बताता है कि विभिन्न व्यवसायों में होने के साथ उनकी जातियाँ भी बनी हुई थीं। जाति की जटिलता बरकरार थी। ऐसे में आधुनिक हिन्दी जाति का निर्माण जाति व्यवस्था के वर्चस्व को तोड़े बिना कैसे हो सकता था ? रामविलास शर्मा जिसे लोकजागरण कहते हैं हजारीप्रसाद द्विवेदी उसी भक्ति आन्दोलन को जनजागरण मानते हैं और कबीर को उसके केंद्र में रखकर देखने का निवेदन करते हैं। जाति व्यवस्था के खिलाफ कबीर का जोरदार संघर्ष हजारीप्रसाद द्विवेदी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। हालाँकि लोकजागरण में रामविलास शर्मा

[1] गोपेश्वर सिंह(संपा.), भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, इरफान हबीब का लेख, 'मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास', पृ. सं. 51

आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण की भावना को सन्निहित मानते हैं, "आत्मकल्याण और लोककल्याण करने वाले कर्मों की ओर जनता को भक्त कवि ले गए। इसीलिए भक्तिकाल को लोकजागरण का काल कहना उचित होगा।"[1] रामविलास शर्मा लोकजागरण की विरोधी शक्तियों की पहचान तो करते हैं पर उनके वर्ग-विश्लेषण में जाति व्यवस्था की भूमिका विश्लेषित नहीं हो पाती। जो कर्म जनता को लोक कल्याण और आत्म कल्याण के कामों से विमुख करते हैं वे लोकजागरण की विरोधी शक्तियाँ हैं। इसमें सामंती विचारधारा और आचरण के अतिरिक्त जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवादी संस्कृति भी लोकजागरण की विरोधी शक्तियाँ हैं।

रामविलास शर्मा के लिए जाति का मतलब एक राष्ट्र है। ऐसे में जाति व्यवस्था के कारण जो जातियाँ बनीं, वह 'राष्ट्र के निर्माण' में विघटनकारी साबित हो सकती थीं। रामविलास शर्मा के अनुसार "जिस सामाजिक ईकाई में नवजागरण के कार्य सम्पन्न होते हैं, उसे हम जाति की संज्ञा देते हैं।"[2] मार्क्सवाद के अनुसार जाति की व्याख्या को स्तालिन ने 'मार्क्सवाद और जातीय तथा औपनिवेशिक प्रश्न' नाम की पुस्तक में बताया था। "जाति वह है जो भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और मानसिक गठन में एक हो और एक सांस्कृतिक समाज के रूप में उसका ऐतिहासिक विकास हुआ हो।... इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त विशेषताओं में किसी एक विशेषता के न रहने पर ही जाति नहीं बन पाती। इसके विपरीत इन विशेषताओं में एक भी कम हुई तो जातीयता खंडित हो जाती है।"[3]

रामविलास शर्मा उपर्युक्त विशेषताओं को निर्धारित करते हुए हिन्दी जाति और जातीयता की बात को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। लोकजागरण के कवियों में उनके सर्वाधिक प्रिय कवि तुलसीदास हैं। तुलसीदास को वे वर्गहीन समाज का स्वप्न देखने वाला कवि मानते हैं। "तुलसी का रामराज्य ऐसे ही सुखी समाज का चित्र है। इस तरह के चित्र मध्यकालीन निर्धन किसानों, जुलाहों कारीगरों आदि की साम्य-भावना प्रकट करते हैं, एक वर्गहीन सुखी समाज का स्वप्न प्रकट करते हैं, ये चित्र सिद्ध करते हैं कि भारतीय जनता में वर्गहीन समाज की आकांक्षा बहुत पुरानी है, वह आज वैज्ञानिक आधार पर, संगठन और एकता के बल पर चरितार्थ होना

---

[1] रामविलास शर्मा, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, पृ. सं. 10

[2] रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. सं. 21

[3] उद्धृत, रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ. सं. 419

चाहती है ।"[1] तुलसी के काव्य पर वर्ग दृष्टि से विचार करने के बाद कई अर्थों में जाति विरोधी कबीर की रचनाओं पर भी इसी दृष्टि से विचार करना अवश्यम्भावी हो जाता था । रामविलास शर्मा लिखते हैं, "भारतीय जनता जिस नई वैज्ञानिक संस्कृति का विकास करेगी उसका मूल सूत्र कथनी और करनी की वह एकता होगी जिसकी ओर कबीर ने संकेत किया था । वर्गयुक्त समाज व्यवस्था के शासक सदा ही कहते कुछ रहे हैं, करते कुछ और रहे हैं । कबीर ने कर्म और वचन की कसौटी पर ही अनेक मत-मतान्तरों और विश्वासों को परखकर उनकी आलोचना की थी । यह कसौटी आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कबीर के समय ।"[2] तुलसी साहित्य में रामविलास शर्मा को 'सामन्तवाद विरोधी मूल्य' दिखाई देता है तो कबीर को वे भावी 'वैज्ञानिक संस्कृति' के पुरोधा के रूप में देखते हैं ।

रामविलास शर्मा के लेखन में यत्र-तत्र जाति प्रश्न पर उनके विचार दिखाई पड़ते हैं । संत साहित्य पर विचार करते हुए लिखते हैं, "संत साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच-नीच का भेद न हो...।"[3] वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़ कुण्डार' आदि की चर्चा में जातिगत मर्यादा का उल्लंघन कर जो प्रेम-प्रसंग रचे गए हैं उनका जिक्र करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सामंती समाज में जाति प्रथा का उल्लंघन करके प्रेम करना और प्रेम करके एक साथ रहना आसान नहीं है । शासक वर्ग और उसके चाकर पुरोहित इसे अपने लिए खुली चुनौती मानते हैं । वर्मा जी के पात्र जाति-प्रथा के बंधन को नहीं मानते । ...उनके प्रेम का चित्रण सांमती व्यवस्था और जाति प्रथा की कड़ी आलोचना है ।"[4] इसी तरह भवभूति पर लिखे अपने निबंध में वह लिखते हैं, "वर्णाश्रमी व्यवस्था के बचे रहने में सबको दुःख ही है । इससे सभी को कष्ट मिलना है ।"[5] देश की पराधीनता के कारणों में भी उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया, "वर्ण-व्यवस्था के आधार

---

[1] रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ. सं. 56

[2] वही, पृ. सं. 56

[3] वही, पृ. सं. 54

[4] वही, पृ. सं. 160

[5] वही, पृ. सं. 33

पर जितना ही उच्च वर्ण निम्न वर्णों को सताते थे, उतना ही विदेशी आक्रमणकारियों के लिए इस देश पर अधिकार करना आसान होता था।"[1]

रामविलास शर्मा जाति-प्रथा के दुष्परिणामों से अच्छी तरह से परिचित प्रतीत होते हैं परंतु जाति-प्रथा पर विशेष रूप से उन्होंने विचार नहीं किया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे समस्त सामाजिक बुराइयों की जड़ में पुरोहितवाद को देखते थे। उनका मानना था कि पुरोहितवाद का खात्मा जाति प्रथा की समस्या को भी हल कर देगा। इसलिए वह संत साहित्य की महत्ता को बताते हुए लिखते हैं, "संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है।"[2]

रामविलास शर्मा के लेखन में दलित चेतना की समग्र परंपरा नहीं दिखाई पड़ती। इसके बावजूद वंचित और उपेक्षित जनता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को जरूर देखा जा सकता है। अधिकांशतः वंचित और उपेक्षित जनता दलित तबके से ही थी। इसलिए रामविलास शर्मा के लेखन से दलित विमर्श इतिहास और परंपरा के मूल्यांकन के लिए आवश्यक बातों को ग्रहण कर सकता है। शिक्षित जनों में 'जातिगत संकीर्णता' की अधिकता को रेखांकित करते हुए उन्होंने भक्ति आन्दोलन पर 1965 में लिखे एक निबंध में जो सवाल उठाया था उसे उनके सामाजिक सरोकारों के एक सबूत के रूप में देखा जा सकता है, "आजकल विश्वविद्यालय में और साहित्य में कितने अध्यापक और लेखक हैं, जो द्विजेतर वर्णों के हैं।"[3] इन द्विजेतर वर्णों में रामविलास जी ने 'जुलाहे, दर्जी, नाई, चमार' जाति के नाम गिनाए हैं। आज दलित विमर्श की साहित्य में उपस्थिति के साथ विश्वविद्यालय में भी अपेक्षित तो नहीं पर 'द्विजेतर वर्णों' के अध्यापकों की संख्या बढ़ी है। रामविलास शर्मा इस सकारात्मक प्रगति का समर्थन ही करते, ऐसा उनके लेखन से जरूर प्रतीत होता है।

---

[1] रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ. सं. 20

[2] वही, पृ. सं. 47-48

[3] वही, पृ. सं. 91

1.5 गजानन माधव मुक्तिबोध

रामविलास शर्मा का लेख 'संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ' सन् 1955 में प्रकाशित हुआ था। जिसमें वह सगुण-निर्गुण, स्त्री-पुरूष आदि के विभेद को रेखांकित करने वाली पद्धति की आलोचना करते हैं। इस लेख में वह यह प्रस्तावित करते हैं कि "संतो में स्त्री और पुरूष, संन्यासी और गृहस्थ, हिन्दू और मुसलमान, सगुणवादी निर्गुणवादी दोनों हैं।"[1] रामविलास शर्मा संत साहित्य के अध्ययन में सगुण और निर्गुण भक्त कवियों को अलग करके देखने की दृष्टि का विरोध करते हैं। संयोगवश इसी वर्ष मुक्तिबोध का चर्चित निबंध 'मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू', 'नई दिशा' के मई 1955 के अंक में छपा था। जिसमें उन्होंने कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवियों को तुलसीदास आदि सगुणपंथ के कवियों की अपेक्षा 'अधिक आधुनिक' बताया था। इस संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं, "मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय संत तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं ? क्या कारण है कि हिन्दी क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है ?"[2]

मुक्तिबोध इस तरह का प्रश्न उठाने वाले हिन्दी साहित्य के इतिहास के पहले आलोचक हैं। कबीर एवं निर्गुण पंथ के कवियों की महत्ता को सबने स्वीकार किया था परंतु तुलसीदास को धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग के प्रतिनिधि कवि के रूप में पहली बार कोई आलोचक प्रस्तुत कर रहा था। मुक्तिबोध मार्क्सवादी आलोचक थे इसलिए उनका स्पष्ट मानना था "किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान लें।"[3] रामविलास शर्मा की तरह वह भी वर्ग-संघर्ष को रेखांकित करते हैं परंतु उनकी दृष्टि वर्ग की जटिलता पर भी जाती है। "उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष

[1] रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ. सं. 91

[2] नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 288

[3] वही पृ. सं. 289

निस्संदेह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूप में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ संप्रदाय के लोगों ने जन-साधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किंतु भक्ति आन्दोलन का जन साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, नाभा सिंपी, सेना नाई, आदि आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरूद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था। वह हुआ तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गई।"[1] मुक्तिबोध की उपरोक्त टिप्पणी आज के दलित आन्दोलन और उसके साहित्य पर भी सटीक बैठती है। फर्क सिर्फ इतना है कि समकालीन दलित रचनाकारों ने बुद्ध, फुले और अम्बेडकर के विचारों के आधार पर जातिवाद के विरूद्ध अपनी आवाज बुलन्द की है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाने की भूमिका में मुक्तिबोध नीची कही जाने वाली जातियों से आए संत कवियों को देखते थे।

इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने स्पष्ट लिखा है, "उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास आदि संतों की बानियों का संदेश तत्कालीन मानों के अनुसार बहुत अधिक क्रांतिकारी था।"[2] जाति-प्रथा के विरूद्ध संघर्ष एवं निर्गुण पंथी संतों की जाति को महत्त्व देते हुए भी मुक्तिबोध अपनी मार्क्सवादी पद्धति का त्याग नहीं करते। मुक्तिबोध वर्ग-संघर्ष की भूमिका को न सिर्फ जानते थे बल्कि उसका उपयोग अपने विश्लेषण में व्यावहारिक रूप में करते थे। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की इस टिप्पणी को देखा जाना चाहिए, "कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों और जातिवाद के विरूद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्मगौरव का भाव हुआ। समाज की शासक सत्ता को यह कब अच्छा लगता ? निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचि वालों का संघर्ष था।"[3]

---

[1] नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 290

[2] वही, पृ. सं. 290

[3] वही, पृ. सं. 291

यह स्पष्ट है कि निम्न कही जाने वाली जातियों के संघर्ष को मुक्तिबोध सिर्फ सामाजिक आन्दोलन के रूप में देखने के हिमायती नहीं थे। वे इस संघर्ष को शोषक और शासितों के संघर्ष के रूप में देखने के पक्षधर थे। तथाकथित उच्च जातियों का हित शासक वर्ग के हित से मेल खाता था। अतएव वे भी नीची समझी जाने वाली जातियों के संघर्ष और साहित्य के विरोध में थे। इसी कारण मुक्तिबोध तुलसीदास की आलोचना करते हैं। उन्होंने लिखा "तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की किंतु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निगुर्ण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवादी-विरोधी भूमिका के विरूद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।"[1] इस तरह "एक बार भक्ति-आन्दोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी।"[2]

मुक्तिबोध अपने इस लेख में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं। उन्होंने लिखा, "क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्ण भक्ति-शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किंतु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका ? जबकि यह एक स्वतः सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अंतर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।"[3]

मुक्तिबोध के ये सारे सवाल आज भी लगभग अनुत्तरित हैं। मुक्तिबोध के इन सवालों को समझे बिना समकालीन हिन्दी साहित्य को नहीं समझा जा सकता। आश्चर्य है कि दलित साहित्य ने मुक्तिबोध के इन सवालों को भी गंभीरता से नहीं लिया। मुक्तिबोध का मानना है कि इसी कारण आगे चलकर उच्चवर्गीय और उच्च वंशीय कहे जाने वालों ने भक्ति आन्दोलन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इसी संदर्भ में मुक्तिबोध एक और महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं, "क्या कारण है कि निर्गुण भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका ? उसका मूल कारण

---

[1] नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 291

[2] वही, पृ. सं. 291

[3] वही, पृ. सं. 292

यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करने वाली पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थी। ...स्वदेशी पूँजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय और सुधारवाद का जन्म हुआ और उसने सामंती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशवर जातियों द्वारा सामाजिक उत्पादन प्रणाली समाप्त कर दी। गाँवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी।"[1]

आज का दलित आन्दोलन भी पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियों की ऐतिहासिक भूमिका को स्वीकार करता है। अम्बेडकर ने भी इसे स्वीकार किया है। फुले और अम्बेडकर की पूरी चिंतन प्रक्रिया को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की इस बात को आज के दलित आन्दोलन को गंभीरता से समझने की जरूरत है। इतिहास में असफल हुए सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक आंदोलनों का सच्चा विश्लेषण, आगे के आंदोलनों की नींव को पक्का करता है। आज के दलित साहित्य को भी सिर्फ सामाजिक बदलाव से ऊपर उठकर राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक बदलावों से खुद को जोड़ना होगा। मुक्तिबोध का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है, "निम्न जातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थीं। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थीं। आधुनिक अर्थों में, वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष पथ पर अग्रसर नहीं हुए।"[2] मुक्तिबोध इस संघर्षहीनता का मूल कारण 'भारत की सामंतयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना' में देखते हैं। आज भी यह स्थिति पहले की तुलना में बहुत नहीं बदली है। शासक वर्ग और उच्चवर्ग की एकता का स्वरूप आज ज्यादा जटिल हुआ है। इसलिए दलित साहित्य पर दायित्त्व भी बढ़ा है। मुक्तिबोध का आलोचना कर्म उस ओर गंभीरता से इशारा करता है।

मुक्तिबोध के लिए जाति का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जाति की समस्या एवं ब्राह्मणवाद को वह किसी भी तरह के प्रगतिशील साहित्य की रचना में बाधक मानते थे। इसके लिए वह समाज विरोधी इन शक्तियों की सच्ची पहचान को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वह निर्गुणपंथ में ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर जातियों के विभेद को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए सामाजिक समानता के लिए किया जाने वाला

---

[1] नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 293

[2] वही, पृ. सं. 295

संघर्ष महत्त्वपूर्ण था। मुक्तिबोध का चिंतन एवं उनका यह लेख दलित साहित्य के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है। मुक्तिबोध जाति एवं वर्ग दोनों ही आधार पर समानता के पक्षधर हैं। मुक्तिबोध की यह टिप्पणी यहाँ उल्लेखनीय है, "सामंतवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामंती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाए।"[1] मुक्तिबोध का यह विश्लेषण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। जो भी व्यक्ति साहित्य के जनपक्षधर रूप का समर्थक है, वह मुक्तिबोध से अवश्य सहमत होगा। समकालीन साहित्यिक एवं राजनीतिक जगत में चलने वाले वर्ग बनाम जाति के विवाद का यह माकूल जवाब है। सामाजिक मुक्ति के साथ-साथ आर्थिक मुक्ति की जरूरत को मुक्तिबोध यहाँ प्रस्तावित करते हैं। मुक्तिबोध के लिए वर्गहीन समाज वह है जहाँ जाति और अर्थ के आधार पर भेद का अस्तित्व न रहे। वह यह प्रस्तावित करते हैं कि समाज का अंतिम रूप से कल्याण वर्गहीन होने में ही है पर रास्ता सामाजिक मुक्ति से होकर ही गुजरेगा। जाति प्रश्न एवं दलित साहित्य पर विचार करने वालों के लिए मुक्तिबोध का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

1.1.6 मैनेजर पाण्डेय

मैनेजर पाण्डेय समकालीन हिन्दी आलोचना के प्रमुख आलोचक हैं। हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील परम्परा को विकसित करने में इनकी प्रमुख भूमिका है। जाति -प्रश्न पर विचार करने की परम्परा को वह दायित्त्वपूर्ण तरीके से आगे बढ़ाते हैं। वह समकालीन हिन्दी आलोचना के उन प्रमुख गैर दलित आलोचकों में से हैं जो पूरी निष्ठा और ईमानदारी से दलित विमर्श पर विचार करते हैं।

दलित साहित्य की अवधारणा:

दलित विमर्श पर विचार करते हुए मैनेजर पाण्डेय उसमें प्रकट होने वाली विश्व-दृष्टि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार "दलितों पर कविता

[1] नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. सं. 296-97

लिखना या कहानी लिखना या उपन्यास लिखना, इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना महत्त्वपूर्ण यह कि उसमें दृष्टिकोण कौन-सा है, कौन सी विश्व-दृष्टि प्रकट हो रही है ?"[1]

अर्थात् करूणा या सहानुभूति मात्र से दलित-समस्या पर विचार करना ही पर्याप्त नहीं है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार गैर दलित लेखक कई बार अनायास अपने संस्कारों को ही दलित चेतना के नाम पर आरोपित करते दिखाई देते हैं। इसलिए दलितों की समस्या को चित्रित करने मात्र को ही मैनेजर पाण्डेय दलित साहित्य के अंतर्गत स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दलित साहित्य 'समझदार चुप' की जगह एक 'इंकार भरी चीख़' है और यही समकालीन दलित साहित्य की मूलगामी विशेषता है। उनके अनुसार "इंकार से भरी हुई चीख की रचनाएँ हैं ये दलित रचनाएँ। इंकार। बहुत सारी चीजों का इंकार। ये जो रूढ़िवादी हिन्दू समाज है उसकी मान्यताएँ, उसके मूल्य उसके आदर्श इन सबका इंकार-अस्वीकार और अस्वीकार स्वभावतः चीख के साथ। समझदार चुप्पी के नाम पर नहीं। मौन की साधना का साहित्य दलित चेतना का साहित्य नहीं बन सकता है।"[2]

मैनेजर पाण्डेय दलित चेतना के संदर्भ में इंकार की चीख की जरूरत पर रूढ़िवादी हिन्दू समाज की जटिल व्यवस्था के कारण जोर देते हैं। उनके अनुसार जाति व्यवस्था पर आधारित हिन्दू समाज में एक तरफ कुछ लोगों का बोलने की आजादी पर लगातार वर्चस्व बना रहा है तो दूसरी तरफ दलितों को बोलने का अधिकार तक नहीं दिया गया। एक अभेद्य दीवार बनाकर, दलितों को घुटन की जिन्दगी जीने को मजबूर किया जाता रहा। इसलिए वह इंकार की चीख को दलित चेतना के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

'इंकार की चीख' के साथ ही वह दलित चेतना एवं साहित्य के लिए दलित आन्दोलन की भूमिका को भी निर्णायक मानते हैं। इसलिए वह दलित साहित्य और दलित चेतना के बीच अंतर करने की जरूरत पर भी बल देते हैं। उनका मानना है कि दलित जीवन से जुड़ी प्रत्येक रचना में, दलित चेतना का अभिव्यक्त होना अनिवार्य नहीं है। ऐसे में ऐसी रचनाओं को दलित विमर्श के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "जिस साहित्य में

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 23

[2] वही, पृ. सं. 24

दलितों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षा के अनुरूप समाज के परिवर्तन की माँग और जरूरत की अभिव्यक्ति होगी, उसी को दलित चेतना का साहित्य कहेंगे।"[1]

अर्थात् जाति पर आधारित समाज व्यवस्था का विरोध करते हुए दलितों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षा के अनुरूप एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था के निर्माण की माँग का होना, दलित चेतना के लिए आवश्यक है। इसी संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय दलित आन्दोलन की भूमिका को निर्णायक मानते हैं। उनके अनुसार "जैसे प्रत्येक मजदूर जन्मजात वर्ग चेतन नहीं होता, वैसे ही प्रत्येक दलित जन्मजात दलित चेतना से सम्पन्न नहीं होता। उसके जीवन में दलित चेतना के विकास की स्थितियाँ रहती हैं, लेकिन उस चेतना के विकास के लिए उसके मन में अपने समुदाय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं का तथा विचारधारा का विकास, दलित आन्दोलन से जुड़कर होता है।"[2]

अर्थात् दलित होना दलित चेतना की प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं करता। दलित चेतना के विकास के लिए दलित हितों के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों को लेकर चलने वाले दलित आन्दोलन से संबंद्धता आवश्यक है। दलित विचारधारा के विकास के लिए भी मैनेजर पाण्डेय आन्दोलन को अत्यंत आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार दलित आन्दोलन ही किसी दलित को अपने समुदाय की विश्व-दृष्टि के प्रति प्रतिबद्ध बना सकता है। दलित आन्दोलन के माध्यम से ही दलित प्रश्नों की ऐतिहासिकता से परिचित हुआ जा सकता है एवं वर्तमान में उसके तईं दृष्टि विकसित की जा सकती है। इसलिए मैनेजर पाण्डेय मराठी एवं गुजराती के दलित साहित्य को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

दलित चेतना के विकास के महत्त्व को रेखांकित करते हुए भी मैनेजर पाण्डेय दलितों द्वारा लिखे जा रहे साहित्य को ही प्रामाणिक दलित साहित्य मानने का अनुरोध करते हैं। उनके अनुसार "मुझे लगता है कि जब तक अपने बारे में लिखे हुए दलितों के साहित्य का पर्याप्त विकास नहीं होता, तब तक गैर-दलितों के बारे में लिखे हुए साहित्य को भले ही दलित साहित्य कहा जाए, सच्चा दलित

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 51

[2] वही, पृ. सं 51-52

साहित्य वही होगा, जो दलितों के बारे में स्वयं दलित लिखेंगे । ...दलितों के जीवनानुभव और उसकी अभिव्यक्ति के प्रसंग में ज्योतिबा फुले का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि गुलामी की यातना को जो सहता है वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है । सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं ।"[1]

दलितों के जीवनानुभव और उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह दलितों द्वारा दलित चेतना से युक्त लेखन को ही प्रामाणिक मानते हैं । दलितों द्वारा दलित साहित्य के पर्याप्त विकास कर लेने की शर्त को इस संदर्भ में जोड़ते हैं । उनके अनुसार दलित लेखकों को इस बात का पर्याप्त मौका दिया जाना चाहिए कि वे अपने भोगे हुए गुलामी की यातना को संपूर्णता में व्यक्त कर सकें । मैनेजर पाण्डेय दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य को प्रामाणिक दलित साहित्य मानने का अनुरोध करते हुए इसमें दलित चेतना एवं दलित आन्दोलन के महत्त्व को भी अत्यंत आवश्यक मानते हैं ।

जाति एवं वर्ग का प्रश्न:

मैनेजर पाण्डेय जाति एवं वर्ग दोनों को बराबर महत्त्वपूर्ण मानते हैं । उनके अनुसार दोनों में किसी एक का निषेध, भारतीय समाज-व्यवस्था की इकहरी समझ देता है । मैनेजर पाण्डेय के अनुसार "भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ण और वर्ग को साथ-साथ ध्यान में रखना जरूरी है । हमारे यहाँ जो लोग केवल वर्ग की धारणा के आधार पर भारतीय समाज की संरचना को समझने की कोशिश करते हैं, वे वर्ण और जाति की वास्तविकता की उपेक्षा करते हैं और इसी प्रक्रिया में भारतीय समाज की अधूरी समझ सामने लाते हैं । लेकिन दूसरी ओर वे लोग हैं, जो केवल वर्ण के आधार पर भारतीय समाज की संरचना की व्याख्या करते हैं । इस व्याख्या में भी भारतीय समाज की अनेक जटिलताएँ छूट जाती हैं । वास्तव में वर्ग एक धारणा है और वर्ण या जाति एक वास्तविकता है ।"[2]

अर्थात् भारतीय समाज की जटिल संरचना को सिर्फ जाति या सिर्फ वर्ग के परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता । इसलिए भारतीय समाज की संरचना को

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं 50

[2] वही, पृ. सं 46

संपूर्णता में समझने एवं व्याख्यायित करने के लिए जाति एवं वर्ग दोनों को ही समान महत्त्व दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। मैनेजर पाण्डेय जाति को भारतीय समाज की वास्तविकता मानते हैं जबकि वर्ग को एक मार्क्सवादी अवधारणा। किसी अवधारणा तक पहुँचने एवं उसको निर्मित करने के लिए समाज की वास्तविक समस्याओं की समझ आवश्यक होती है। जाति प्रश्न की वास्तविक समझ ही जाति मुक्ति के संघर्ष को वर्ग की अवधारणा से जोड़कर व्यापक बनाती है। भारतीय समाज व्यवस्था की वर्णवादी संरचना में दलित समुदाय के अंतर्गत आने वाले लोग वर्ग की अधारणा के अनुसार सर्वहारा के अंतर्गत आते हैं। यह सही है कि सर्वहारा के अंतर्गत किसी भी जाति के वंचित शामिल होते हैं लेकिन यह भी सच है कि अधिकांश गरीब आबादी यहाँ दलितों की ही है। इसलिए वर्ग और जाति दोनों की समझ अत्यंत आवश्यक है।

वर्ग और वर्ण की एकता को आवश्यक मानते हुए मैनेजर पाण्डेय भारतीय मार्क्सवाद एवं मार्क्सवादियों की सीमाओं को भी रेखांकित करते हैं। दलित विमर्श के अंतर्गत भी भारतीय मार्क्सवादियों की पुरजोर आलोचना की गई है। मैनेजर पाण्डेय यह मानते हैं कि मार्क्सवाद की सफलता के लिए मार्क्सवादियों की भी आलोचना आवश्यक है क्योंकि "प्रायः जनता सिद्धांतों और विचारधाराओं को किताबों के सहारे उतना नहीं जानती जितना सिद्धांतों और विचारधाराओं को मानने वाले के आचरण से।"[1] मार्क्सवाद को मैनेजर पाण्डेय आत्मालोचन को महत्त्व देने वाली विचारधारा मानते हैं। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि जाति प्रश्न के सन्दर्भ में भारतीय मार्क्सवाद से कुछ भूलें हुई हैं। इसलिए इस आलोचना को स्वीकार करके ही मार्क्सवाद जाति प्रश्न के समाधान में योगदान दे सकता है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय ने बताया है, "मार्क्सवाद एक आलोचनात्मक दृष्टि है। उस आलोचनात्मक दृष्टि की सार्थकता तभी होती है जब उसे अपनाने वाला व्यक्ति संपूर्ण जीवन जगत और समाज के साथ-साथ अपनी चेतना और कर्म के बारे में भी आलोचनात्मक हो। इसीलिए मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि केवल दूसरों की ही आलोचना नहीं करती वह अपनी और अपनों की भी आलोचना करती है।"[2]

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 41

[2] वही , पृ. सं. 41

मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि के दायित्त्व का बोध मैनेजर पाण्डेय के यहाँ दिखाई पड़ता है। इसलिए वह हर तरह के शोषण से मुक्ति एवं बराबरी का समाज बनाए जाने के लिए दलित प्रश्न को भी पर्याप्त महत्त्व देते हैं। दलित प्रश्न को पर्याप्त महत्त्व न दे पाने के कारण भारत के कम्यूनिस्ट आन्दोलन की आलोचना भी करते हैं। उनके अनुसार "मार्क्सवाद सामाजिक परिर्वतन की जिस प्रक्रिया पर जोर देता है उसमें दलितों की समस्याओं की भी चिंता आवश्यक है। भारत में कम्यूनिस्ट आन्दोलन ने अगर इस चिंता को व्यावहारिक रूप नहीं दिया तो यह उसकी सीमा है जिससे छुटकारा जरूरी है।"[1]

एक मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवाद एवं मार्क्सवादियों की जाति-प्रश्न को ठीक से न समझ पाने के लिए भरपूर आलोचना करते हैं। इसके लिए वह भारतीय मार्क्सवादियों के अपने जाति से बाहर न निकल पाने को भी दोषी मानते हैं। मैनेजर पाण्डेय वर्ग एवं जाति दोनों पर आधारित आन्दोलन की आवश्यकता महसूस करते हैं। मार्क्सवादियों द्वारा सिर्फ वर्ग आधारित संघर्ष पर जोर देने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं, "जो जाति की वास्तविकता को भुलाकर केवल वर्ग की एकता की कामना करते हैं, वे मूर्खों के उस स्वर्ग में रहते हैं जहाँ दलित जीवन के यथार्थ को छूकर बहने वाली हवा का प्रवेश वर्जित है। जब तक जातिवाद रहेगा तब तक वर्गीय एकता भी कायम नहीं होगी।"[2]

मैनेजर पाण्डेय वर्गीय एकता के निर्माण के लिए जाति की वास्तविकता को स्वीकार करने की जरूरत पर बल देते हैं। सर्वहारा और दलितों के संघर्ष को साझा मंच प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय मार्क्सवादी जाति की वास्तविकता को समझते हुए वर्ग की अवधारणा का निर्माण करें। वर्ग कोई आभासी धारणा नहीं है बल्कि उसका सीधा संबंध जमीनी हकीकत से होता है। मार्क्सवाद भौतिक परिस्थिति को महत्त्व देने वाला दर्शन है। जाति भारतीय परिस्थिति की कटु सच्चाई है। इसलिए वर्गीय एकता का विकास जाति-प्रश्न को महत्त्व दिए बिना नहीं हो सकता।

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 42

[2] वही, पृ. सं. 83

मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद की एकता में भारतीय समाज की असली मुक्ति देखते हैं। उनके अनुसार "...आज के समय में भारतीय समाज को बदलने के लिए मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद की अधिक से अधिक एकता जरूरी है । मैं जब अधिक-से-अधिक कह रहा हूँ तो मेरा आशय यह है कि न तो शत-प्रतिशत मार्क्सवाद से भारतीय समाज की समग्र जटिल वास्तविकता की पहचान हो पाती है और नहीं शत-प्रतिशत केवल अम्बेडकरवाद की मदद से । इसलिए मैं यह भी दोहराना चाहूँगा कि वर्ग और वर्ण दोनों को ध्यान में रखकर उनके सम्बंधों की जटिलताओं को पहचनाते हुए भारतीय समाज को समझने की कोशिश करना अधिक उपयोगी है।"[1]

एक पक्ष यह मानता रहा है कि पूँजीवाद के विकास से जाति की समस्या का हल हो जाएगा । दूसरा पक्ष का मानना है कि वर्ग के प्रश्न के अंतर्गत ही जाति समस्या का समाधान किया जा सकता है। दोनों ही मत एकताबद्ध संघर्ष के अभाव में असफल सिद्ध हुए हैं। इसलिए मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के बीच ज्यादा से ज्यादा सहमति एवं दोनों के एकजुट संघर्ष को सामाजिक मुक्ति के लिए जरूरी मानते हैं।

दलित साहित्य और सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न:

दलित विमर्श के अंतर्गत वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र के निर्माण का प्रश्न, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । दलित विमर्शकारों का मानना है कि परंपरागत सौंदर्यशास्त्र के आधार पर दलित साहित्य का विश्लेषण संपूर्णता में नहीं किया जा सकता। दलित साहित्य की समग्रता में व्याख्या के लिए नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है । मैनेजर पाण्डेय इस संदर्भ में लिखते हैं, "दलित साहित्य का आन्दोलन केवल साहित्यिक आन्दोलन नहीं है । वह दलित समाज के जागरण, परिवर्तन और विकास से जुड़ा आन्दोलन है। इसमें दलित समाज की राजनीतिक और सामाजिक आकांक्षाएँ साहित्य की भाषा में व्यक्त हो रही हैं । इसलिए वह हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा के उस सौंदर्यशास्त्र के वर्चस्व से मुक्त होना चाहता है जो संस्कृत के काव्यशास्त्र से जुड़ा है।"[2]

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 126

[2] वही, पृ. सं. 90-91

मैनेजर पाण्डेय के अनुसार संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिमानों के आधार पर दलित साहित्य को नहीं समझा जा सकता । दलित साहित्य आन्दोलनधर्मी साहित्य है । जिसमें दलित समाज की राजनीतिक और सामाजिक शोषण एवं संघर्षों की अभिव्यक्ति होती है । इसलिए दलित साहित्य का मूल्यांकन सिर्फ साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर नहीं हो सकता। इसके लिए एक तरफ पहले से स्थापित सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों का निषेध जरूरी है तो दूसरी तरफ वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र का निर्माण भी उतना ही आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आए नए आन्दोलन एवं सामाजिक आंदोलनों से उपजे साहित्य के संदर्भ में नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता हमेशा महसूस की गई। छायावाद और प्रगतिवाद के संदर्भ में इसे देखा भी गया है। इसलिए मैनेजर पाण्डेय का मत है कि "व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन से जुड़ा साहित्य का नया आन्दोलन नया सौंदर्यबोध और उसका शास्त्र विकसित करना चाहता है। इसलिए प्रगतिशील लेखकों से प्रेमचंद ने कहा था कि 'हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी'।"[1]

साहित्य रचना के साथ-साथ सौंदर्यबोध एवं उसका शास्त्र विकसित करने की भी महती जिम्मेदारी साहित्यिक आन्दोलन पर होता है। प्रेमचंद जब सुन्दरता की कसौटी बदलने की माँग कर रहे थे तब वह परंपरागत सौंदर्य की कसौटी से मुक्ति की ही कामना कर रहे थे। बदलते समय में साहित्य के रूप और वस्तु में बदलाव के साथ बदले हुए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता अपरिहार्य होती है। मैनेजर पाण्डेय का इस संदर्भ में मानना है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र ही हो सकता है। उनके अनुसार "दलित साहित्य जातिवादी व्यवस्था की गुलामी से मुक्ति के व्यापक आन्दोलन का साहित्य है, इसलिए वह अपने प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र विकसित करना चाहता है।"[2]

मैनेजर पाण्डेय प्रतिरोध के सौंदर्यशास्त्र के विकास में जाति, लिंग और वर्ग से जुड़ी विचारधाराओं की भूमिका को अहम् मानते हैं। वह सौंदर्यशास्त्र को महज कला पक्ष तक ही सीमित नहीं मानते । उनके अनुसार "सौंदर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति का शास्त्र नहीं है। वह कलात्मक सौंदर्य के बोध और मूल्यों के

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 91

[2] वही, पृ. सं. 91

शास्त्र हैं, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।"[1]

उनका स्पष्ट मानना है कि सौंदर्यशास्त्र का संबंध किसी अलौकिक अनुभूति से न होकर लोगों के जीवन और उससे जुड़े साहित्यिक मूल्यों से होता है। यह भी कि सौंदर्यशास्त्र को किसी साहित्य पर आरोपित नहीं किया जा सकता। मैनेजर पाण्डेय यह भी मानते हैं कि "कोई भी सौंदर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौंदर्यशास्त्र तो और भी नहीं।"[2] इसी संदर्भ में वह आगे लिखते हैं, "दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और दलित साहित्य पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।"[3]

दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को अभी विकसित होना है। ऐसे में दलित साहित्य पर पूर्व निर्धारित साहित्य एवं सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों को आरोपित करना उचित नहीं है। दलित सौंदर्यशास्त्र के निर्माण का आधार वह दलित समाज एवं उसकी विचारधारा को मानते हैं। किसी विचारधारा का निर्माण भी एक लम्बी प्रक्रिया के तहत ही होता है। उसमें कई सारे तत्व जुड़ते-छूटते जाते हैं। इसी तरह सौंदर्यशास्त्र का निर्माण भी एक लम्बी प्रक्रिया के तहत होता चलता है।

जहाँ एक तरफ मैनेजर पाण्डेय दृढ़ता से दलित सौंदर्यशास्त्र के वैकल्पिक रूप की जरूरत एवं समर्थन में हैं तो दूसरी तरफ वह यह भी मानते हैं कि दलित साहित्य अभी तक प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र विकसित नहीं कर पाया है। उनके अनुसार "अभी तो दलित साहित्य में ऐसा साहित्य नहीं दिखाई देता जो अभिजनवादी सौंदर्यशास्त्र के सामने एक प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र विकसित करता हो। जरूरत इस बात की है कि संरचना के बारे में, इतिहास के बारे में, संस्कृति के बारे में, यहाँ तक कि साहित्य के बारे में, उस तरह सवाल करें जैसे सवाल कबीर किया करते थे। ...दलितों का सच अभिजात वर्ग के लोगों का सच नहीं है।"[4]

अर्थात् जब दलितों का सच अभिजात वर्ग के लोगों के सच से अलग है तो उसका साहित्य भी अलग होगा। ऐसा दलित विमर्शकार भी मानते हैं। दलित

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 91

[2] वही, पृ. सं. 91

[3] वही, पृ. सं. 91

[4] वही, पृ. सं. 25

साहित्य को जाति व्यवस्था के विरोध में उपजा साहित्य माना जाता है। समाज के अभिजात वर्ग द्वारा दलितों पर किए जाते रहें शोषण के प्रतिरोध का साहित्य है, दलित साहित्य । ऐसे में दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र भी अभिजनवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिरोध का ही शास्त्र होगा। मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि दलित सौंदर्यशास्त्र अनिवार्यतः प्रतिरोध का ही सौंदर्यशास्त्र होगा पंरतु अभी इसे विकसित होना है। ऐसे में परंपरा, इतिहास, संस्कृति, साहित्य आदि पर विचार करते हुए दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को विकसित करने की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी, दलित साहित्य एवं इसके रचनाकारों पर है।

1.1.7 चौथीराम यादव

दलित साहित्य की प्रासंगिकता :

हिन्दी साहित्य के समकालीन परिप्रेक्ष्य में चौथीराम यादव दलित साहित्य का युगांतकारी महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "अब यह स्पष्ट है कि जातिवाद से जर्जरित इस देश की सामाजिक संरचना में कोई भी परिवर्तनकामी सामाजिक आन्दोलन, अम्बेडकरवाद और उनके प्रभाव में लिखे जा रहे दलित साहित्य की उपेक्षा कर सफलता अर्जित नहीं कर सकता।"[1]

चौथीराम यादव दलित विमर्श की आवाज को 'जमाने की आवाज' की संज्ञा देते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि दलित विमर्श हिन्दी साहित्य का वर्तमान है। अब तक किसी भी साहित्यिक आन्दोलन ने जाति व्यवस्था की बर्बरता के खिलाफ संगठित प्रतिरोध नहीं किया था जबकि भारतीय समाज की संरचना को जातिवाद ने जर्जरित कर दिया है। साहित्य का उद्देश्य मनुष्यता को स्थापित करना होता है। चौथीराम यादव के अनुसार दलित विमर्श अम्बेडकर के विचारों से प्रेरणा लेकर मानवीय गरिमा को स्थापित करने वाला विमर्श है। दलित साहित्य की सबसे बड़ी प्रासंगिकता यही है कि वह अम्बेडकरवाद को साहित्य रचना के केंद्र में स्थापित

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, पृ. सं. 09

करता है। चौथीराम यादव के अनुसार "यदि बीसवीं शताब्दी गांधी और मार्क्स के नाम रही तो इक्कीसवीं शताब्दी फिलहाल डॉ. अम्बेडकर की शताब्दी है।"[1]

भारतीय समाज की दूरावस्था का एक प्रमुख कारण चौथीराम यादव धार्मिक जड़ता में देखते हैं। इसलिए वह अम्बेडकर के विचारों एवं दलित साहित्य के महत्त्व को धार्मिक वर्चस्ववाद के खिलाफ चलाए जाने वाले संगठित संघर्ष के रूप में देखते हैं। उन्होंने लिखा, "समाज में गहराई तक फैले हुए धार्मिक वर्चस्ववाद के मकड़जाल को तोड़े बिना दलितों की सामाजिक मुक्ति की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती थी। 25 दिसंबर 1927 को दलित और स्त्री विरोधी मनुस्मृति का जलाया जाना धार्मिक वर्चस्ववाद के विरूद्ध प्रतिरोध का पहला संघर्ष था।"[2]

चौथीराम यादव के अनुसार धार्मिक वर्चस्वववाद समाज में जाति व्यवस्था को मजबूत बनाने का काम करता है एवं प्रकारांतर से जाति व्यवस्था को वैधता प्रदान करता है। दलितों की सामाजिक मुक्ति के लिए धार्मिक वर्चस्ववाद को चुनौती देना आवश्यक था। अम्बेडकर ने मनुस्मृति दहन करके, उसी वर्चस्वता को चुनौती दी। चौथीराम यादव इसे धार्मिक वर्चस्ववाद के खिलाफ प्रतिरोध का पहला संघर्ष मानते हैं। उनके अनुसार आज का दलित साहित्य अम्बेडकर के उस संघर्ष को ही आगे बढ़ाने का काम कर रहा है।

दलित साहित्य की प्रासंगिकता को स्पष्ट करते हुए चौथीराम यादव इसकी ऐतिहासिकता को भी रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार "यदि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो दलित चिंतन की प्रति परंपरा का इतिहास काफी पुराना है। जितनी पुरानी वर्ण-व्यवस्था है, उतनी ही पुरानी उसकी प्रतिरोध की पंरपरा भी। भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास में ऐसे अनेक मोड़ आए हैं जब वर्ण-व्यवस्था में शिथिलता आयी है। इन अवसरों पर सत्ताधारी वर्ग की पकड़ ढीली पड़ जाने के कारण स्थापित मान्यताएँ टूटी हैं और उनके स्थान पर नए मूल्यमानों का विकास हुआ है। विकास की इसी प्रक्रिया में भौतिकवादी चिंतकों चार्वाकों, लोकायतों,

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, पृ. सं. 09

[2] वही, पृ. सं. 18

आजीवकों और बौद्ध आंदोलनों की तरह निर्गुण भक्ति आन्दोलन भी एक स्वाभाविक विकास है।"[1]

चौथीराम यादव दलित चेतना की पहचान उसकी ऐतिहासिकता में करने का प्रयास करते हैं। वह वर्ण व्यवस्था के जितनी ही पुरानी उसके प्रतिरोध की परंपरा को मानते हैं। अर्थात् दलितों का प्रतिरोध समकालीन घटना नहीं है। वर्ण व्यवस्था की अन्यायपूर्ण नीतियों के खिलाफ इतिहास में प्रतिरोध होता रहा है। चौथीराम यादव दलितों के प्रतिरोध की परंपरा को चार्वाक, लोकायत एवं बौद्ध आन्दोलन के साथ जोड़ते हैं। निर्गुण भक्त कवियों द्वारा जाति व्यवस्था के विरूद्ध किए गए प्रतिरोध को भी वे इसी कड़ी में देखते हैं। उनका मानना है कि समय-समय पर हुए इन प्रतिरोधों ने सत्ताधारी वर्ग की क्षमता को कमजोर किया है। इस तरह वह जातिवाद के विरूद्ध होने वाले संघर्षों को वर्चस्वशाली सत्ताधारी वर्ग के खिलाफ हुए प्रतिरोध के रूप में देखते हैं। अर्थ, जाति एवं धर्म पर आधारित वर्चस्वशाली शक्तियाँ ही सत्ताधारी शक्तियाँ थी, जिनके खिलाफ संघर्ष करने का ऐतिहासिक दायित्त्व का निर्वाह कई जन नेताओं एवं जन-आन्दोलनों ने किया।

चौथीराम यादव इसी प्रसंग में आगे लिखते हैं, "ये सभी ब्राह्मणवाद विरोधी ऐसी प्रतिपरंपराएँ हैं जिन्होंने समय-समय पर मानवमात्र की स्वतंत्रता और समानता के लिए वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मण श्रेष्ठता और धार्मिक रूढ़ियों पर कड़े प्रहार किए हैं।"[2] चौथीराम यादव दलित साहित्य एवं अन्य अस्मितावादी साहित्य को मानव मात्र की स्वतंत्रता एवं समानता को स्थापित करने वाला साहित्य मानते हैं। इसलिए वे उन 'प्रतिपरंपराओं' से दलित विमर्श को जोड़कर देखने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार दलित विमर्श जिस आंदोलनात्मक भूमिका का निर्वाह आज कर रहा है, ऐतिहासिक कालक्रम में ऐसे कई आन्दोलन होते रहे हैं। वर्ण व्यवस्था, जातिगत श्रेष्ठता एवं धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर मानव मात्र की समानता एवं स्वतंत्रता की स्थापना करने का प्रयास करना उनके लिए साहित्य को आज के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक बनाता है।

---

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, पृ. सं. 59

[2] वही, पृ. सं. 59

वर्ग और जाति का प्रश्न :

चौथीराम यादव उन आलोचकों में से हैं जो वर्ग और जाति के एकताबद्ध संघर्ष में विश्वास रखते हैं। वह दलित साहित्य का आधार अम्बेडकर के विचारों को मानते हैं, तथा अम्बेडकर की वैचारिकी के निर्माण में मार्क्स की भूमिका को भी रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार "अम्बेडकरवादी विचारधारा के निर्माण में बुद्ध, ज्योतिबा फुले और मार्क्स की विचारधाराओं का प्रभाव भी कहीं-न-कहीं से परिलक्षित होता है। मार्क्स और अम्बेडकर दोनों पूँजीवाद को नंबर एक शत्रु मानते थे और दोनों वर्गविहीन एवं शोषण मुक्त समाज के पक्षधर थे, लेकिन डॉ. अम्बेडकर पूँजीवाद के साथ ही ब्राह्मणवाद को भी किसानों, मजदूरों और अछूतों का प्रबल शत्रु मानते थे। यही कारण है कि एक ओर जहाँ वह पूँजीवाद का विरोध करने के लिए मार्क्स के साथ खड़े दिखाई देते हैं वही दूसरी ओर ब्राह्मणवाद विरोधी अभियान में वे बुद्ध के साथ खड़े हैं।"[1]

चौथीराम यादव मानते हैं कि अम्बेडकर के वैचारिकी के निर्माण में एक तरफ जहाँ बुद्ध और फुले के विचारों का योगदान है तो दूसरी तरफ मार्क्स के विचारों का भी है। अधिकांश दलित चिंतक इस मत के विरोधी हैं। वह अम्बेडकर को मार्क्स से प्रभावित नहीं मानते बल्कि वह अम्बेडकर को मार्क्स के बरक्स खड़ा करने की कोशिश करते हैं। चौथीराम यादव का तर्क है कि अम्बेडकर मार्क्स के विचारों से प्रभावित होने के कारण ही पूँजीवाद को भी पहले दर्जे का शत्रु मानते हैं। पूँजीवाद की विभीषिका को उसकी सम्पूर्णता में सामने लाने का काम सर्वप्रथम मार्क्स ने ही किया। अम्बेडकर समाजशास्त्री के साथ अर्थशास्त्री भी थे, अतः मार्क्स के आर्थिक सिद्धांतों से प्रभावित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। चौथीराम यादव साथ ही यह बात भी जोड़ते हैं कि अम्बेडकर पूँजीवाद के साथ ब्राह्मणवाद को भी पहले दर्जे का शत्रु मानते थे। अम्बेडकर पूँजीवादी और ब्राह्मणवादी दोनों ही व्यवस्था से मुक्ति चाहते थे। भारतीय समाज व्यवस्था की पहचान मार्क्स को न होना, अस्वाभाविक नहीं है। मार्क्स किसानों एवं मजदूरों की मुक्ति के समर्थक थे। चौथीराम यादव के अनुसार अम्बेडकर भी किसानों एवं मजदूरों की मुक्ति के समर्थक थे परंतु अम्बेडकर के लिए अस्पृश्यता एवं जाति का प्रश्न ज्यादा महत्त्वपूर्ण

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, पृ. सं. 10

था। भारतीय समाज व्यवस्था में मार्क्स जिसे सर्वहारा कहते हैं अम्बेडकर के यहाँ अधिकांशतः वही दलित समुदाय के किसान एवं मजदूर हैं।

अतः चौथीराम यादव के अनुसार मार्क्स और अम्बेडकर एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। मार्क्सवाद ने जाति व्यवस्था की अन्यायपूर्ण नीतियों के खिलाफ प्रत्यक्षतः कोई संघर्ष भले ही न चलाया हो परंतु वह शोषित एवं वंचित जनता के संघर्षों के साथ रहा है। चौथीराम यादव का निवेदन है कि मार्क्सवाद का मूल्यांकन सिर्फ इसकी सीमाओं के आधार पर नहीं होना चाहिए। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा, "कुछ दलित चिंतक मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रेरक और सकारात्मक तत्वों को नज़र अंदाज करते हुए उसकी सीमाओं को ही विरोध का आधार मानकर हिन्दी के परंपरागत सौंदर्यशास्त्र की तर्ज पर उसे भी खारिज करने लग जाते हैं तो उनकी अतिवादिता स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को आर्थिक मुक्ति की अपेक्षा कमतर आंकना मार्क्सवाद की सीमा हो सकती है लेकिन क्या आर्थिक मुक्ति के बिना दलित समाज की गरीबी दूर हो जाएगी। ...इतना तो सच है कि दोनों के संघर्ष मुक्तिकामी हैं और सामाजिक मुक्ति की प्राथमिकता के बावजूद दलित समुदाय को अस्पृश्यता और गरीबी दोनों से मुक्त होने के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ेगा।"[1]

चौथीराम यादव दलित चिंतकों की अतिवादिता का विनम्रता से विरोध करते हैं। उनके अनुसार सिर्फ जाति प्रश्न के आधार पर संघर्ष चलाना एवं मुक्ति की कामना करना, इकहरा दृष्टिकोण है। जाति प्रश्न पर ही केंद्रित होने की वजह से दलित साहित्य एवं आन्दोलन का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। चौथीराम यादव मानते हैं सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को आर्थिक मुक्ति के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। दलितों के लिए जितना आवश्यक जाति के बंधन से मुक्त होना है, गरीबी से निजात पाना भी उतना ही आवश्यक है। उनका मानना है कि अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद दोनों का उद्देश्य दलित एवं शोषित जनता की मुक्ति से जुड़ा हुआ है। दोनों ही मुक्तिकामी संघर्ष के समर्थक हैं। अम्बेडकर स्वयं भी सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति के विरूद्ध साझे-संघर्ष के समर्थक थे।

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, पृ. सं. 44

चौथीराम यादव दलित साहित्य की प्रासंगिकता को इसलिए महत्त्व देते हैं क्योंकि वह मनुष्य की स्वतंत्रता एवं समानता का समर्थक है। साथ ही यह मानते हैं कि दलित चिंतकों को अतिवाद से बचते हुए वर्ग और जाति के एकताबद्ध संघर्ष का समर्थन करना चाहिए। तभी एक स्वस्थ एवं समानता पर आधारित समाज का सपना सच हो सकता है।

1.3.3 पी. एन. सिंह

दलित साहित्य की अवधारणा :

पी. एन. सिंह किसी भी साहित्य एवं साहित्यिक आन्दोलन को उसकी संभावना एवं सीमा के आधार पर व्याख्यायित करने वाले आलोचक हैं। दलित विमर्श की संभावना के साथ इसकी सीमाओं को भी वह अपनी आलोचना के द्वारा पहचानने की कोशिश करते हैं। दलित साहित्य के उदय के संबंध में उनका मानना है कि "1985 के आस-पास अंबेडकरी सामाजिक संवेदना राजनीतिक रूप से संगठित हुई और इसी के साथ हिन्दी दलित संवेदना का भी विस्फोट हुआ सदियों की चुप्पी टूटी और वर्णवादी लौह सांचे में सिमटा-जकड़ा, शोषित-पीड़ित, कठुआया दलित मन अम्बेडकरी विचारों एवं आंदोलनों की गर्मी से पिघलता कविता, कहानी, आत्मकथा, सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श, इत्यादि के रूप में फूट पड़ा और दलित साहित्यधारा बह निकली। दरअसल, यह आँसू, पीड़ा, आक्रोश, नफरत, संघर्ष, प्रतिशोध और मुक्ति की छटपटाहट की मिली-जुली धारा थी। इसमें समतावादी समाज का सपना और संकल्प भी था।"[1]

पी. एन. सिंह हिन्दी दलित साहित्य की शुरूआत को संवेदनात्मक विस्फोट के रूप में देखते हैं। इसके पीछे वह अम्बेडकर की वैचारिक संवेदना के राजनीतिक रूप से संगठित होने को मुख्य कारण मानते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक रूप से अम्बेडकर के विचारों के प्रसार ने दलित-मन को सदियों से त्रस्त होने की अभिशप्तता से मुक्त होने का रास्ता दिखाया। वर्णवादी व्यवस्था के अन्याय के खिलाफ दलित साहित्य का विस्फोट हुआ, जिसमें आँसू एवं पीड़ा के साथ

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 15

प्रतिरोध की भावना एवं मुक्ति की बेचैनी भी थी। पी. एन. सिंह का मानना है कि इन सबसे बढ़कर दलित विमर्श में समतावादी समाज का संकल्प और स्वप्न भी था। अम्बेडकर भी स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व के विचारों के समर्थक थे, दलित साहित्य भी उनके आदर्शों पर चलकर समता का समाज बनाने का लक्ष्य केंद्र में लेकर चला।

पी. एन. सिंह दलित साहित्य के प्रस्थान बिंदु को लेकर दलित एवं गैर दलित चिंतकों के मत को, इस संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार "हिन्दी दलित साहित्य के प्रस्थान-बिंदु को लेकर भी मतभेद हैं। गैर-दलित साहित्यकार हिन्दी साहित्य के स्वरूप को बहुलवादी एवं संश्लिष्ट बताते हैं। ...लेकिन दलित साहित्यकार समावेशिता के इस दावे को खारिज करते हैं और हिन्दी साहित्य को 'ब्राह्मणवादी' घोषित करते हैं। इसमें वे अपना चेहरा देखने से इंकार करते हैं।"[1]

पी. एन. सिंह के अनुसार गैर दलित साहित्यकार दलित साहित्य की चेतना की शुरूआत सिद्धों-नाथों से मानते हैं। इसमें वह कबीर, रैदास, प्रेमचंद, निराला, मुक्तिबोध को भी शामिल करते हैं। इनके अनुसार जाति प्रश्न पर पूर्व के इन रचनाकारों ने महत्त्वपूर्ण ढंग से विचार किया था और दलित साहित्य की परंपरा के रूप में इसे चिन्हित किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ दलित साहित्यकार हैं जो दलित साहित्य को अम्बेडकर के विचारों से प्रेरित मानते हैं। इनका मानना है कि दलित साहित्य की शुरूआत अम्बेडकर की प्रेरणा से हुई जो बुद्ध एवं फुले के विचारों से भी प्रभावित है। दलित साहित्यकार गैर दलित प्रगतिशील रचनाकारों एवं आलोचकों के महत्त्व को भी इस संदर्भ में स्वीकार नहीं करते।

पी. एन. सिंह दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास से स्वतंत्र या स्वायत्त मानने का समर्थन नहीं करते। उनका स्पष्ट मानना है कि "प्रगतिशील हिन्दी मनीषा ने साहित्य में दलित प्रवेश की अर्थवत्ता एवं अवदान को अपेक्षित गंभीरता से लिया है। अब इसमें अनेक दलित चेहरे अपनी पहचान और प्रतिष्ठा के साथ उपस्थित हैं। कहा जा सकता है कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य के इतिहास का अद्यतन अध्याय है।"[2] दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास का अद्यतन अध्याय मानना एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। इससे हिन्दी साहित्य

---

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं., 19

[2] वही, पृ. सं. 19

एवं समाज की उन कमियों को समझने का मौका मिलता है, जिसके खिलाफ आज दलित साहित्य एवं आन्दोलन मुखर हैं। इतिहास से अलग करके देखने पर दलित साहित्य एक स्वायत्त विमर्श बन कर रह जाएगा, इससे दलित साहित्य एवं गैर दलित साहित्य दोनों ही प्रभावित होंगे। पी. एन. सिंह के अनुसार दलित साहित्य परंपरा के नकार के साथ उसके सकारात्मक पहलुओं को स्वीकार करके ही, अर्थवान सिद्ध हो सकता है।

पी. एन. सिंह दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य का ही विस्तार मानते हुए यह भी स्वीकार करते हैं कि दलित साहित्य की मूल प्रेरणा अम्बेडकर के विचार ही हैं। वह लिखते हैं, "आज का दलित अनिवार्यतः अम्बेडकरवादी है। वह अपने समर्थन में कबीर, फुले और पेरियार को भी उद्धत करता है, लेकिन उसका भावनात्मक लगाव अपने बाबासाहब अम्बेडकर से ही है।"[1]

दलित विमर्श की सीमाएँ :

पी. एन. सिंह का मानना है कि हिन्दी का दलित साहित्य मराठी के दलित साहित्य से न भिन्न हो पाया है और न ही आगे बढ़ पाया है। उनके अनुसार "हिन्दी दलित संवेदना मराठी दलित साहित्य संवेदना से स्वयं को भिन्न और विशिष्ट नहीं बना पायी। इसके पास भी 'दलित पैंथर्स' का भड़कीला आक्रोश, प्रतिशोध और निषेध भाव है, जबकि उत्तरी भारत के सामाजिक यथार्थ भिन्न थे और यहाँ सामाजिक समावेशिता व्यापक थी।"[2]

पी. एन. सिंह के अनुसार मराठी दलितवादी स्थापनाओं को स्वीकार करना हिन्दी के दलित विमर्श की एक प्रमुख सीमा है। इसी कारण 'स्वानुभूति' और 'परानुभूति' का विवाद हिन्दी के दलित विमर्श में शुरू हुआ और दलित विमर्श की व्यापकता सीमित हुई। पी. एन. सिंह का यह भी मानना है कि मराठी दलित संवेदना के अनुकरण की जगह दलित चिंतकों को हिन्दी क्षेत्र के सामाजिक यथार्थ एवं सामाजिक समावेशिता पर विशेष ध्यान देना चाहिए था। इस पहलू पर ध्यान न दिए जाने के कारण ही दलित विमर्श को विरोध का सामना करना पड़ा एवं

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 87

[2] वही, पृ. सं. 21

परिणामस्वरूप दलित विमर्श ने अपने चारों तरफ एक चहारदीवारी बुनने को ज्यादा महत्त्व दिया।

पी. एन. सिंह का मानना है कि समकालीन दलित साहित्य पर्याप्त रूप में अपनी उपस्थिति हिन्दी साहित्य में दर्ज कर चुका है। हिन्दी साहित्य ने भी उसे स्वीकार कर लिया है परंतु दलित साहित्य के अंतर्गत अपेक्षित विकास का अभाव दिखाई पड़ता है। पी. एन. सिंह ने लिखा है, "हिन्दी दलित साहित्यकार यह भी भूलता-सा लगता है कि मौलिकता, दरअसल, कथ्यात्मक, अन्वेषण, शिल्प की नवता और अभिव्यक्ति की क्षमता में निहित है। ...बार-बार एहसास होता है कि दलित साहित्य अब कथ्यात्मक थकान का शिकार है। संभवतः 'स्वानुभूति' में सिकुड़े रहने का यह परिणाम है। इस लक्ष्मण-रेखा ने अन्यों के अनुभवों एवं संवेदनशीलताओं के प्रति इसे उदासीन बनाया है।"[1]

पी. एन. सिंह का मानना है कि दलित साहित्य दोहराव का शिकार हो रहा है और इसमें मौलिकता का अभाव दिखाई पड़ता है। इसके पीछे वह मुख्य कारण दलित साहित्य को 'स्वानुभूति' तक ही सीमित रखने को मानते हैं। दलित साहित्य से वह नए कथ्यात्मक अन्वेषण की अपेक्षा रखते हैं जिसमें शिल्पगत नवीनता एवं अभिव्यक्ति की नई क्षमताएँ शामिल हों। शिल्पगत नवीनता की माँग परंपरागत सौंदर्यशास्त्रीय का अनुसरण की माँग मात्र नहीं है। दलित साहित्य अब अपनी किशोरावस्था से बाहर आ चुका है। इसके रचनाकार भी अब रचनात्मक स्तर पर प्रौढ़ हुए हैं। ऐसे में उसे अपने प्रारंभिक अवस्था की रचनाओं से शिल्प एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर ज्यादा सशक्त होना है। इसकी कमी पी. एन. सिंह को समकालीन दलित साहित्य में दिखाई पड़ती है। दलित साहित्य से वह अन्यों की संवेदनशीलता से जुड़ते हुए समावेशी होने की भी अपेक्षा रखते हैं, जिसके अभाव में दलित साहित्य का परिदृश्य उन्हें संकुचित होता जान पड़ता है।

इसी संदर्भ में पी. एन. सिंह विधागत प्रश्नों को भी उठाते हैं। उनका मानना है कि 'स्वानुभूति' की लक्ष्मण-रेखा ने दलित साहित्य को विधा के स्तर पर भी संकुचित किया है। उन्होंने लिखा है, "आश्चर्य नहीं, इसकी उपलब्धि का दायरा छोटी कविताएँ, कहानियाँ और आत्मकथाओं तक सीमित है। दलितवादी साँचे में

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 21

उपन्यास, नाटक एवं प्रबंध-काव्य जैसी विधाओं में अभी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बहुत कम हैं। उपन्यास और नाटक के लिए कल्पना और अनुभव का जो विस्तीर्ण फलक और निर्वैयक्तिकता चाहिए वह अभी इसके पास नहीं है।"[1]

पी. एन. सिंह के अनुसार दलित साहित्य का छोटी कविताओं, कहानियों एवं आत्मकथा विधा तक ही सीमित रहना कल्पना के अनुभव के संकुचित होने का परिणाम है। जबकि कई दलित चिंतक कल्पना को साहित्य रचना के लिए सर्वथा अनुचित मानते हैं। कल्पना की जगह वह यथार्थ चित्रण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। पी. एन. सिंह का मानना है कि दलित साहित्य को अपनी विधागत एकरूपता का अतिक्रमण करना होगा। इसके अभाव में दलित साहित्य सिर्फ एक समुदाय विशेष का साहित्य बन कर रह जाएगा। वह दलित साहित्य के अंतर्गत निर्वैयक्तिकता का भी प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार उपन्यास, नाटक आदि विधाओं के अभाव का एक कारण यह भी है। इस कारण दलित रचनाकार सिर्फ दलितों की समस्याओं तक ही अपने आप को सीमित कर लेते हैं जबकि समाज में अन्य दलित-शोषित वर्ग भी मौजूद हैं। पी. एन. सिंह दलित साहित्य से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी विधागत संकुचन का उदारता एवं पूरी प्रतिबद्धता के साथ विस्तार करे।

पी. एन. सिंह दलित विमर्श की एक और सीमा का उल्लेख करते हुए दलित विमर्श को 'विशुद्ध जाति नैतिकता' से बाहर आने का विचार प्रस्तावित करते हैं। उनके अनुसार "विशुद्ध वर्ग-नैतिकता कभी नैतिक नहीं हो सकती। यही बात जाति-नैतिकता के बारे में भी सच है।"[2] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए इसी संदर्भ में वह आगे लिखते हैं, "रूस एवं अन्य देशों में श्रमिक सत्ता के बलबूते श्रमिक विश्व-बोध को राष्ट्र-बोध के रूप में स्थापित करने की पुरजोर कोशिशें हुईं, लेकिन अन्ततः उसके विरूद्ध विद्रोह हो गया, क्योंकि समाज केवल श्रमिकों का नहीं होता। इसी प्रकार भारतीय समाज भी केवल दलितों का समाज नहीं बन सकेगा और इसी कारण दलित-बोध भी राष्ट्र-बोध का रूप नहीं ले पाएगा।"[3]

पी. एन. सिंह का मानना है कि समाज में प्रतियोगी विश्वबोध हमेशा रहेंगे, जिसके साथ तालमेल बैठाना आवश्यक है। इसमें सह अस्तित्व और संघर्ष दोनों

---

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 21-22

[2] वही, पृ. सं. 84

[3] वही, पृ. सं. 84

होंगे। उनके अनुसार दलित चिंतन को विशुद्ध जाति नैतिकता एवं दलित-बोध को भारतीय राष्ट्र का एकमात्र विश्वबोध मानने की सोच से बाहर आना होगा। किसी एक विश्व-बोध को किसी राष्ट्र के ऊपर आरोपित करना उचित नहीं है, वह भी एक ऐसे समाज में जहाँ विभिन्न जाति एवं वर्ग निवास करते हों। पी. एन. सिंह का मानना है कि दलित विमर्श के लिए अपनी प्रतिबद्धता से जुड़े रहते हुए उदारता दिखाना भी आवश्यक है।

वह अपनी अपेक्षा दलित रचनाकारों एवं चिंतकों के सामने रखते हुए लिखते हैं, "दलित जागरण के पुरस्कर्ताओं से एक आग्रह और है। अब दलित-बोध अपनी पहचान पा चुका है। अब यह शासकीय बोध होने का दावा भी कर सकता है। अतः अब इस जागरण के उन्नायकों की यह जिम्मेदारी है कि बाबासाहब के राष्ट्रीय आयामों को भी उभारें और राष्ट्रीय जागरण के अन्य स्वीकृत प्रतीकों के प्रति अपेक्षित सकारात्मक दृष्टि विकसित करें।"[1]

अंततः पी. एन. सिंह दलित विमर्श से यह अपेक्षा करते हैं कि वह निषेध और प्रतिशोध की भावना का अतिक्रमण कर सकारात्मक रूख का अन्वेषण करे। चूँकि दलित चिंतन अब परिपक्व हो चुका है, इसलिए अब इसके सामने दायित्त्व और चुनौतियाँ भी बड़ी हैं। अम्बेडकरवादी विचारधारा को सकारात्मक रूप से राष्ट्रीय स्तर पर विकसित करना तथा अन्य राष्ट्रीय चिंतकों एवं उनके विचारों के प्रति सम्मान भाव प्रदर्शित करना भी आवश्यक है। दलितों की चिंता को राष्ट्र की चिंता के साथ सम्मिलित करना पी. एन. सिंह के अनुसार दलित-बोध का अब लक्ष्य होना चाहिए।

दलित विमर्श की प्रासंगिकता :

दलित विमर्श की सीमाओं को रेखांकित करते हुए वह दलित साहित्य का सर्वथा विरोध नहीं करते। पी. एन. सिंह दलित साहित्य एवं विमर्श के महत्त्व को समझते हुए ही, दलित साहित्य की सीमाओं का उल्लेख आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में दलित साहित्य की प्रासंगिकता निर्विवाद है। उन्होंने लिखा, "अनेक सारी सीमाओं के बावजूद दलित चिंतन एवं सृजन की उपलब्धियाँ हैं। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसके 'विखंडनकारी' तेवर ने पारम्परिक एवं

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 84

जनवादी मनीषा दोनों ही को अपनी सीमाओं के प्रति संवेदनशील बनाया है।...इधर तल्ख दलित प्रतिक्रिया ने हिन्दू समाज की सोच एवं आचरण की जड़ता को झकझोरा है। पारम्परिक वर्णाधारित समाज की विसंगतियाँ अब सामने हैं। जड़ एवं मगरूर सवर्णियत को धक्का लगा है और यह भी अपने स्थापित मूल्यों एवं प्रतीकों के पुनर्मूल्यांकन की समस्या से रूबरू हैं।"[1]

परंपरावादी एवं जनवादी मनीषा को उनकी सीमाओं का अहसास करवाना एवं पुनर्विचार के लिए बाध्य करना दलित विमर्श की उपलब्धि है। पी. एन. सिंह के अनुसार सदियों से 'महानता' एवं 'सनातनता' के गुणगान के नाम पर एक विशेष वर्ग के हितों को ही ध्यान में रखा गया। इस कारण दलित जातियों पर पड़ने वाले अन्यायपूर्ण प्रभावों को महसूस ही नहीं किया गया। इसलिए पी. एन. सिंह दलित चिंतन एवं सृजन की सबसे बड़ी उपलब्धि हिन्दू समाज में आलोचनात्मक बोध को विकसित करने के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार इसी आलोचनात्मक बोध के अभाव में सवर्ण समुदाय जड़ एवं अहंकारी होता गया। ब्राह्मणवादी विचारों का समर्थक बना रहा। उनके अनुसार दलित विमर्श ने उसकी रूढ़ सोच को एक धक्का देने का कार्य तो किया ही है।

पी. एन. सिंह के अनुसार दलित विमर्श की उपेक्षा अब और संभव नहीं है। अपनी सीमाओं के बावजूद इसने साहित्य रचना के फलक को लोकतांत्रिक बनाने का कार्य किया है। पी. एन. सिंह दलित रचनाशीलता के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "अब इसमें केवल पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं है, केवल फटकार अथवा शिकायत नहीं है, बल्कि परिवर्तन और नवनिर्माण की उदग्र आकांक्षा भी है। इतना ही नहीं, इसने पारम्परिक एवं जनवादी सोच को अपनी आकांक्षाओं के दायरे में यथासंभव ढलने के लिए विवश किया है।"[2]

पी. एन. सिंह का स्पष्ट मानना है कि आज दलित विमर्श से संवाद स्थापित किए बिना साहित्यिक और सामाजिक सृजन संभव नहीं है। दलित विमर्श परिवर्तन और नवनिर्माण की आंकाक्षा और संकल्प से पूर्ण है। दलित रचनाशीलता ने अब तक स्थापित साहित्यिक मानदंडों और सामाजिक मूल्यों की सार्थक आलोचना करते हुए इस पर पुनर्विचार के लिए प्रगतिशील चिंतकों एवं रचनाकारों को भी

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 229-30

[2] वही, पृ. सं. 230

मजबूर किया है। पी. एन. सिंह के अनुसार आज दलित चिंतन शिकायत से ज्यादा पुनर्निर्माण का पक्षधर है। इसलिए पारम्परिक एवं जनवादी सोच को दलित चिंतन की तरफ अभिमुख होना पड़ा है। यह समाज की बेहतरी के पक्ष में है कि दलित एवं शोषित समुदाय को समाज एवं साहित्य में सम्मानीय भूमिका प्राप्त हो।

पी. एन. सिंह दलित विमर्श की सबसे बड़ी उपलब्धि को रेखांकित करते हुए लिखते हैं, "दलित साहित्य ने मायूसी को तोड़ा है, उसने पुनः साहित्य को जन-शिक्षण, जन-आकांक्षाओं से जोड़ने की कोशिश की है। इसने नये अनुभव खंडों से साक्षात्कार कराया है। राजेंद्र यादव का कथन कि समूचा हिन्दी साहित्य सवर्ण और वर्चस्ववादी साहित्य है, में भले ही आंशिक सत्य हो, लेकिन उनका यह दावा कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य को जनवादी बनायेगा, समग्रतः स्वीकार्य है।"[1]

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन द्वारा यथास्थितिवाद को तोड़ना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। पी. एन. सिंह के अनुसार दलित विमर्श का यह बहुत बड़ा योगदान है कि उसने हिन्दी समाज की मायूसी को तोड़ने के साथ साहित्य को सीधे जनता से जोड़ने का काम किया है। यह साहित्य का जनतंत्रीकरण है। इसलिए वह राजेंद्र यादव की इस बात से सहमत हैं कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य को जनवादी बनायेगा। हाल के वर्षों में जिस तरह साहित्य और समाज की दूरी बढ़ी है, वह चिंता का प्रश्न है। दलित विमर्श का सशक्त हस्तक्षेप इस दूरी को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

इस तरह पी. एन. सिंह दलित विमर्श की सीमाओं के साथ उसके महत्त्व को भी रेखांकित करते हैं। पी. एन. सिंह का यह प्रबल विश्वास है कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य को जनवादी बनायेगा। इसलिए वह दलित विमर्श से अपेक्षा रखते हैं कि वह इस ऐतिहासिक भूमिका को समझते हुए अपनी संकीर्णताओं को दूर करने का प्रयास करे। पी. एन. सिंह की अपेक्षा है कि दलित साहित्य सिर्फ दलितों का न रहकर सबका साहित्य बने। इसलिए इस संदर्भ में वह लिखते हैं, "थोड़ी प्रकृति, थोड़ा आत्मीय स्पर्श या प्रेम, अपने से भिन्न के प्रति थोड़ी सहिष्णुता अर्थात् स्वनिर्मित सीमा के पार के दुःख, पीड़ा, विवशता को अपेक्षित तटस्थता से देखने-समझने का सब्र भी एक भरे-पूरे साहित्य के लिए आवश्यक है। अनुभवों एवं

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 230

अनुभूतियों की विविधता से दलित भाव-बोध में विस्तार होगा और उसकी कल्पना में 'युनिवर्सैलिटी' आयेगी और तभी यह साहित्य सबका बनेगा।"[1]

पी. एन. सिंह दलित साहित्य से अनुभवों एवं अनुभूतियों के संसार को विस्तृत करने की अपेक्षा रखते हैं। उनका मानना है कि इससे दलित साहित्य दलितेतर तबकों से भी सार्थक संवाद स्थापित कर पाएगा। ऐसे में वह दलित समुदाय के साथ व्यापक समुदाय की आवाजों का प्रतिनिधित्व कर पाएगा। पी. एन. सिंह की चिंता यह भी है कि अगर ऐसा नहीं हो सका तो दलित विमर्श सामाजिक मुक्ति की अपनी ऐतिहासिक भूमिका से दूर चला जाएगा। पी. एन. सिंह के अनुसार यह दलित साहित्य के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के लिए भी अहितकर होगा। उन्हें उम्मीद है कि दलित साहित्य आने वाले समय में अपनी इस ऐतिहासिक भूमिका का सार्थक ढंग से निर्वाह अवश्य करेगा।

इसके साथ समकालीन हिन्दी आलोचना के कई और प्रगतिशील आलोचकों ने भी दलित विमर्श पर विचार किया है। रामविलास शर्मा की तरह नामवर सिंह भारतीय संस्कृति एवं परंपरा को एक संश्लिष्ट इयत्ता के रूप में देखते हैं जिसके निर्माण में अवर्णों-सवर्णों सबका योगदान है और इसे वे विकासमान बताते हैं। दोनों ही वर्ण केन्द्रित दलित सोच एवं लेखन को वर्गाधारित देखना चाहते हैं, क्योंकि वर्ग चेतना के अभाव में वर्ण विरोध समाजघाती ध्रुवीकरण को प्रोत्साहित करने वाला होता है। दोनों की दृष्टि में मूल समस्या भूमि और पूँजी के संकेंद्रण तथा रोजी-रोटी की अनुपलब्धता की है। रामविलास शर्मा 'सहानुभूति' बनाम 'स्वानुभूति' जैसी बहस को अप्रासंगिक बताते हैं क्योंकि "साहित्यकार साहित्यकार है चाहे वह किसी भी जाति या धर्म का हो।"[2] रामविलास शर्मा 'भाषा को सामाजिक विरासत के रूप में देखते हैं जिसके निर्माण में विभिन्न वर्गों एवं वर्षों की भूमिका है। यही नहीं, दलित लेखन को साहित्यिक भाषा सीखनी और विकसित करनी ही होगी क्योंकि सिर्फ गाली और आक्रोश से साहित्य नहीं बना करता।'[3]

---

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 231

[2] कथन, अक्टूबर-दिसम्बर, 1998, पृ. सं. 59

[3] वही, पृ. सं. 59-60

नामवर सिंह हिन्दी दलित विमर्श को मराठी की कलम मानते हैं। उनके अनुसार "...मूल पौधा तो मराठी का है, अब हिन्दी में यह 'कलम' अच्छी लगे।"[1] नामवर सिंह दलित लेखन को साहित्यिक गुणवत्ता के नाम पर कोई छूट नहीं देता चाहते। उनके अनुसार "साहित्य में आरक्षण नहीं हो सकता और न हो सकेगा। साहित्य का सिद्धांत रहा कि रचना को देखो, रचनाकार को मत देखो। कबीर ने कहा 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान... देखो यह कि रचना क्या कहती है। साहित्य का यह सिद्धांत रहा है और इसे मैं मानता हूँ।"[2]

नामवर सिंह स्वानुभूति और सहानुभूति जैसे प्रश्नों को गैर साहित्यिक मानते हैं। वह दलित विमर्श की इस बात के लिए भी आलोचना करते हैं कि वह जन्मना दलित द्वारा किए गए लेखन को ही दलित-लेखन मानता है। लेनिन के माध्यम से वह इसका प्रत्याखान करते हुए लिखते हैं, "लेनिन ने सिद्धांत दिया कि मजूदर वर्ग में पैदा होने से ही कोई मजदूर वर्ग की चेतना का वाहक नहीं हो जाता। ...लेनिन कहते हैं कि मजदूर वर्ग की चेतना तभी क्रांतिकारी चेतना होगी जब वह पूरे समाज की मुक्ति चाहती हो। यह बात 'वर्गवाद' और 'वर्णवाद' दोनों का विरोध करती है। आप यदि दलितों की मुक्ति में संपूर्ण मानवता की मुक्ति के कामी हैं तो यह मानवतावादी विचारधारा है अन्यथा उसकी संकीर्णता और एकांगिता स्पष्ट है।"[3] नामवर सिंह के अनुसार संपूर्ण मानवता की मुक्ति की भावना किसी व्यक्ति या लेखक को 'वर्ग' या 'वर्ण' की सीमा से परे ले जाती है। वहाँ इस तरह का विवाद ही संभव नहीं है। नामवर सिंह दलित विमर्श को प्रोत्साहन देने में फोर्ड फाउंडेशन की भूमिका का भी प्रश्न उठाते हैं।

इन सारी आपत्तियों के बावजूद वह दलित साहित्य के सकारात्मक भूमिका को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, "यह सत्य है कि इस बीच स्वयं दलित लेखकों की रचनाओं से दलित समाज का यथार्थ गंभीर रूप में सामने आया है। उनकी रचनाओं में, जिसे किसी समय 'भोगा हुआ यथार्थ' कहा जा सकता था, दिखायी देता है। उस यथार्थ से इन लोगों ने अपनी पीड़ा के बीच एक साहित्य पैदा

[1] रामकली सर्राफ (संपा.), दलित लेखन के अन्तर्विरोध, पृ. सं. 13

[2] कथन, अक्टूबर-दिसम्बर, 1998, पृ. सं. 65

[3] रामकली सर्राफ (संपा.), दलित लेखन के अन्तर्विरोध, पृ. सं. 19

किया है। उसमें जो ओज है, जो ताप है, जो पीड़ा है, साथ ही जो आक्रोश है और संघर्ष की मुद्रा है- इससे पहले हिन्दी साहित्य में नहीं थी।"[1]

दलित साहित्य की इस ऐतिहासिक भूमिका को हिन्दी साहित्य के अंतर्गत ही स्वीकार करते हैं । उनके लिए बड़ा सवाल दलितों द्वारा लेखन नहीं, बल्कि दलितों के बारे में लेखन है। इसलिए वह चाहते हैं कि 'रिप्रेजेन्टेशन' के सवाल पर गंभीरता से विचार होना चाहिए। उनके अनुसार "इस समस्या पर दलितों और गैर दलितों के बीच संवाद होना बहुत जरूरी है। यह दलित साहित्य के लिए जरूरी है और जो गैर दलित साहित्य है उसके उत्कर्ष के लिए भी जरूरी है।"[2] इस तरह नामवर सिंह दलित साहित्य या विमर्श को स्वायत्त नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य के अविच्छिन्न अंग के रूप में स्वीकार करते हैं।

राजेंद्र यादव बहुप्रचारित भारतीय संस्कृति को मूलतः ब्राह्मणवादी एवं हिन्दी साहित्य को वर्णवादी साहित्य मानते हैं। इसलिए वह दलित विमर्श को नयी रचनात्मक ऊर्जा प्रदान करने वाले के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार "हम कह सकते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य का अंग ही नहीं है बल्कि हिन्दी को जड़ता से निकालने वाला साहित्य है। हिन्दी को जनवादी बनाएगा नयी प्रेरणा के लिए स्त्रोत को खोलेगा । यह हिन्दी साहित्य के 'इकहरापन' और 'हवाईपन' को चेक करेगा।"[3] राजेंद्र यादव उस स्थिति की कल्पना करते हैं जब दलित लेखन मुख्यधारा के लेखन को ही दरकिनार कर सकता है जो मराठी साहित्य में हुआ। अतः राजेंद्र यादव चाहते हैं कि 'भारत में मार्क्सवाद वर्ग की अपेक्षा वर्ण को गहराई से समझे और तभी यह इतिहास की सबसे बड़ी परिवर्तनकामी शक्ति बन सकता है।'[4] ये सभी आलोचक हिन्दी में दलित लेखन एवं विमर्श को एक परम्परा के रूप में देखते हैं। यह विकासमान भारतीय चेतना की वह परम्परा है जो बौद्धों, सिद्धों, नाथों, संतों-भक्तों, नवजागरण एवं राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम, मार्क्सवाद तथा अम्बेडकर के विचारों से प्रभाव ग्रहण करता है । सम्प्रति दलित लेखन एवं विमर्श उसी परम्परा की एक अद्यतन अभिव्यक्ति है।

---

[1] नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, पृ. सं. 185

[2] वही, पृ. सं. 186

[3] कल के लिए, दिसंबर 1998, पृ. सं. 80

[4] वही, पृ. सं. 62-63

1.2 दलित विमर्श और प्रमुख आलोचक

हिन्दी आलोचना की एक समृद्ध परम्परा रही है। हिन्दी आलोचना में वही आलोचना कालजयी हुई है जिसका जनता के साथ सीधा संबंध रहा है। दलित आलोचना उसी परंपरा को आगे बढ़ाने का काम पूरे दायित्त्व के साथ कर रही है। समकालीन दलित आलोचना उसी आलोचना का विस्तार है जो भारतेंदु से शुरू होकर बालकृष्ण भट्ट, रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, मलयज, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि जैसे जन सरोकारों से जुड़े आलोचकों के सहारे विकसित होती आई है।

साधारण जन की उपस्थिति साहित्य को कालजीवी बनाती है और साधारण जन की आशा, आकांक्षाओं और संघर्ष को स्वर देने से आलोचना कालजयी बनती है। भारतेंदुयुगीन साहित्य का जुड़ाव साधारण जनता से था। जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप साहित्य लिखने का दबाव भारतेंदुयुगीन रचना को मनुष्य और समाज से जोड़ता है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य का परिप्रेक्ष्य शास्त्र न होकर मनुष्य और समाज है। भारतेंदु युग में साहित्य के इस लोकतंत्रीकरण की रचनात्मक अभिव्यक्ति भारतेंदु की रचनाओं द्वारा होती है और सैद्धांतिक अभिव्यक्ति बालकृष्ण भट्ट के निबंधो द्वारा। बालकृष्ण भट्ट सबसे पहले साहित्य की सामाजिकता को रेखांकित करने वालों में से थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम लिखा, "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।"[1] बालकृष्ण भट्ट आलोचना को उसकी नींव में ही जनसमूह से जोड़ देते हैं। यह आलोचना की भूमि तैयार करने का ही कार्य है। जनसमूह को केंद्र में रखकर जो आलोचना विकसित हुई, उसी ने साहित्य और आलोचना दोनों को अब तक महत्त्वपूर्ण बनाए रखा है। दलित आलोचना भी 'जनसमूह' को अपनी विधायी शक्ति बनाती है। देवेन्द्र चौबे ने समकालीन हिन्दी आलोचना के बारे में ठीक नोट किया है, "हिन्दी की यह नई आलोचना जिस समाज और साहित्य की चिंता से हमारा परिचय कराती है, वह है पिछले दो-तीन दशकों में भारतीय परिदृश्य में उभरा दलित समाज और उनके द्वारा रचित साहित्य।"[2]

"हिन्दी में दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं की शुरूआत यद्यपि कबीर, रैदास, हीरा डोम, निराला, प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों से होती है,

---

[1] बालकृष्ण भट्ट, हिन्दीप्रदीप, जुलाई 1881, पृ. सं. 5

[2] देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, पृ. सं. 194

लेकिन उनकी रचनाओं की पहचान दलित साहित्य के रूप में कम, हाशिये अथवा निम्नवर्गीय समाज पर केंद्रित साहित्य के रूप में अधिक होती है।"[1] हिन्दी में दलित साहित्य के संगठित उभार के कारणों का उल्लेख करते हुए देवेन्द्र चौबे लिखते हैं, "1960 के आस-पास मराठी में दलित आन्दोलन के उभार के साथ ही धीरे-धीरे हिन्दी में दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं का आना शुरू हुआ तथा 1980 तक आते-आते हिन्दी में दलित साहित्य के रूप में रचनाएँ स्थापित होनी शुरू हो गई। इसी बीच 1976 में नागपुर में पहली बार दलित साहित्य सम्मेलन का आयोजन हुआ तथा इस आयोजन ने यह सिद्ध कर दिया कि दलित साहित्य के आन्दोलन की प्रक्रिया अब धीमी नहीं, तेज होगी। इसी दौरान हिन्दी में दलितों द्वारा हिन्दू समाज और साहित्य की परंपरा के प्रति विद्रोह के रूप में छिटपुट लेखन की शुरूआत हुई, जिसने धीरे-धीरे एक विशेष प्रकार के साहित्य के रूप में अपनी पहचान स्थापित की।"[2]

1995 में मोहनदास नैमिशराय की पहली दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' का प्रकाशन होता है। तत्पश्चात् ओमप्रकाश वाल्मीकि की बहुप्रसिद्ध और बहुपठित आत्मकथा 'जूठन' का प्रकाशन 1996 में होता है। 'जूठन' का प्रकाशन दलित साहित्य के लिए प्रस्थान बिंदु की तरह है। इसके बाद दलित साहित्य में कई रचनाकारों का आगमन होता है। बजरंग बिहारी तिवारी का मानना है कि दलित विमर्श के उत्थान और विकास की पृष्ठभूमि में प्रतिरोध की एक पूरी परम्परा रही है। इस संदर्भ में वह लिखते हैं, "दलित विमर्श जिस जमीन पर खड़ा है उसके निर्माण में भारत की प्रतिरोधी परम्परा ने अहम् भूमिका निभाई है। नास्तिकों, बौद्ध दार्शनिकों, मध्यकालीन संतों से लेकर, आधुनिक काल के दो महान् व्यक्तियों ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब अम्बेडकर ने ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती दी और एक वैकल्पिक समाज का ढाँचा प्रस्तुत किया। दलित विमर्श को यह समृद्ध विरासत हासिल हुई। ...वेदना नकार और विद्रोह इस साहित्य की पहचान है।"[3]

अधिकांश दलित चिंतक हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित साहित्य को नवोदित अध्याय मानते हैं। बहुत से दलित चिंतकों का मानना है कि दलित

---

[1] देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, पृ. सं. 57

[2] वही. पृ. सं. 57

[3] बजरंग बिहारी तिवारी, दलित साहित्य : एक अंतर्यात्रा, पृ. सं. 29

साहित्य अभी सृजन के दौर से गुजर रहा है इसके बावजूद यह सुखद आश्चर्य है कि दलित साहित्य में महत्त्वपूर्ण आलोचना का सृजन हो रहा है। इतने कम समय में दलित साहित्य के अंतर्गत आलोचना विधा के उभार के कारणों को स्पष्ट करते हुए हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं, "ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि दलित साहित्य अपने जन्मकाल से ही आलोचना, प्रति-आलोचना और विमर्श का शिकार है। मुख्यधारा के साहित्य की ओर से किए जाने वाले सवाल और शंकाओं के जवाब खुद दलित साहित्यकारों को ही देना पड़ा है। ...अतः जो दलित रचनाकार हैं, वे दलित साहित्य के अच्छे आलोचक और समीक्षक भी हैं।"[1]

आज दलित साहित्य में कई प्रमुख आलोचक हैं, जिन्होंने दलित साहित्य के साथ आलोचना को भी साथ-साथ विकसित किया है। इनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, कंवल भारती, विमल थोरात, जयप्रकाश कर्दम, डॉ. एन. सिंह, श्यौराज सिंह बेचैन, तेज सिंह, अनिता भारती आदि प्रमुख हैं। इनके आलावा गैर दलित कहे जाने वाले आलोचक भी हैं जिन्होंने पूरी ईमानदारी से दलित साहित्य पर विचार करने का प्रयास किया है। इनमें राजेंद्र यादव, मैनेजर पाण्डेय, पी.एन.सिंह, चमनलाल, देवेन्द्र चौबे, बद्रीनारायण, बजरंग बिहारी तिवारी आदि प्रमुख हैं।

शोध की आवश्यकता एवं लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ दलित साहित्य के कुछ प्रमुख आलोचकों एवं दलित विमर्श की मूल प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। यहाँ मुख्य उद्देश्य दलित विमर्श की मूल प्रवृत्तियों एवं उसके उद्देश्यों को उद्घाटित करना है।

1.3.1 ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के प्रमुख आत्मकथाकार, कहानीकार, कवि होने के साथ एक प्रमुख आलोचक भी हैं। 'जूठन' के प्रकाशन के बाद आत्मकथाकार को कई तरह के प्रश्नों से संघर्ष करना पड़ा था। उसी संघर्ष की परिणति उनका आलोचना कर्म है। एक आलोचक के रूप में उन्होंने दलित विमर्श की सैद्धांतिकी को विकसित करने के साथ, दलित साहित्य एवं आलोचना की

[1] हरिनारायण ठाकुर, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. सं. 521

प्रतिबद्धता को भी स्थापित करने का प्रयास किया है । 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' की भूमिका में वह लिखते हैं, "दलित साहित्य की अवधारणा क्या है ? उसकी प्रासंगिकता क्या है ? दलित चेतना का अर्थ क्या है ? आदि सवाल दलित गैर दलित रचनाकारों, आलोचकों, विद्वानों के बीच उठते रहे हैं ।"[1] इन्हीं सारे प्रश्नों का जवाब ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आलोचना से देने का प्रयास करते हैं।

दलित साहित्य की अवधारणा :

दलित साहित्यकार एवं आलोचकों को आखिर नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता क्यों पड़ी ? यह एक विचारणीय प्रश्न है और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने यथासंभव इस प्रश्न पर विचार करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार "सौंदर्यशास्त्र की विवेचना में सौंदर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक को प्रमुख माना है विद्वानों ने जबकि सौंदर्य के लिए सामाजिक यथार्थ एक विशिष्ट घटक है । कल्पना और आदर्श की नींव पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता है । साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारूण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं। यदि कबीर आज भी प्रासंगिक लगता है तो वे सामाजिक स्थितियाँ ही हैं जो कबीर को प्रासंगिक बनाती हैं।"[2]

यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि दो बातों को साहित्य की प्रासंगिकता के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं । पहली, वैचारिक प्रतिबद्धता एवं दूसरी, वर्तमान की दारूण विसंगतियाँ। प्रकारांतर से वह पूर्वनिधारित सौंदर्यशास्त्र की कसौटियों को खारिज करते हैं और आलोचना के मानदण्ड के लिए भी इन दोनों बातों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यहाँ पर मार्क्स का वह बहुप्रसिद्ध कथन याद आता है कि 'वह किसी व्यक्ति की चेतना नहीं होती जो उसके अस्तित्व को तय करती है, बल्कि इसके विपरीत यह उनका सामाजिक अस्तित्व है जिससे उनकी चेतना तय होती है ।' ओमप्रकाश वाल्मीकि की विचारधारा वाली बात को थोड़ा विस्तार देते हुए, मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में अगर कहा जाए तो "आलोचना एक विचारधारात्मक गतिविधि है। ...जिसे सौंदर्यबोध कहा जाता है उसका भी विचारधारा से एक रिश्ता बनता है। ...हम जिसे सौंदर्यबोधीय पसंद या चुनाव कहते हैं वह प्रायः विचारधारात्मक होता है । इसलिए किसी कविता का एक बिम्ब एक विचारधारा वाले लोगों को पसंद

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 09

[2] वही, पृ. सं. 09 -10

आता है वह दूसरी विचारधारा वाले लोगों को पसंद नहीं आता । विचारधारा की भिन्नता के कारण ही 'गोदान' में मातादीन और सिलिया का प्रेम प्रसंग कुछ लोगों को महत्त्वपूर्ण लगता है तो कुछ को वह चिढ़ाता है ।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित आलोचक हैं और मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवादी, इसके बावजूद आलोचना के संदर्भ में दोनों के मत एक से हैं । कोई भी जनपक्षधर आलोचक समाज और उसकी विसंगतियों का विश्लेषण अपनी जनपक्षधर विचारधारा के माध्यम से ही करता है । दलित साहित्य के आलोचक, दलित साहित्य के माध्यम से सामने लाए गए समाज की दारूण स्थितियों और विसंगतियों की पड़ताल के लिए विचारधारात्मक प्रतिबद्धता आवश्यक मानते हैं । ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य की आलोचना के लिए इसे एक आवश्यक शर्त की तरह प्रस्तावित करते हैं ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य को जन साहित्य मानते हैं । वह लिखते हैं, "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर । सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरूद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है । इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य ।"[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य को नकार का भी साहित्य मानते हैं । उनके अनुसार यह नकार व्यवस्था, भाषा-प्रांत के अलगाव, साहित्यिक परंपराओं, साहित्यिक मानदंडों या सौंदर्यशास्त्र में से किसी के प्रति भी हो सकता है या फिर सभी के प्रति भी । उन्हीं के शब्दों में "दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है तथा जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है, और वह वर्ण-व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोधी है ।"[3]

स्पष्ट है दलित साहित्य में नकार विषमताओं का है । साथ ही यह समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व को लेकर चलने वाला भी है । इससे यहाँ दलित साहित्य की विचारधारा भी स्पष्ट है । दलित साहित्य की विचारधारा अम्बेडकर के विचारों पर आधारित है । ऐसे में दलित साहित्य के साथ दलित आलोचना की मूलभूत प्रवृत्ति को भी यहाँ समझा जा सकता है ।

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, पृ. सं. 23

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 14

[3] वही, पृ. सं. 16

प्रासंगिकता :

दलित साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "दलित साहित्य समाज-सापेक्ष है। साहित्य की मूल संवेदना के साथ-साथ दलित साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना को सर्वोपरि मानता है।"[1] दलित साहित्य की प्रासंगिकता के लिए भी अम्बेडकर के विचारों को ओमप्रकाश वाल्मीकि आवश्यक मानते हैं। इस संदर्भ में मोहनदास नैमिशराय के विचारों को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं, "मोहनदास नैमिशराय के अनुसार शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज में समता, बंधुता तथा मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है।"[2] निश्चित रूप से ऐसा कोई साहित्य ही चिरजीवी हो सकता है और हमेशा प्रासंगिक भी रह सकता है जो समता, बंधुत्व और मैत्री की बात को महत्त्व देता हो और शोषक वर्ग के विरूद्ध जनता की चेतना को जागृत करता हो। यहाँ यह भी देखा जाना चाहिए कि ओमप्रकाश वाल्मीकि प्रासंगिकता हेतु नकार और प्रतिशोध को उतना महत्त्व नहीं देते।

दलित साहित्य का प्रमुख संघर्ष जातिवाद के विरूद्ध है। जातिवाद की अमानवीयता ने ही वर्षों से दलितों को लगातार अन्याय और अत्याचार सहते रहने को विवश किया है। इसलिए इसके विरूद्ध संघर्ष करते हुए दलित साहित्य में आक्रोश का दिख जाना अवश्यंभावी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि यह मानते हैं कि यह आक्रोश वर्णवादी व्यवस्था के खिलाफ है और दलित साहित्य पूरे समाज की मुक्ति की भावना से परिपूर्ण साहित्य है। उनके अनुसार "दलित लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक संदर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनता है।"[3]

अर्थात् दलित लेखन को सिर्फ दलितों के संदर्भ में देखना उचित नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार समाज के जितने भी विचारणीय संदर्भ हैं, सामाजिक स्तर पर व्याप्त जितनी भी विषमताएँ हैं, दलित लेखन उन सब को स्वर देने का प्रयास करता है। इसलिए दलित विमर्श की व्याख्या सिर्फ दलितों के संदर्भ

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 22

[2] वही, पृ. सं. 22

[3] वही , पृ. सं. 25

में करना अनुचित है। दलित लेखन और आलोचना के व्यापक दायित्त्व का बोध हमें ओमप्रकाश वाल्मीकि की उक्त टिप्पणी से होता है। ऐसे में यह भी विचारणीय है कि दलित साहित्य अन्य सामाजिक सन्दर्भों को कितना स्वर प्रदान करता है। समूचे समाज की अस्मिता और उसके मूल्यों से जुड़े पहलुओं की उपस्थिति दलित साहित्य के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

किसी भी भाषा का नवोदित साहित्य अपने पूववर्ती साहित्य से सहमत हो या असहमत, उसका विस्तार ही होता है। हम दलित लेखन और आलोचना को भी हिन्दी साहित्य के इतिहास से काटकर नहीं देख सकते बल्कि हमें इसका अध्ययन हिन्दी साहित्य के विकास के रूप में ही करना होगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस संदर्भ में अपनी बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने पूनर्मूल्यांकन की जद्दोजहद शुरू की है, जिससे जड़ता टूटी है। साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है।"[1]

एक आलोचक के तौर पर ओमप्रकाश वाल्मीकि गहरी संवेदनशीलता का परिचय देते हैं, साथ ही वे अपने आलोचकीय दायित्त्व के प्रति सचेत दिखते हैं। जहाँ कुछ दलित विमर्शकार दलित साहित्य को अपने आप में स्वतंत्र एवं संपूर्ण इकाई मानते हुए उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास से पूर्णतः अलग मानने का प्रयास करते दिख जाते हैं, वहीं ओमप्रकाश वाल्मीकि इस सोच का खंडन करते दिखाई पड़ते हैं। वह हिन्दी साहित्य के विकास के एक पड़ाव के रूप में दलित विमर्श एवं उसके साहित्य को देखते हैं, उनके अनुसार जो अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक आंदोलनों से ज्यादा आधुनिक और समकालीन है। ओमप्रकाश वाल्मीकि यह जरूर मानते हैं कि दलित साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों के प्रति आस्थावादी दृष्टि की जगह आलोचनात्मक दृष्टि रखता है। इसलिए दलित विमर्श साहित्य सृजन के साथ-साथ पूर्ववर्ती साहित्य का पूनर्मूल्यांकन का प्रयास भी कर रहा है। उनके अनुसार यह दलित साहित्य के प्रासंगिकता की एक मूल वजह है।

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 26

दलित चेतना:

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना के प्रश्न को अपनी आलोचना में प्रमुखता से उठाते हैं। दलित आलोचक और रचनाकारों में प्रथम पीढ़ी के होने के कारण उन्हें लगातार ऐसे प्रश्नों से दो-चार होना पड़ा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "दलित चेतना' क्या है ? यह जानना जरूरी है। 'दलित चेतना को समझने के लिए इसकी पूर्व-पीठिका को भी दृष्टि में रखना होगा। 'दलित' का आखिर मसला क्या है ? यह एक गंभीर सवाल है। दलित समस्या समूचे राष्ट्र की समस्या है। इसने विकास-प्रक्रिया को बाधित ही नहीं किया उसे अवरूद्ध भी किया है।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित प्रश्न को गंभीरता से उठाते हुए उसे समस्त राष्ट्र के विकास के लिए समस्या के रूप में चित्रित करते हैं। उनके अनुसार 'भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा हुआ, उसकी ही देन है जातिभेद, जो असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है।"[2] साथ ही ओमप्रकाश वाल्मीकि एक बड़ी चिंता की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वह बताते हैं कि एक बड़ी समस्या वर्ण व्यवस्था के समर्थक विचारकों की है। ऐसे लोगों को यह अहसास ही नहीं है कि यह व्यवस्था न केवल राष्ट्र के विकास को अवरूद्ध करती है बल्कि संकीर्णता में भी बाँध देती है। इस संकीर्णता की पहचान और उससे मुक्ति के लिए दलित चेतना की पहचान को ओमप्रकाश वाल्मीकि आवश्यक मानते हैं। दलित चेतना को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, "दलित चेतना का सरोकार इस प्रश्न से बहुत गहरे तक जुड़ा है कि 'मैं कौन हूँ ?' इसी सवाल से दलित लेखक की रचनाशीलता को ऊर्जा मिलती है।"[3]

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना पर विचार के माध्यम से दलित और गैर दलित रचनाकार की प्रामाणिकता पर भी विचार करते है। यद्यपि उनका स्पष्ट मानना है कि दलित रचनाकार ही प्रमाणिक दलित साहित्य लिख सकता है। उन्होंने इस संदर्भ में होने वाले विवादों पर लिखा है, "कई विद्वानों, रचनाकारों, आलोचकों का मत है कि दलितों पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है। उनका तर्क है कि घोड़े पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है। लेकिन

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 46

[2] वही, पृ. सं. 46

[3] वही, पृ. सं. 28 -29

दलित लेखक इस तर्क से सहमत नहीं हैं। घोड़े की पीड़ा को समझे बगैर, उसका बाह्य-चित्रण उसकी भावनाओं का काल्पनिक रेखांकन भर ही होगा। थका माँदा, भूखा-प्यासा घोड़ा अपने मालिक के प्रति क्या भाव रखता है, इसे सिर्फ घोड़ा ही बता सकता है।"[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित होने को यहाँ महत्त्व देते हैं और नामवर सिंह की इस बात का विरोध करते हैं, जिसमें नामवर सिंह यह स्पष्ट करते हैं कि "कोई लेखक दलित कुल में जन्म लेने से ही दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता है...जन्मना दलित ही दलित चेतना का प्रतिनिधि होगा, दूसरा कोई नहीं गलत है।"[2]

नामवर सिंह की उपरोक्त विचार का विरोध करते हुए भी जब ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना को स्पष्ट करते हैं तब अनायास ही नामवर सिंह के समर्थन में चले जाते हैं। उन्होंने लिखा, "दलित की व्यथा, दुःख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, ...चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। वह है दलित चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो। उसकी चेतना यानी दलित चेतना।"[3] यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना को जाति विशेष के बाहर तक विस्तृत करते प्रतीत होते हैं। प्रकारांतर से इस बात का विरोध भी करते दिखाई पड़ते हैं कि जन्मना दलित होने से ही कोई दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता। दलित चेतना को ओमप्रकाश वाल्मीकि 'दलित चेतना के लंबे इतिहास की देन' मानते हैं।'[4]

मानवीय अधिकारों से वंचित होने को ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना से जोड़ते हैं। इस तरह दलित चेतना का विस्तार हर जाति और वर्ग तक हो जाता है। इसके साथ ही वह अम्बेडकर के विचारों के प्रति निष्ठा, दलित चेतना के लिए जरूरी मानते हैं। उनके अनुसार "दलित चेतना डॉ. अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 36

[2] नया पथ, अंक 26, 1998, पृ. सं. 13

[3] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. -29

[4] ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृ. सं. सं. - 50

मुख्य ऊर्जा ग्रहण करती है।"[1] उन्होंने अम्बेडकर की स्वतंत्रता, समता और बंधुता की मूल भावना को दलित साहित्य की 'मूल गर्भ-चेतना' माना है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना के संबंध में बात करते हुए हिन्दू संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति से इतर दलित संस्कृति की बात करते हैं और इसके लिए ग्राम पंचायत- व्यवस्था और गाँव के विकास का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि अम्बेडकर ने गाँव को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। अम्बेडकर भारतीय गाँव को हिन्दू व्यवस्था का कारखाना मानते थे और उनमें समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं देखते थे। भारतीय गाँव को वह ब्राह्मणों के लिए स्वर्ग और दलितों के लिए नर्क मानते थे। "अतः दलित साहित्य भी गाँव के विकास और ग्राम पंचायत व्यवस्था का न केवल विरोधी है, बल्कि उनके विनाश में ही ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद का अंत मानता है।"[2]

यहाँ वाल्मीकि जी के विचार कुछ अतिरंजित जान पड़ते हैं। अम्बेडकर ने 'भारत की बहिष्कृत बस्तियां-अस्पृश्यता की केंद्र समाज से बाहर' नामक अध्याय (जो अम्बेडकर वाङ्मय के नवें खंड में संकलित हैं) में गाँवों की हिन्दूवादी व्यवस्था के कारण अस्पृश्यों पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों के बारे में विस्तार से ब्यौरा प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा, "यही है भारतीय गाँवो की भीतरी जीवन की तस्वीर। इस गणतंत्र में लोकतंत्र के लिए कोई स्थान नहीं। इसमें समता के लिए कोई स्थान नहीं। इसमें स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं इसमें भ्रातृत्व के लिए कोई स्थान नहीं। भारतीय गाँव गणतंत्र का ठीक उल्टा रूप है। अगर यह गणतंत्र है तो यह स्पृश्यों का गणतंत्र है, स्पृश्यों के द्वारा है और उन्हीं के लिए है। यह हिंदुओं का एक प्रकार का उपनिवेशवाद है, जो अस्पृश्यों का शोषण करने के लिए है। ...उनका कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे इस तथाकथित गणतंत्र के बाहर के हैं। वे हिंदुओं के समाज से बहिष्कृत हैं। यह एक दुश्चक्र है। लेकिन यह एक यथार्थ है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"[3]

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 31

[2] वही, पृ. सं. 31

[3] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड -9, पृ. सं. 49

यहाँ अम्बेडकर कहीं से भी गाँवों के विनाश की बात नहीं करते, जिसके खात्मे पर ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं। अम्बेडकर उस व्यवस्था का विनाश चाहते हैं जिससे गाँव में रहते हुए भी दलितों को हिन्दू-उपनिवेशवाद से मुक्ति मिल जाए। वह उस साम्राज्यवादी हिन्दू मानसिकता की समाप्ति चाहते हैं जिसने स्पृश्य और अस्पृश्य का अमानवीय भेद बनाए रखा है। जिस तरह से गाँवों के अंदर होने वाला भेदभाव एक यथार्थ है उसी तरह से गाँव का होना और बने रहना भी यथार्थ ही है। इसी लेख में अम्बेडकर जातिवादी व्यवस्था द्वारा दलितों को भूमिहीन बनाए रखने के दुश्चक्र का भी जिक्र करते हैं। दलितों को भूमि पर अधिकार मिलने पर ही हिन्दू साम्राज्यवाद को गहरा झटका दिया जा सकता है। दलित साहित्य को ऐसे अतिरंजनापूर्ण निष्कर्षों से सावधान रहने की जरूरत यहाँ प्रतीत होती है। जबकि ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना के बारे में स्वयं लिखते हैं, "दलित चेतना गालबजाऊ सहानुभूति, संवेदना और सम्मान से आगे कुछ पाना चाहती है। ...यथास्थिति को विकल्पहीन नियति बना देने वाले साहित्य-शास्त्र को दलित चेतना अस्वीकार करती है। उसे नकारती है।"[1]

इस प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य और वैचारिकी का निर्माण करने का गंभीर प्रयास अपनी आलोचना के माध्यम से करते हैं। दलित विमर्श के मूल प्रश्नों को विवेचित-विश्लेषित करने का प्रयास उनके यहाँ दिखाई देता है। दलित साहित्य के नए सौंदर्यशास्त्र की माँग भी वह इसी कारण करते हैं। परंपरागत मान्यताओं, आधारों पर दलित साहित्य के मूल्यांकन को वह स्वीकार नहीं करते। दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर विचार करते हुए वह बताते हैं कि जिस तरह दलित साहित्य कल्पना आधारित नहीं है उसी तरह इसकी भाषा, इसमें व्यवहृत बिम्ब, प्रतीक तथा इसके पात्र हमारे आस-पास के त्रासद जीवन और यथार्थ की परिणति हैं। इसलिए दलित साहित्य के महत्त्व को भी परंपरागत तरीके से नहीं समझा जा सकता। अंततः उनकी जनवादी, प्रगतिवादी, भारतीय मार्क्सवादी सबसे अपील है कि "यह लड़ाई किसी एक व्यक्ति की नहीं, उन तमाम लोगों की है जो मनुष्य की बेहतरी के लिए चिंतित हैं। सहमति, असहमतियों के बावजूद

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 32-33

साहित्य को अपनी भूमिका पूरी ईमानदारी और जिम्मेदारी से निभानी होगी, तभी शोषणमुक्त समाज की परिकल्पना साकार होगी।"[1]

1.3.2 कँवल भारती

कँवल भारती दलित विमर्श के सर्वाधिक समर्थ आलोचकों में माने जाते हैं। एक समर्थ कवि के साथ वह एक गहरी अंतदृष्टि वाले आलोचक भी हैं। दलित विमर्श को लेकर समकालीन समय में उठने वाले हर तरह के सवालों पर लगातार लिखते रहें हैं। दलित साहित्य का इतिहास, सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों से दलित विमर्श का संबंध एवं इसके राजनैतिक एवं साहित्यिक विकास आदि पर लगातार उन्होंने लेखन किया है। उनके विचारों का फलक विस्तृत है।

कँवल भारती आलोचना की जगह विमर्श शब्द को महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि दलित आलोचक, आलोचना नहीं विमर्श करते हैं। कँवल भारती अपनी बात स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "हमने आलोचना को खारिज करके विमर्श शुरू किया। दलित विमर्श ने ही हिन्दी आलोचना को कटघरे में खड़ा किया है और भारत की सांस्कृतिक विरासत को भी। विमर्श एक-एक सीवन, एक-एक पर्त को उघाड़ता है और हर चीज को वैज्ञानिक और करोड़ों लोगों की मुक्ति की दृष्टि से देखता है।"[2]

कँवल भारती का यह प्रस्ताव विचारणीय है। यह एक उलझा हुआ प्रश्न भी है। विमर्श और आलोचना में भेद की जो वजहें उन्होंने बताई हैं, वह किसी भी जनपक्षधर आलोचना की विशेषता हो सकती हैं। समस्त हिन्दी आलोचना को कटघरे में खड़ा करने की दलित विमर्श की विशेषता पर भी सवाल उठता है। दलित विमर्श को हिन्दी आलोचना की परम्परा से अलग करके देखना दलित विमर्श या दलित आलोचना के महत्त्व एवं संभावना पर ही प्रश्न चिन्ह लगाता है।

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,, पृ. सं. 97

[2] कँवल भारती, दलित साहित्य और विमर्श के आलोचक, पृ. सं. 84

अवधारणा :

दलित विमर्श को कँवल भारती महज दलित प्रश्नों तक सीमित नहीं मानते। उनके अनुसार "दलित विमर्श सिर्फ एक जाति का विमर्श नहीं है, जैसा कि आम धारणा है कि किसी दलित समस्या को लेकर किया गया विमर्श ही दलित विमर्श है। यह धारणा गलत है। दलित विमर्श के केंद्र में दलित समस्या को नहीं नकारा जा सकता। ...इसके केंद्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है।"[1] अर्थात् कँवल भारती उस आम धारणा का विरोध करते हैं जिसमें दलित विमर्श को महज दलितों की समस्याओं से जोड़ कर देखा जाता है। दलित समस्या को वह राष्ट्रीय समस्या के रूप में देखते हैं और दलित मुक्ति को राष्ट्रीय मुक्ति के रूप में। "इसलिए दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिसका संबंध भेदभाव से है। चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या धर्म के आधार पर क्यों न हो।"[2]

कँवल भारती इस प्रकार दलित विमर्श के फलक को व्यापक बना देते हैं। ऐसे में एक सवाल यहाँ उठता है कि क्या सचमुच में ये सारे प्रश्न हिन्दी आलोचना में अनुत्तरित रह गए हैं और क्या दलित विमर्श इन सारे पक्षों पर विमर्श कर रहा है ? जाति के साथ रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के आधार पर हो रहे भेदभाव पर क्या दलित विमर्श में विचार हुआ है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके बावजूद अगर कँवल भारती दलित विमर्श को महज जाति-प्रश्न से अलग इन सारे प्रश्नों से जोड़ने की सराहनीय कोशिश करते हैं।

कँवल भारती दलित विमर्श या दलित चेतना के लिए भारत की उस सामाजिक संरचना को समझने का प्रस्ताव रखते हैं जिस वजह से बहुत सारे समुदाय या जातियाँ हाशिये पर चली गईं। वह लिखते हैं, "जब तक भारत की इस सामजिक संरचना को नहीं समझा जाएगा, तब तक न तो दलित चेतना को समझा जा सकता है और न दलित विमर्श को। इस सामाजिक संरचना में 'जरायम पेशा'

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 14

[2] वही, पृ. सं. 15

जातियों, आदि जनजातियों और अछूत जातियों के विशाल समूह के अस्तित्व और उपस्थिति को एक सभ्य समाज का प्रमाण नहीं माना जा सकता।"[1]

भारतीय जाति व्यवस्था को समझने के लिए उक्त तीनों जातियों या समुदायों की स्थिति को जानना, महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रतीत होता है। यह दलित चेतना के लिए जितना जरूरी है उतना ही किसी व्यक्ति के सामाजिक दायित्त्व के बोध के लिए भी जरूरी है। कँवल भारती ने अम्बेडकर के हवाले से बताया है कि "डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि इन वर्गों का अस्तित्व एक कलंक है। यदि इन वर्गों के संदर्भ में हिन्दू समाज को मापा जाए, तो कोई भी इसे सभ्य समाज नहीं कह सकता।"[2] कँवल भारती का मानना है कि "करोंड़ों लोग इसलिए, अपराधी, आदिम जनजातियाँ और अछूत बन गए, क्योंकि विकास के अवसरों से उन्हें वंचित रखा गया।"[3] उनके अनुसार यह सब हिन्दू धर्मशास्त्रों को आधार बनाकर किया गया।

कँवल भारती बताते हैं कि भारतीय हिन्दू-व्यवस्था में धर्म को कानून के ऊपर मान्यता प्राप्त है। इसलिए संवैधानिक अधिकारों में बराबरी के बावजूद दलितों के लिए सच्चाई इससे अलग है। वह लिखते हैं, "हिन्दू धर्म में दलितों को दास माना जाता है और उन्हें समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं परंतु भारत के कानून में वे स्वतंत्र मानव हैं और समान अधिकार हासिल हैं। भारत में धर्म को कानून से ऊपर माना जाता है। यहाँ हिन्दू अपने धर्म के आचरण में कानून की परवाह नहीं करते। यही कारण है कि यहाँ कानूनन भेदभाव समाप्त होने के बावजूद धर्म का शासन कायम है, जो भेदभाव को स्वीकृति प्रदान करता है।"[4] सामाजिक व्यवहार की धरातल पर धर्म हमेशा से ब्राह्मणवाद की मदद करता रहा है। इसलिए संविधान द्वारा सबको बराबर माने जाने के बावजूद दलितों को समाज में समानता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। समाज और राष्ट्र के विकास में भी उन्हें अपेक्षित मौके नहीं दिए गए। इसलिए कँवल भारती दलित विमर्श के लिए धार्मिक उत्पीड़न का विरोध आवश्यक मानते हैं।

---

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 16

[2] वही, पृ. सं. 16

[3] वही, पृ. सं. 17

[4] वही, पृ. सं. 21

कँवल भारती दलितों की दारूण स्थिति की तुलना नीग्रो समुदाय से करते हैं। कँवल भारती लिखते हैं "जो स्थिति अफ्रीका के काले-नीग्रो की थी, वही स्थिति भारत के अछूतों की थी। जिस तरह लोग काली चमड़ी वालों को असभ्य मानते थे, उसी तरह भारत के द्विज अछूतों को असभ्य और अपवित्र मानते थे।"[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि नीग्रो साहित्य को दलित साहित्य की प्रेरणा के रूप में नहीं देखते। ओमप्रकाश वाल्मीकि डा. गंगाधर पानतावणे के हवाले से बताते हैं, "दलित साहित्य की प्रेरणा न मार्क्सवाद है, न हिन्दूवाद, न नीग्रो साहित्य है।"[2]

कँवल भारती दलित साहित्य की एकमात्र प्रेरणा नीग्रो साहित्य को नहीं मानते पर उसका प्रभाव अवश्य स्वीकार करते हैं। डरबन शहर में होने वाले नस्लीय भेदभाव के खिलाफ विश्व स्तरीय सम्मेलन में भारत सरकार ने भाग लेने से मना कर दिया था। भारत सरकार का तर्क था कि भारत में किसी तरह का नस्लीय भेदभाव अस्तित्व में ही नहीं है। इस संदर्भ में कँवल भारती की टिप्पणी है, "भारत सरकार और भारत के हिन्दू बुद्धिजीवी दोनों ही भारत की जाति समस्या को नस्ली समस्या मानने के पक्ष में नहीं हैं और इसी आधार पर वे दलित संगठनों के डरबन जाने के भी खिलाफ हैं।"[3] इसके साथ ही वह एक बेहद जरूरी सवाल भी पूछतें हैं, "जब भारत में नस्लीय भेद नहीं है, जाति और नस्ल अलग-अलग हैं, तो इन जरायमपेशा जातियों, आदिम जनजातियों तथा अछूत जातियों को हिन्दू व्यवस्था ने अपने अंदर शामिल क्यों नहीं किया ? करोड़ों लोगों को अछूत बनाकर उनके साथ भयानक सामाजिक अलगाव क्यों है।"[4]

यह प्रश्न दलित विमर्श की व्यापक अवधारणा को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। कँवल भारती दलितों एवं अन्य हाशिये पर धकेल दी गई जातियों या समुदायों के साथ होने वाले अन्याय को विश्व के फलक पर रखकर विचार करने की पहल करते हैं। साथ ही वह दलित विमर्श की भूमिका को भी ज्यादा दायित्त्वपूर्ण बनाने की कोशिश करते हैं।

---

[1] कँवल भारती, हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृ. सं. 10

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 30

[3] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 20

[4] वही, पृ. सं. 20

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रश्न :

कँवल भारती आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न को दलितों के साथ-साथ राष्ट्र की मुक्ति के लिए भी आवश्यक मानते हैं । उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "दलित विमर्श जिस सिद्धांत को विकसित करता है, वह भारत के लोगों के बारे में सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के संबंध में हैं ।"[1] जब भी कँवल भारती भारत या राष्ट्र की मुक्ति की बात करते हैं, उसमें दलितों के साथ हाशिये पर धकेले गए समुदाय एवं जातियों के लोग भी शामिल होते हैं । उनका मानना है कि अम्बेडकर ने इन सारे वर्गों की मुक्ति की बात की है । कँवल भारती भारत की आबादी का वर्गीकरण भाषाई या धार्मिक स्तर पर किए जाने का विरोध करते हैं । उनका मानना है कि इससे हाशिये पर मजबूरन जीवन जीने वालों के बारे में वास्तविक जानकारी नहीं मिलती । "अतः जब हम सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भारत के लोगों का वर्गीकरण करते हैं, तभी जरायमपेशा जातियों, आदिम जनजातियों और अछूत जातियों के विशाल वर्ग अस्तित्व में आते हैं ।"[2]

सामाजिक और आर्थिक प्रश्न को केंद्र में रखने का अर्थ दलितों के साथ समस्त वंचित वर्गों को दलित विमर्श में शामिल करना है । जब तक दलित के साथ तमाम दमित और वंचित वर्ग को दलित विमर्श स्थान नहीं देगा तब तक न दलितों की मुक्ति संभव है और न ही इस राष्ट्र की । सामाजिक, आर्थिक प्रश्न के साथ ही राजनैतिक समस्या को भी कँवल भारती अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं । उनके अनुसार "जिस सबसे बड़ी राजनैतिक समस्या से दलितों को जूझना होगा वह है राजनीति का वर्गीय चरित्र । कहा जाता है कि पूँजीवादी विकास की क्रांति समाज के सामंती ढाँचे को नष्ट कर देती है, परंतु भारत में हम इसका उल्टा देख रहे हैं । यहाँ पूँजीवादी अर्थतंत्र में न केवल सामंतवाद और भी मजबूत हो रहा है, बल्कि उसके अवशेष-ब्राह्मणवाद और जातिवाद-भी ताकतवर स्थिति में हैं ।"[3]

यह तो तथ्य है कि भारत में पूँजीवाद के विकसित होने के साथ-साथ जातिवाद, और ब्राह्मणवाद भी ताकतवर होता गया है । कँवल भारती यहाँ पूँजीवाद के साथ-साथ जातिवाद की समस्या को भी सामने लाते हैं । अम्बेडकर भी पूँजीवाद

---

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 19

[2] वही, पृ. सं. 19

[3] वही, पृ. सं. 128

और ब्राह्मणवाद को दलितों के लिए दो सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। प्रारंभ में पूँजीवाद के कारण दलितों के लिए कुछ बंधन अवश्य टूटे लेकिन हमारे समय का पूँजीवाद दलितों के साथ सारे वंचित वर्गों के लिए विकास का द्वार बंद कर देता है। ऐसे में समस्त दलित-दमित वर्गों की एकता आवश्यक हो जाती है।

कँवल भारती इस ओर आगाह भी करते हैं। उनका मानना है कि पूँजीवाद ने हमेशा शासक वर्गों का ही हित किया है इसलिए वह न सिर्फ दलितों की बल्कि सभी वंचित तबकों का विरोधी है। वह लिखते हैं, "दरअसल हमारे शासक वर्ग का चरित्र वर्णव्यवस्थावादी है। वे सत्ता पर अपने वर्चस्व के लिये इस समाजशास्त्र को सुरक्षित रखना चाहते हैं। वे इसके बल पर ही अब तक शासक जाति बने हुए हैं। इसलिए जब आर्थिक सुधार देश में लागू हुए तो यही वर्ग था, जो उनसे लाभ उठा सकता था। इस वर्ग ने न सिर्फ लाभ उठाया, बल्कि इस सुधारवाद से विकसित समस्त साधनों का उपयोग भी उसने इसी समाजशास्त्र को मजबूत करने में किया। ...यह न सिर्फ द्विजवाद है, बल्कि यह दलित विरोधी और अल्पसंख्यक अर्थात् ईसाई और मुस्लिम विरोधी भी है।"[1]

आर्थिक प्रश्न निश्चित रूप से वंचितों के लिए बहुत महत्त्व रखता है। हम जिस कल्याणकारी राष्ट्र में रहते हैं, उसका यह बुनियादी कर्तव्य है कि वह हाशिये पर धकेले गए वर्गों एवं समुदायों के समुचित आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दे। कँवल भारती जिन आर्थिक सुधारों की चर्चा कर रहे हैं वह असल में आम जनता की स्थिति के समुचित सुधार के लिए था ही नहीं। इसका कारण वह भारत की वर्ण-व्यवस्था पर आधारित शासन-व्यवस्था में देखते हैं लेकिन आज जरूरत इसके विपरित भी देखने की है। वर्ण-आधारित व्यवस्था जितना आर्थिक शोषण के लिए जिम्मेदार है, आर्थिक कारण भी वर्ण-व्यवस्था को मजबूत करने में उससे कम कारक की भूमिका में नहीं रहा है। इस बात को दबे स्वर में ही सही कँवल भारती भी यहाँ स्वीकार करते हैं।

कँवल भारती मानते हैं कि दलित राजनीति में आया भटकाव भी दलितों की दुर्गति के लिए बराबर रूप से जिम्मेदार रहा है। इसलिए वह अंध-राष्ट्रभक्ति की तरह अंध-दलितवाद का भी विरोध करते हैं। उन्होंने लिखा, "अंधदलितवाद भी

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 128

दलितों के समक्ष वैसी चुनौती है, जैसे कि राष्ट्रवाद की है। इन दोनों अंधकूपों से निकले बिना दलित आन्दोलन अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। दलितों को दलित आन्दोलन की भ्रष्ट दलित राजनीति से मुक्ति की राहें तलाशनी होंगी और एक ऐसी दलित राजनीति को विकसित करना होगा, जो दलित आन्दोलन की समाज-शक्ति से नियंत्रित हो।"[1]

कँवल भारती इसे विमर्श कहते हैं और मेरे शब्दों में यह एक सच्ची आलोचना है। किसी नवोदित आन्दोलन के लिए सबसे बड़ा खतरा उसके भीतर से ही पैदा होता है या किया जाता है। कँवल भारती की उक्त सलाह दलित आन्दोलन और दलित विमर्श दोनों के लिए बेहद आवश्यक है। समाज केन्द्रित आन्दोलन से संचालित होने वाला दलित आन्दोलन और साहित्य ही सच्चे अर्थों में दलित एवं अन्य वंचित वर्गों की मुक्ति में सहायक हो सकता है।

जाति बनाम वर्ग :

कँवल भारती की स्पष्ट मान्यता है कि "मार्क्सवादी आलोचना ने जो सामाजिक दृष्टि विकसित की, वह आज भी दलित सवालों से नहीं टकराती। मैं समझता हूँ कि साहित्य की आर्थिक दृष्टि का विकास भले ही मार्क्सवाद ने किया हो, पर सामाजिक क्रांति का श्रेय सिर्फ दलित वैचारिकी को ही जाता है।"[2] कँवल भारती का तो यहाँ तक मानना है कि "यदि प्रेमचंद और निराला आदि में दलित पक्षधरता दिखाई देती है, तो वह तत्कालीन दलित राजनीति का ही दबाव था।"[3]

मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक क्रांति के विकास में बिल्कुल निष्फल रही हो यह पूर्ण सत्य नहीं है। अगर मार्क्सवाद आर्थिक प्रश्नों को उठाने में सफल रहा है तो वह सामाजिक दृष्टि के विकास में सहायक कैसे नहीं हो सकता ? कँवल भारती के उक्त टिप्पणी से एक सवाल और उभरता है कि प्रेमचंद और निराला के समय दलित आन्दोलन क्या इतनी ऊँचाई पर पहुँच गया था कि वह लेखकों-कलाकर्मियों को प्रभावित कर सकता था। इसके बावजूद, कँवल भारती मार्क्सवाद में आर्थिक

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 130

[2] कँवल भारती, दलित साहित्य और विमर्श के आलोचक, पृ. सं. 87

[3] कँवल भारती, हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृ. सं. 14

प्रश्नों को मजबूती से सामने रखने एवं प्रेमचंद और निराला की रचना को दलित साहित्य के अंतर्गत मानने का एक विवेकपूर्ण कार्य करते हैं।

दलित विमर्शकारों का एक आरोप मार्क्सवाद पर हमेशा रहा है कि मार्क्सवाद जाति प्रश्न की अवहेलना करके महज वर्ग की राजनीति की बात करता है। इस संदर्भ में कँवल भारती बेहद तार्किक दृष्टि से अपनी बात रखते हैं। वह मार्क्सवादी दृष्टि का विरोध नहीं करते बल्कि उसकी तरफ वे अपेक्षा की नज़र से देखते हैं। उनका मत है, "दलित चिंतन वर्ग-संघर्ष का विरोधी नहीं है, जैसा कि समझ लिया गया है। डॉ. आम्बेडकर की किताब 'जाति का विनाश' ...यह बताती है कि वर्ग-संघर्ष के लिए जाति का विनाश जरूरी है। जातियाँ मिटेंगी तो वर्ग बनेंगे। जाति व्यवस्था बनी रहेगी, तो वर्ग नहीं बनेंगे। जाति व्यवस्था को बनाये रखकर वर्ग-संघर्ष की बात करना बेमानी है।"[1]

इस तरह कँवल भारती उन दलित चिंतकों एवं मार्क्सवादियों का विरोध करते हैं जो जाति और वर्ग को एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। कँवल भारती यहाँ दोनों के परस्पर एकताबद्ध संघर्ष को जरूरी मानते हुए जातिवाद और वर्ग-वर्चस्व दोनों के खिलाफ एकताबद्ध पहल का प्रस्ताव रखते हैं। अम्बेडकर ने लिखा था, "मैं समाजवादियों से पूछना चाहता हूँ कि क्या आप पहले सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बिना आर्थिक सुधार कर सकते हैं ?"[2] निश्चित रूप से वर्ग संघर्ष के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जातिवाद से संघर्ष अपरिहार्य है। अम्बेडकर ने लिखा, "हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है, जिसे समाज विज्ञानी 'समग्र वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना समग्र वर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी ही जाति के बारे में होती है।"[3] कँवल भारती अम्बेडकर की ही बातों को आगे बढ़ाते प्रतीत होते हैं। अम्बेडकर की तरह कँवल भारती का भी मानना है कि सामाजिक क्रांति हेतु जातिवाद और उसकी पोषक ब्राह्मणवादी व्यवस्था से संघर्ष अनिवार्य है।

कँवल भारती मार्क्सवादियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे भी दलित आन्दोलन के ब्राह्मणवाद विरोधी संघर्ष में शामिल हों। उनका विनम्र सुझाव है कि

---

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 68

[2] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खंड 1, पृ. सं. 64

[3] वही, पृ. सं. 70

"वामपंथ को ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई को अपना कार्यभार बनाना होगा। इसके लिए बेहतर तरीका यह है कि कम्युनिस्ट स्वयं भी डीकास्ट हों। जब तक वे डी-कास्ट नहीं होंगे डी-क्लास भी नहीं हो सकेंगे, ऐसा हमारा मानना है।"[1] हालाँकि वह दलित के भी जाति-विहीन वर्ग न बन पाने को लेकर चिंतित हैं। वह लिखते हैं, "बेशक यह सवाल गौरतलब है कि दलित भी जाति-विहीन वर्ग नहीं बन पा रहा है।"[2] वह दलितों के जातिविहीन वर्ग न बन पाने के पीछे ब्राह्मणवाद और शासक वर्ग के जातीय चरित्र को ही दोषी मानते हैं। इसके साथ ही जो वह दूसरी वजह बताते हैं वह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। "दूसरा कारण यह है कि डॉ. अम्बेडकर के बाद जो दलित आन्दोलन विकसित हुआ उसने उनके जाति से वर्ग तक जाने के विचार की उपेक्षा की।"[3]

निश्चित रूप से दलित आन्दोलन एवं राजनीति की यह एक बड़ी विफलता रही है। इसलिए प्रयास दोनों तरफ से अपेक्षित है। कँवल भारती वर्ग-संघर्ष की राजनीति की कमियों को बताते हुए जाति और वर्ग विभेद के खिलाफ साझा संघर्ष चलाने का प्रस्ताव सामने रखते हैं। उनके अनुसार जाति और वर्ग एक दूसरे के विरोधी न होते हुए पूरक हैं एवं वर्ग संघर्ष की राजनीति तब तक सतही ही रहेगी जब तक कि वह जाति की सच्चाई को ईमानदारी से स्वीकार नहीं कर लेता। इस तरह कँवल भारती दलित विमर्श के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए उसे विकसित करने का प्रयास दायित्त्वपूर्ण तरीके से करते हैं।

1.3.3 धर्मवीर

दलित विमर्श को संपूर्णता में समझने के लिए धर्मवीर के आलोचना कर्म पर विचार करना आवश्यक है। धर्मवीर दलित विमर्श के सर्वाधिक चर्चित आलोचकों में रहे हैं। अपनी स्थापनाओं की वजह से उन्हें दलित और गैर दलित आलोचकों की आलोचना का सामना उन्हें करना पड़ा है। इसलिए उनके आलोचना कर्म पर विचार करना अपेक्षणीय प्रतीत होता है।

---

[1] कँवल भारती, दलित-विमर्श की भूमिका, पृ. सं. 70

[2] वही, पृ. सं. 71

[3] वही, पृ. सं. 71

धर्मवीर साहित्य में घटित होने वाले किसी वाद को महत्त्व नहीं देते हैं। वह लिखते हैं, "बात यह कि मैं हिंदी साहित्य में 'जनवाद' 'आधुनिकता', और 'उत्तर-आधुनिकता' के शब्दों को महत्त्व नहीं देता हूँ। मेरी राय में दलित जीवन का इस बात से कुछ लेना देना नहीं है ...इन सारे वादों से दलित के बारे में पिछले तीन हजार सालों से एक ही वाद चल रहा है 'दमनवाद' और हिंदी साहित्य इसका अपवाद नहीं है।"[1]

धर्मवीर का मानना है कि जिस तरह समाज में पिछले तीन हजार सालों से दलितों के ऊपर दमन हुआ है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में भी वह दमित रूप में दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार जनवाद या उत्तर-आधुनिकतावाद भी दलितों की मूल समस्या को प्रस्तुत करने में अक्षम रहे हैं। हिंदी साहित्य के अंतर्गत जो विभिन्न आंदोलन या वाद चले हैं वह धर्मवीर के अनुसार दलितों की समस्याओं एवं चुनौतियों को प्रकट करने में असफल रहे हैं।

धर्मवीर का मानना है कि दलित विमर्श हिंदी साहित्य में चले आ रहे मिथ्यावाद के खिलाफ एक आंदोलन है। इस संदर्भ में वह ब्राह्मणों के ऊपर इस साहित्यिक झूठ को प्रसारित करने का आरोप लगाते हुए लिखते हैं, "झूठ ने आज तक कला से लेकर साहित्य तक में किसी का भला नहीं किया है। ...समीक्षा में साहित्य की प्रशंसा की जानी चाहिए, झूठ की नहीं। झूठ को साहित्य से अलग निकाल कर साहित्य की रक्षा की जानी चाहिए। इसलिए दलित चिंतन साहित्य और कला के खिलाफ नहीं है बल्कि इनमें छिपे झूठ के खिलाफ है। आश्चर्य की बात है कि द्विज लेखकों को यह बात समझनी मुश्किल हो रही है कि साहित्य में सच भी लिखा जा सकता है।"[2]

धर्मवीर प्रकारांतर से यह बताते हैं कि अब तक का हिंदी साहित्य झूठ का साहित्य है। दलितेतर कलाएँ और साहित्य इसी कारण उन्हें प्रासंगिक नहीं लगतीं। कला और साहित्य के क्षेत्र में वह दलित चिंतन का महत्त्व भी इसी परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दलित चिंतन कला और साहित्य के क्षेत्र में झूठ का प्रतिकार करने वाला चिंतन है, यह उस षड्यंत्र का विरोध करने वाला चिंतन है

[1] धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, पृ. सं. 6

[2] वही, पृ. सं. 17

जिसके कारण कला और साहित्य में दलितों के विरुद्ध झूठ की राजनीति होती रही । उनका स्पष्ट मानना है कि जन्मना द्विज इस झूठ की दुनिया से बाहर नहीं निकल सकता। सत्य का समर्थन करने वाला साहित्य ब्राह्मणों द्वारा नहीं लिखा जा सकता । धर्मवीर प्रकारांतर से यहाँ दलितों द्वारा ही दलित साहित्य लिखे जाने का समर्थन करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं ।

साहित्य की दुनिया में दलितों के पदार्पण को वह साहित्य के इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं । अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, "किसी भी क्षेत्र में दलित के पदार्पण का मतलब योग्यता के पदार्पण से है । साहित्य में दलित का पदार्पण न होने का नुकसान यह है कि इसी वजह से हिंदी साहित्य में विश्व स्तर के साहित्य का सृजन नहीं हो सका ।"[1] इसी बात को वह आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं, "साहित्य में दलित के पदार्पण से क्या लाभ होगा ? लाभ यह होगा कि साहित्य में से अंधविश्वास और ढकोसले निकल जाएँगे और वह वैज्ञानिक और मानवीय हो जाएगा । ...दलित साहित्य ही समाज से जारकर्म की पूजा को समाप्त करेगा ।"[2]

धर्मवीर यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अब तक का हिंदी साहित्य दोयम दर्जे का ही रहा है । न ही उसमें विश्व स्तर की किसी कृति की रचना हुई और न ही वह साहित्य वैज्ञानिक और मानवीय हो पाया है । धर्मवीर की इस स्थापना के अनुसार इस सन्दर्भ में हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय भाषा के साहित्य को इसमें शामिल किया जा सकता है, क्योंकि कमोबेश सभी भाषाओं में दलित रचनाशीलता समकालीन घटना ही है । धर्मवीर का अटूट विश्वास है कि दलित वर्ग के पदार्पण से हिंदी साहित्य न सिर्फ विश्व स्तर की कृति का निर्माण कर पाएगा बल्कि यह वैज्ञानिक और मानवीय भी बनेगा । वह हिंदी साहित्य को जारकर्म की भक्ति में लिखा गया साहित्य बताते हैं । इससे मुक्ति का रास्ता वह दलित चिंतन को ही मानते हैं ।

दलितों के साहित्य में पदार्पण एवं उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का प्रारंभ में किंचित् विरोध भी हुआ । एक प्रमुख विरोध आत्मकथा विधा को आधार बनाकर

---

[1] धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, पृ. सं. 95-96

[2] वही, पृ. सं. 96

हुआ । इस सन्दर्भ में धर्मवीर लिखते हैं, "कथा-साहित्य का लेखन फिर भी एक ओले और छिपाव का साहित्य है, लेकिन बिल्कुल मर्म की बात पकड़ी जाए कि आत्मकथा कौन नहीं लिख सकता । इस प्रश्न का फैलाव व्यक्ति से लेकर पूरी कौम तक जाता है । दूसरे विद्वान अपने उत्तर खोजने के लिए स्वतंत्र हैं पर मेरी तरफ से पहला उत्तर यह है कि चार तरह के व्यक्ति आत्मकथा का लेखन नहीं कर सकते। उनके नाम जार, चोर, झूठे और कायर हैं ।"[1]

धर्मवीर आत्मकथा लिखने के पीछे के वास्तविक या समाजशास्त्रीय कारणों की व्याख्या करने की जगह वैयक्तिक आक्षेपों को तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं । आत्मकथा लेखन का एक समाजशास्त्र है । दलित लेखकों की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं । आत्मकथा कौन लिख सकता है और क्यों लिखता है का ठोस जवाब कौन और क्यों नहीं लिख सकता के द्वारा नहीं दिया जाना चाहिए । धर्मवीर किसी भी समस्या को सामान्यकृत करके उसका जवाब भी तदनुसार प्रस्तुत करते हैं ।

धर्मवीर की आलोचना पद्धति एकपक्षीय दिखाई पड़ती है । वह बौद्ध धर्म को क्षत्रिय धर्म के रूप में देखते हैं, जो ब्राह्मण धर्म को चुनौती देने के रूप में स्थापित हुई । वह लिखते हैं, "बुद्ध, महावीर और नानक की ऐतिहासिकता को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता । इन तीन महान क्षत्रियों ने विश्व को अपने-अपने तीन महान धर्म दिए हैं ।"[2] इसी संदर्भ में वह आगे लिखते हैं, "असल में वर्ण-व्यवस्था की प्रशंसा एक मामूली से इस सुधार की शर्त पर हर क्षत्रिय चिन्तक करता है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊँचा या उसके बराबर है । पहले उद्धृत किया जा चुका है कि बुद्ध ने अपनी वर्ण-व्यवस्था के कर्म में क्षत्रिय के बाद ब्राह्मण का स्थान रखा है ।"[3]

क्षत्रिय वंश में जन्म लेने के कारण धर्मवीर को बुद्ध और उनका चिंतन स्वीकार्य नहीं है । वह बुद्ध को वर्ण-व्यवस्था के प्रशंसक के रूप में देखते हैं । उनके अनुसार बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था की यथास्थिति को स्वीकार किया था एवं वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष पर क्षत्रिय को स्थापित करने का प्रयास किया था । इसलिए वह बुद्ध के विचारों को दलितोत्थान के लिए आवश्यक नहीं मानते । इसी कारण से वह अम्बेडकर की भी आलोचना करते हैं । इस संदर्भ में वह लिखते हैं, "पर मुझे दलित

---

[1] धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, पृ. सं. 78-79

[2] वही, पृ. सं. 54

[3] वही, पृ. सं. 56

के शुद्ध और मूल चिंतन को भारत की जनता के सामने रखना है। दुर्भाग्य से, रैदास, कबीर और मक्खलि गोसाल के सिवा ऐसा कभी हुआ नहीं है। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का चिंतन, उनके बौद्ध धर्म में जाने की वजह से, स्वतंत्र दलित चिंतन नहीं रह सका।"[1]

धर्मवीर के लिए दलित चिंतन में भी उसके मूल और शुद्ध चिंतन का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि शुद्ध दलित चिंतन क्या है ? धर्मवीर प्रस्तावित करते हैं कि प्रथमतया दलित द्वारा लिखा जाने वाला साहित्य, दलित साहित्य होगा। उसमें भी एक और विभाजन करते हैं। दलित और शुद्ध दलित साहित्य का। एक संकेत प्रस्तुत उद्धरण में यह मिलता है कि बुद्ध के विचारों से प्रभावित साहित्य शुद्ध दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं आ सकता। ऐसे में तब अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर रचा गया साहित्य भी दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता। दलित विमर्श को धर्मवीर का चिंतन किस दिशा में ले जाना चाहता है, यहाँ विचारणीय हो जाता है।

धर्मवीर दलित साहित्य की भाषा का प्रश्न भी उठाते हैं। धर्मवीर अपनी रचनाओं या भाषा पर लगे आक्षेप का जवाब देते हुए ही दलित विमर्श को परिभाषित करते चलते हैं। दलित विमर्श की भाषा के संदर्भ में वह लिखते हैं, "यह अजीब अपेक्षा है कि दलित चिंतन भद्र भाषा के प्रयोग की सभ्यता द्विजों से सीखेगा। पूछा जा सकता है कि लेखन का यह कौन-सा तरीका और सलीका है कि बैठे-बिठाए यह घोषणा कर दी जाती है कि ब्राह्मण से सारे वर्ण नीचे होते हैं ? अभद्र भाषा का प्रयोग छोड़ना है तो ब्राह्मण को यह लिखना बंद करना पड़ेगा कि मैं तुझ से बड़ा हूँ।"[2]

यहाँ धर्मवीर सही तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जातिवाद ने हमारी भाषा को अप्रत्यक्ष रूप से अभद्र बनाया है। इसके बावजूद अभद्र भाषा का जवाब अभद्र भाषा में नहीं दिया जा सकता। यह सही है कि अब तक के साहित्य-परम्परा में उस तरह के शब्द पहली बार प्रयुक्त हुए जो दलित-जीवन का सच था। इनमें से कई शब्द तथाकथित भद्र विद्वानों को अशोभनीय महसूस हुआ परन्तु दलित साहित्य ने यह सिद्ध किया कि वह गाली गलौज का साहित्य नहीं है। धर्मवीर के यहाँ कथनी

[1] धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, पृ. सं. 7

[2] धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, पृ. सं. 82

करनी को लेकर पर्याप्त बहस है। कबीर की परम्परा में खुद को मानते हुए वह अपनी कथनी-करनी में किसी अंतर से इंकार करते हैं।

धर्मवीर सिद्धांत रूप में सही हैं कि जाति-व्यवस्था ने भाषा को अभद्र बनाया है परंतु व्यवहार में अनायास इसी अभद्र भाषा-परम्परा के अनुगामी प्रतीत होते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। वह लिखते हैं, "सन् 1941 में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' नामक किताब में इस मान्यता का विशदीकरण करते हुए लिखा था- "प्रसिद्ध यह है कि वे (कबीर) किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। माता ने सामाजिक भय से काशी के लहरतारा तालाब के पास इन्हें फेंक दिया था, वहीं नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने उन्हें प्राप्त किया और पाल पोसकर बड़ा किया।" बताइए, कबीर को यह कितनी बड़ी गाली दी गई है कि कबीर हरामजादा था। क्या इन शब्दों में 'हरामजादा', 'हरामजादा', 'हरामजादा' की गालियाँ हिंदी के विद्वानों के कानों में नहीं पड़ रही हैं ?"[1]

इस उद्धरण से हम समझ सकते हैं कि उन्होंने स्वयं ही भाषा के अभद्र रूप को बढ़ावा दिया है। किसी भी बच्चे को नाजायज कहना मातृत्व का अपमान है। यह पितृसत्तात्मक समाज की एक निर्मिति है, जिससे स्त्री पर अधिकार कायम रखा जा सके। धर्मवीर इस संदर्भ में आगे लिखते हैं, "मेरे मसीहा को हरामजादा तब कहा जाए जब वह ऐसा हो।"[2] क्या सचमुच में ऐसा किसी बच्चे को कहा जा सकता है ? जायज या नाजायज संतान का अमानवीय विभाजन पितृसत्तात्मक समाज की निर्मिति है। स्वयं कबीर के जीवन और कर्म ने इस असहिष्णु विभाजन को मिथ्या साबित किया। धर्मवीर के लिए यहाँ भाषा एवं व्यवहार की भद्रता का प्रश्न महत्त्व नहीं रखता। अतएव वह स्वयं भाषा के सन्दर्भ में कही अपनी बात के विरोध में दिखाई पड़ते हैं।

धर्मवीर की चिंता का एक पक्ष उनके द्वारा दलित स्त्रियों पर किया गया लेखन है। प्रसिद्ध दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में अपने पति के बारे में लिखा है, "देवेन्द्र कुमार (मेरे पति) को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी।"[3] इस पर

---

[1] धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, पृ. सं. 20

[2] वही, पृ. सं. 21

[3] कौशल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृ. सं. 104

धर्मवीर की टिप्पणी है, "द्विज नारियों के आरोप तो इस तरह के होते हैं कि उनके पति रखैलों और वैश्याओं से चुके रहते हैं। वे नारियाँ इसी बात की भूखी रहती हैं कि उनके पति अपनी शारीरिक भूख मिटाने के लिए उन्हें छोड़ कर अन्यत्र क्यों जाते हैं। हाँ शिकायत बेवफा होने की की जाया करती है पर शायद यह दुनिया की पहली बेहूदी लेखिका है जो पति के वफादार होने से शिकायत कर रही है।"[1]

धर्मवीर की शुद्ध दलित साहित्य की अवधारणा को यहाँ समझा जा सकता है। वह ऐसे साहित्य को दलित साहित्य नहीं मानते जिसमें दलित स्त्री द्वारा दलित पुरूष की आलोचना की गई हो। ऐसे लेखन और लेखिका की आलोचना में वह भाषा और सलीका की भद्रता का भी ख्याल नहीं रखते। वह कौशल्या बैसंत्री की इतनी तीखी आलोचना सिर्फ इसलिए करते हैं क्योंकि उससे दलित पितृसत्ता को चुनौती मिलती है। ऐसे में यह विचारणीय हो जाता है कि स्त्री विरोधी लेखन को शुद्ध या मूल दलित साहित्य माना जाना चाहिए या नहीं ?

'अम्बेडकरवादी साहित्य में स्त्री विमर्श' लेख में अनीता भारती लिखती हैं, "सवाल उठता है कि दलित साहित्यकार स्त्री के यौन शोषण या बलात्कार से, सवर्णों के उन पर आधिपत्य से इतने आतंकित क्यों हैं ? क्यों बार-बार लेखन का विषय दलित स्त्री का यौन शोषण बनता है ? ...जबकि दलित लेखिकाओं के लेखन का कलेवर अत्यंत विस्तृत है।"[2] इस पर धर्मवीर की टिप्पणी है, "बताइए, ये दलित महिला दलित महिला के यौन शोषण को कितने हल्के ढंग से ले रही हैं। बस इनकी तरफ से यही कहने की कमी रह गई है कि द्विज लोग दलित स्त्रियों का शोषण नहीं करते हैं बल्कि उनपर उपकार करके और उन्हें गर्भवती करके उन्हें संतान देते हैं। यदि रोका न जाए तो शायद वे अगली बार ऐसा ही लिखेंगी। क्या अनीता भारती बुधिया बनना चाह रही हैं ? मुझे नहीं लगता कि उस बेचारी का कोई दोष था लेकिन अनीता भारती की सोच में निश्चित रूप से भारी खोट है।"[3]

बुधिया को यहाँ बेचारी बताने वाले धर्मवीर की थोड़ी सी भी संवेदना बुधिया के साथ, उनके द्वारा किए गये 'कफ़न' के पुनर्पाठ में दिखाई नहीं देता। उन्होंने

---

[1] हंस, अगस्त 2004, धर्मवीर का लेख : एक डायनासोर औरत, पृ. सं. 70

[2] अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 275

[3] धर्मवीर,प्रेमचंद सामंत का मुंशी, पृ. सं. 66

लिखा है, "बच्चा गाँव के जमींदार का या किसी प्रेमचंद का निकले तो उस बच्चे को उस बुधिया समेत वे पालें, कोई चमार क्यों पाले ?"[1]

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'शुद्ध' दलित साहित्य में आलोचना के लिए कितनी जगह होगी ? किसी दलित स्त्री को स्वस्थ बहस करने का अधिकार होगा या नहीं ? अनीता भारती अपने तर्कों को ही प्रस्तुत कर रहीं हैं, इससे किसी दलित या गैर दलित आलोचक को आक्षेप लगाने का अधिकार कैसे मिल सकता है ? अंततः हम यह देखते हैं कि धर्मवीर की आलोचना सिद्धांततः किंचित् तार्किक होने के बावजूद व्यवहार रूप में विवादास्पद है। वह अपनी आलोचना के माध्यम से दलित विमर्श या दलित चिंतन से संबंधित कई प्रश्नों को उठाते हैं पर व्यवहार रूप में उसे तार्किक परिणति तक नहीं पहुँचा पाते। बरहाल धर्मवीर की क्षमताएँ और सीमाएँ दलित विमर्श को बेहतर ढंग से समझने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

1.2.4 जयप्रकाश कर्दम

दलित विमर्श के आलोचकों में जयप्रकाश कर्दम का प्रमुख स्थान है। दलित साहित्य के एक प्रमुख उपन्यासकार, कवि, संपादक के साथ जयप्रकाश कर्दम दलित विमर्श के प्रमुख आलोचक भी हैं। दलित साहित्य की अवधारणा, दलित चेतना, दलित साहित्य की प्रासंगिकता के साथ-साथ उन्होंने दलित विमर्श के संकटों और चुनौतियों पर भी विचार किया है।

अवधारणा :

जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य को दलित आन्दोलन से अनिवार्यतः जोड़कर देखने के पक्षधर हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा, "दलित साहित्य, जैसा कि प्रायः सभी दलित लेखकों का मानना है, दलित आन्दोलन का एक हिस्सा है और इसका मूल उद्देश्य जहाँ एक ओर समाज की संवेदना को झकझोरना है वहीं दलितों में स्वाभिमान की चेतना का संचार करना है ताकि वे अपने दमन और

[1] धर्मवीर,प्रेमचंद सामंत का मुंशी, पृ. सं. 64

शोषण के कारणों को समझकर उनसे मुक्त होने के लिए संघर्ष हेतु स्वयं को तैयार कर सकें।"[1]

अर्थात् दलित साहित्य एवं विमर्श का लक्ष्य न सिर्फ परम्परागत समाज की संवेदना को झकझोरना है ताकि वे दलितों के दर्द को समझ सकें बल्कि दलितों में अपने दमन और शोषण के प्रति चेतना भी पैदा करना है। ऐसा होने पर ही दलितों में स्वाभिमान की चेतना आ सकती है। स्वाभिमान की चेतना के अभाव में ही दलित अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष नहीं कर पा रहे थे पर वर्तमान में दलित साहित्य ने जरूर उनमें स्वाभिमान की चेतना को विकसित किया है और संघर्ष के लिए जमीन भी तैयार किया है।

जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य के इस अवदान को अच्छी तरह समझते हैं। इसलिए वह दलित साहित्यकारों एवं विमर्शकारों से कुछ एहतियात भी चाहते हैं। उन्होंने लिखा है, "संघर्ष की इस धार को बनाए रखने के लिए केवल अपना दुखड़ा रोने भर से काम चलने वाला नहीं है और न केवल बाबासाहब का जय-गान करने भर से। बल्कि स्वाभिमान और अधिकार चेतना से युक्त बाबासाहब अम्बेडकर के विचार-दर्शन की ऊर्जा को साहित्य के माध्यम से जनता तक पहुँचाना होगा।"[2]

अम्बेडकर के विचारों को वह दलित साहित्य की रीढ़ मानते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि दलित साहित्य की अवधारणा अम्बेडकर के विचारों पर ही आधारित है। इसलिए दलित साहित्यकारों का लक्ष्य अम्बेडकर के विचारों की ऊर्जा को साहित्य के विभिन्न विधाओं के माध्यम से जनता तक पहुँचाया जाना चाहिए। दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, "दलित साहित्य वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद और अश्पृश्यता के नकार सहित सभी प्रकार के मानवीय शोषण के खिलाफ एक मुहीम है, और आज की तारीख में दलित साहित्य की प्रेरणा और ऊर्जा का स्रोत बाबासाहब अम्बेडकर हैं।"[3] ओमप्रकाश वाल्मीकि और कँवल भारती की तरह जयप्रकाश कर्दम भी दलित विमर्श को जाति आधारित शोषण तक सीमित नहीं मानते। वह भी इसे मानव-मुक्ति के दर्शन से जोड़कर देखते

---

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 8

[2] वही, पृ. सं. 11

[3] वही, पृ. सं. 12

हैं। तभी तो वह दलित साहित्य को समस्त मानवीय शोषण के विरुद्ध एक मुहिम मानते हैं।

जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य को प्रथमतः जाति आधारित शोषण से जोड़ कर देखते हैं। उनके लिए पहली सच्चाई जाति व्यवस्था से उपजा अमानवीय शोषण है। उनका मानना है कि जातिवाद से मुक्ति के बाद ही मनुष्यता की नींव रखी जा सकती है और उसका विकास किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में उनकी स्पष्ट राय है कि "दलित साहित्य ने 'ताड़ना के अधिकारियों' की अस्मिता की खोज की है तथा उनको मनुष्य होने का अहसास कराया है। दूसरे शब्दों में दलित साहित्य ने मनुष्यता को नई पहचान और नए अर्थ दिए हैं। यह अर्थवत्ता साहित्य की सर्वथा एक नई उपलब्धि और दलित साहित्य की एक नई देन है।" [1]

दलित विमर्श के लक्ष्य के रूप में वह जाति-विहीन के साथ वर्ग-विहीन समाज की भी बात करते हैं परन्तु वह जाति के विनाश की आवश्यकता को प्राथमिक मानते हैं। दलित साहित्य की अवधारणा में जाति के साथ आर्थिक शोषण के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि दलितों के आर्थिक शोषण के पीछे भी जाति का तर्क ही प्रधान कारक के रूप में दिखाई देता है। वह अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "दलित लेखन के केंद्र में दलित व्यक्ति है जो आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक रूप से पिछड़ा है। वह न्याय से वंचित है। उपेक्षा, अपमान और अश्पृश्यता का शिकार है और इस सब का कारण 'जाति' है। दलित चिन्तक का अंतिम लक्ष्य 'जाति-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज' की स्थापना है।"[2]

दलित विमर्श की विचारधारा:

जयप्रकाश कर्दम दलित विमर्श की प्रेरणा अम्बेडकर के विचारों को मानते हैं। उनके अनुसार "आज के समय में लिखा जाने वाला सारा का सारा दलित साहित्य चाहे वह किसी भी भाषा में क्यों न हो, निश्चित तौर पर बाबासाहब अम्बेडकर के वैचारिक दर्शन पर आधारित है।"[3] वह अम्बेडकर की समता,

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 21

[2] वही, पृ. सं. 25

[3] वही, पृ. सं. 12

स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के विचार को दलित-चिंतन की मुख्य विचारधारा मानते हैं। इस सन्दर्भ में अम्बेडकर ने स्वयं लिखा है, "आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अगर आप जाति के विरुद्ध हैं तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है ? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो।"[1] अम्बेडकर के उस आदर्श को ही जयप्रकाश कर्दम, दलित वैचारिकी की अनिवार्य शर्त मानते हैं। उन्होंने लिखा है, "समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व मानववाद के विकास के आधार स्तम्भ हैं। इसलिए केवल वही साहित्य दलित साहित्य हो सकता है जो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के खम्भों पर खड़ा हो। इनसे इतर आधार रखने वाला साहित्य दलित साहित्य नहीं हो सकता।"[2]

जयप्रकाश कर्दम ने राजेंद्र यादव के हवाले से यह बताया है कि राजेंद्र यादव दलित साहित्य को तीसरी दुनिया का साहित्य कहते थे। राजेंद्र यादव का मानना था, "तीसरी दुनिया का सौंदर्यशास्त्र यातना, संघर्ष और स्वप्न के खम्भों पर खड़ा होगा।"[3] जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य को तीसरी दुनिया का साहित्य मानने की अवधारणा का विरोध करते हैं। उनका मानना है तीसरी दुनिया का साहित्य कहने से दलित विमर्श पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार "तीसरी दुनिया में केवल दलित नहीं आते हैं। और भी कई वर्ग इसमें आते हैं जो सर्वहारा या आम आदमी के रूप में परिभाषित किए जाते हैं। दलित को उसकी अस्मिता के साथ न देखना दलित अस्मिता के मुद्दे को डाइल्युट करना है, दलित साहित्य को दलित साहित्य न कहकर तीसरी दुनिया के साहित्य की बात करना इसी तरह का डाइल्युसन है। यादव जी की यह अवधारणा वस्तुतः मार्क्सवादी अवधारणा है...।"[4]

जयप्रकाश कर्दम का यह विचार किंचित अप्रासंगिक जान पड़ता है। अम्बेडकर को सर्वहारा शब्द से विरोध नहीं था। इस सन्दर्भ में उनका मानना था कि जिस सर्वहारा क्रांति का सपना समाजवादी देखते हैं वह जाति समस्या के समाधान के बिना संभव नहीं है। जयप्रकाश कर्दम यहाँ सर्वहारा और दलित को दो

---

[1] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ. सं. 78

[2] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 14

[3] उद्धृत, वही, पृ. सं. 14

[4] वही, पृ. सं. 14

अलग वर्गों में विभाजित करने का प्रयास करते हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "...सर्वहारा और दलित में बहुत अंतर है। सर्वहारा आम आदमी हो सकता है किन्तु दलित सर्वहारा या आम आदमी नहीं हो सकता।"[1] दलित को आम आदमी न मानना एक अतिरंजनापूर्ण विचार प्रतीत होता है। दलित और दमित को एक न मानना दलित साहित्य के व्यापक विस्तार और संभावना को संकुचित करने वाला साबित हो सकता है। जयप्रकाश कर्दम अपने अतिरंजनापूर्ण मत के कारण जाति और वर्ग को एक दूसरे का विरोधी बताते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "दरिद्र व्यक्ति की सारी वेदना-संवेदना केवल आर्थिक अभाव अथवा शोषण पर केन्द्रित होगी। जबकि दलित का दर्द आर्थिक से ज्यादा सामाजिक है। वर्ण और जाति के कारण घृणा और अपमान का जो दंश उसे कदम-कदम पर झेलना पड़ता है। यह यातना आर्थिक विषमता से कहीं ज्यादा भयावह और त्रासदायक है। आम आदमी की आवश्यकता और उसकी वेदना-संवेदना को दलितों की आवश्यकता और उनकी वेदना-संवेदना के साथ एकाकार करके देखना और मानना भ्रामक है।"[2]

जयप्रकाश कर्दम का उक्त विचार दलित-चिंतन की विचारधारा के विरुद्ध जाता है। यह सही है कि दलितों को जाति का जो दंश झेलना पड़ा है, वह उनकी आर्थिक समस्या से बड़ी है परन्तु अम्बेडकर तो जाति और पूँजी दोनों के शोषण को बराबर महत्त्व देते थे। ऐसे में आर्थिक प्रश्नों की अनदेखी करना और दरिद्र और दलित को अलग करके विचार करना समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के विचारधारा के भी खिलाफ है। इस पक्ष पर सजगता से विचार करना आवश्यक है, तभी दलितों की मुक्ति को समस्त मानवता की मुक्ति के सवाल से जोड़ा जा सकता है। स्वयं जयप्रकाश कर्दम के विचार भी इसी तरफ इशारा करते हैं। उन्होंने लिखा है, "बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर का सपना जाति विहीन एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना था। ऐसा होने पर ही समाज में समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की स्थापना हो सकती है तथा लोकतंत्र पनप सकता है जो किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की प्रगति एवं विकास के लिए आवश्यक है।"[3]

---

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं. 15

[3] वही, पृ. सं. 17

दलित विमर्श की चुनौतियाँ:

दलित लेखकों में आत्मालोचन का अभाव और उनके आत्ममुग्ध होने को, जयप्रकाश कर्दम दलित विमर्श एवं इसके साहित्य के लिए एक बड़ी चुनौती के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि पिछले कुछ वर्षों में दलित साहित्य की अपनी एक पहचान परम्परागत साहित्य की प्रवृत्तियों एवं विचारों को चुनौती देने के रूप में बनी है 'किन्तु आत्मगर्वित होने की स्थिति दलित साहित्य की अभी नहीं बनी है, इसमें दो राय नहीं होनी चाहिए।'[1] इस सन्दर्भ में वह आगे लिखते हैं, "अपनी कलम से अपनी ही चर्चा करना या अपनी रचनाओं की खुद ही प्रशंसा करना बहुत बड़ी आत्म वंचना है। वंचना की प्रवृत्ति से दलित लेखक जितनी जल्दी उबरें इसी में उनका हित है...लम्बे समय तक स्वयं को जीवित रखने के लिए दलित-लेखकों को आत्म वंचना छोड़ आत्म-आलोचना की प्रवृत्ति का विकास अपने अन्दर करना पड़ेगा।"[2]

जयप्रकाश कर्दम ने यहाँ बिल्कुल उचित सुझाव दलित लेखकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। कोई भी आन्दोलन या साहित्य आत्ममुग्धता से आगे नहीं बढ़ सकता। दलित आन्दोलन और साहित्य को अगर कालजीवी होना है तो उसे आत्ममुग्धता की जगह आत्मालोचना को जगह देना ही पड़ेगा। जयप्रकाश कर्दम इसके साथ ही दलित लेखकों के भटकाव को दलित विमर्श के लिए एक बड़ी चुनौती मानते हैं। उनका मानना है कि इस नवोदित साहित्यिक आन्दोलन के रचनाकार दिशाहीनता के शिकार हो जा रहे हैं, इसी कारण उनका ध्यान दलित विमर्श के मुख्य लक्ष्य पर नहीं रह पा रहा। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, "दलित साहित्य की दूसरी बड़ी चिंता उसके भटकाव या दिशाहीनता की है। दलित साहित्य से अपेक्षा यह है कि उसकी पुरजोर ताकत ब्राह्मणवाद के सार्थक विरोध पर लगे। किन्तु आज बहुत से दलित लेखक ब्राह्मणवाद की खिलाफत की बजाए उसके औजार बने हुए हैं।"[3] उनका विचार है कि दलित साहित्यकार एवं चिंतकों को इस दिशाहीनता को त्याग कर सारा जोर जाति के उन्मूलन के संघर्ष के लिए लगाना चाहिए।

---

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 9

[2] वही, पृ. सं. 9

[3] वही, पृ. सं. 103

जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य के लिए एक बड़ा संकट दलित साहित्य एवं विचारों के प्रकाशन की मानते हैं। उनका मानना है कि प्रकाशन की समुचित व्यवस्था के अभाव में दलित साहित्य और उसका चिंतन व्यापक स्तर पर विकसित नहीं हो पा रहा है। इस चुनौती को हल करने के लिए वह सुझाव देते हैं कि "दलित लेखकों का अपना को-ओपरेटिव अर्थात् साझा प्रकाशन खड़ा हो। ...इससे देश भर में एक नेटवर्क बन सकता है और बाज़ार की समस्या भी उनके समक्ष नहीं रहेगी।"[1]

जयप्रकाश कर्दम भूमंडलीकरण के इस दौर को भी एक चुनौती के रूप में देखते हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, "मौजूदा समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दलितों के समक्ष खड़ी चुनौतियों का मुकाबला कैसे किया जाए, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और कम्प्यूटरीकरण आदि का उन पर क्या प्रभाव पड़ा है, या पड़ने वाला है, इन सबको भी साहित्य का प्रतिपाद्य बनाया जाना चाहिए।"[2]

उनके अनुसार दलित साहित्य को तेजी से बदलते समकालीन दौर की चुनौतियों को भी समझना और स्वर देना होगा। दलितों की स्थिति में ये सारे बदलाव किस तरह का परिवर्तन ला रहे हैं, इस पर दलित विमर्शकारों को विचार करना होगा। दलित साहित्य की प्रासंगिकता के लिए इन सारी चुनौतियों को समझना और उसके विरुद्ध सतत संघर्ष करते रहना, दलित विमर्शकारों के लिए बेहद आवश्यक होगा।

1.2.5 एन. सिंह

एन. सिंह दलित विमर्शकार के रूप में हिन्दी में एक जाने पहचाने नाम हैं। दलित विमर्श की वैचारिकी पर जब से हिन्दी में बहस शुरू हुई, एन. सिंह ने उसमें बराबर भागीदारी की है। एन. सिंह के कार्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह एक आलोचक के रूप में कम पर दलित साहित्य का दस्तावेजीकरण करने में अधिक सफल रहे हैं। किसी साहित्य का दस्तावेजीकरण ऐतिहासिक दायित्त्व का काम होता है। किसी साहित्य का दस्तावेजीकरण, महज तथ्यों को इकट्ठा

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 103

[2] वही, पृ. सं. 11

करना, नाम या संख्या गिनाना मात्र नहीं होता । एन. सिंह ने पूरे आलोचकीय दायित्त्व के साथ यह कार्यभार अब तक निभाया है । इसके बावजूद उन्होंने दलित साहित्य की आलोचना में भी अपना योगदान देने का प्रयास किया है ।

एन. सिंह दलित साहित्य या विमर्श की स्वतंत्र कोई अवधारणा नहीं गढ़ पाये हैं । उन्होंने सभी प्रमुख दलित विमर्शकारों की परिभाषा को समझाने-समझने का प्रयास अवश्य किया है । दलित साहित्य की अवधारणा के बारे में उनका मत है, "हमारे विचार से दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन हुआ या उत्पीड़न किया गया हो । यह उत्पीड़न चाहे शास्त्र के द्वारा किया गया हो अथवा शस्त्र के द्वारा । कुछ लोग दलित का अर्थ अनुसूचित जातियों तक सीमित करते हैं, जबकि शाब्दिक दृष्टि से उसमें भारतीय समाज के स्त्री तथा पिछड़े वर्ग के साथ सवर्ण जातियों के वे लोग भी आते हैं, जिनका किसी भी रूप में मानसिक या आर्थिक शोषण किया गया हो ।"[1] एन. सिंह अनुसूचित जाति के साथ दलित की अवधारणा में सभी वंचित वर्गों को भी शामिल करने का विचार प्रस्तुत करते हैं । वह तो इसमें सवर्ण जातियों के भी उन लोगों को भी शामिल करने की पेशकश करते हैं जिनका मानसिक या आर्थिक शोषण किया गया हो । इस प्रश्न पर अधिकांश दलित विचारकों का मत एन. सिंह के विरोध में ही है । सवर्ण जातियों के प्रताड़ित लोगों को अधिकांश दलित विचारक दलित मानने के पक्ष में नहीं हैं ।

दलित साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, "दलित जातियों में उत्पन्न लेखकों के द्वारा दलित जीवन की विसंगति पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है जो दलितों में परम्परागत शोषणपरक मान्यताओं के विरूद्ध विद्रोह की भावना जागृत करने का प्रयास करता है । जिसमें आक्रोश का भाव है, जो विभेद के प्रति संघर्ष करता है और शोषण से मुक्ति प्राप्त कर समतापूर्ण जीवन जीने के सूत्र सौंपता है, जो जातपाँत का विरोधी है और सबको समान मानता है ।"[2] दलित शब्द की अवधारणा को एन सिंह ने जहाँ व्यापक बनाने का अपने तईं प्रयास किया था वहीं दलित साहित्य की अवधारणा को वह दलितों तक रचे गए साहित्य तक ही सीमित मानते हैं । आलोचनात्मक विवेक की यह लापरवाही उनकी आलोचना दृष्टि को कतिपय कमजोर साबित करती है । यह

[1] डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, पृ. सं. 68

[2] वही, पृ. सं. 70

जरूर उन्होंने दलित साहित्य के बारे में सही नोट किया है कि दलित साहित्य जात-पाँत का विरोधी है और सभी जातियाँ एवं समुदायों को समान मानता है।

दलित साहित्य के नामकरण की अवधारणा पर विचार करते हुए वह लिखते हैं, "इस साहित्य का नाम 'दलित साहित्य' ही क्यों रखा जाए ? क्योंकि 'दलित' शब्द अपने व्यापक अर्थ में पीड़ित मानवता का प्रतिनिधित्व करता है विस्तार की दृष्टि से 'दलित साहित्य' भारतीय समाज के उस 'बहुजन' का साहित्य है, जो असमानता पर आधारित अभिजात्यवाद के कलात्मक झूठ का पर्दाफाश करने की क्षमता रखता है।"[1]

इसी प्रकार वह दलित साहित्य कौन लिख सकता है, इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं। उनका मानना है कि गैर दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार "इस मुद्दे पर सभी विद्वान लगभग एकमत हैं कि दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है, क्योंकि यदि कोई गैर दलित लेखक दलित समस्याओं पर लिखता है तो उसमें सहानुभूति होती है, आक्रोश नहीं।"[2]

दलित विमर्श अब अपनी प्रारंभावस्था से परिपक्वता की ओर बढ़ रहा है। इसलिए वह सहानुभूति को अब भी दलित साहित्य का गुण नहीं मानता लेकिन आक्रोश को भी दलित साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं स्वीकार करता। आज के समय में अब यह विवाद ही प्रासंगिक नहीं रहा कि दलित साहित्य कौन लिख सकता है और कौन नहीं ? जयप्रकाश कर्दम यह पहले ही लिख चुके हैं कि "दलित लेखक अपने साहित्यिक आन्दोलन का नेतृत्व करें और सदाशयी या हमदर्द की तरह गैर-दलित लेखक उनको सहयोग या समर्थन दें इसमें दिक्कत क्या है ?"[3] जयप्रकाश कर्दम का यह विचार भी, पुनर्विचार की माँग करता है। एन. सिंह का विचार तो जयप्रकाश कर्दम के विचार का पूर्ववर्ती मालूम होता है।

एन. सिंह के अनुसार जब दलित साहित्य ने अपना विधागत विस्तार व्यापक किया और दलित साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा,

---

[1] डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, पृ. सं. 72

[2] वही, पृ. सं. 73

[3] जयप्रकाश कर्दम, दलित-विमर्श: साहित्य के आईने में, पृ. सं. 11

निबंध, नाटक, आलोचना, अनुवाद आदि के स्तर पर रचनाएँ बहुतायत से होने लगी, तब दलित साहित्य पर गंभीर आरोप भी लगाए गए। मसलन, न तो कोई साहित्य दलित होता है और न साहित्यकार। दलित-प्रश्न को केन्द्र में रखकर कोई व्यक्ति अच्छा साहित्य लिख ही नहीं सकता। एन. सिंह ने दलित विचारकों के हवाले से इस विषय पर अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है, "इसका उत्तर भी दलित साहित्यकारों ने दिया कि 'दलित' शब्द हिन्दुओं की उस कुत्सित मानसिकता का प्रतीक है, जिसके तहत उन्होंने एक पूरे वर्ग का दैहिक, मानसिक, आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक उत्पीड़न किया है। अब हमने अपने संघर्ष को तेज करने के लिए इसे स्वयं सोच समझकर ग्रहण किया है। जब साहित्य 'संत' हो सकता है, तो 'दलित' क्यों नहीं हो सकता ?"[1]

यह बिल्कुल सही बात है कि हिन्दी साहित्य में अगर संत साहित्य, छायावादी साहित्य, प्रगतिवादी साहित्य आदि हो सकता है तो दलित साहित्य के होने से किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। साथ ही एक प्रश्न यह भी उठता है कि जब संत साहित्य किसी भी जाति का कवि लिख सकता था तब दलित साहित्य सिर्फ दलित ही क्यों लिखेंगे ? लिखे गए साहित्य की गुणवत्ता पर बात जरूर होनी चाहिए परंतु किसी विशेष के पास विशेषाधिकार होना कितना उचित है ? यह भी एक विचारणीय पहलू है।

इन प्रश्नों के अलावा एन. सिंह ने दलित साहित्य की राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक मान्यताओं पर विचार किया है। यह विचार भी आलोचनात्मक न होकर विचारों का संकलन ही ज्यादा है। एन. सिंह न कोई स्थापना देने का प्रयास करते हैं और न किसी उचित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यथा दलित विमर्श और साहित्य की आर्थिक मान्यताओं पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में कहते हैं, "निष्कर्ष रूप में कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि दलित वर्ग की विपन्नता का चित्रण ही हिन्दी दलित साहित्य में प्रमुखता से हुआ...दलित साहित्यकार अपने समाज की आर्थिक विपन्नता और शोषण की स्थिति को पूरी सच्चाई से

[1] डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, पृ. सं. 294

अभिव्यक्ति देकर साहित्यकार का धर्म तो पूरी तरह निभा रहे हैं, यह हम उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निश्चयपूर्वक कह सकते हैं।"[1]

एन. सिंह आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास नहीं करते । वह इतिहास के तथ्यों के साथ साहित्य के उदाहरणों को अपने बात के समर्थन में रखते जाते हैं। आर्थिक मान्यताओं की बात करते हुए भी वह दलित साहित्य के विभिन्न रचनाओं में प्रकट हुए दलितों के विपन्नता का चित्र तर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन सबके बावजूद एन. सिंह आलोचना के लिए जरूरी सामग्रियों का संकलन अपनी आलोचनात्मक कृतियों में करने का कार्य जरूर करते हैं।

निष्कर्ष :

इस पूरे विश्लेषण से हमें पता चलता है कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में जाति समस्या पर प्रारंभ से ही विचार किया जाता रहा है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र भी भारतीयों के गुलामी और पिछड़ेपन का मुख्य कारण भारतीयों का विभिन जातियों और मजहबों में बँटा हुआ मानते थे। यदि हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखें तो शुरू से जाति एक केन्द्रीय विषय के रूप में दिखाई देती है। हिन्दी साहित्य के पहले कवियों में शुमार किए जाने वाले सरहपा की रचनाएँ इस बात का पुख्ता प्रमाण हैं। हिन्दी आलोचना के प्रारंभिक दो आलोचकों के यहाँ भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्ता दिखाई देती है। हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य में जाति को केन्द्र में रखकर विमर्श आज हो रहा है परन्तु यह चेतना बहुत पुरानी है।

इस अध्याय में हुए विश्लेषण से यह पता चलता है कि जाति-प्रश्न पर कुछ प्रमुख आलोचकों द्वारा विचार किए जाने के बावजूद यह हिन्दी आलोचना की चिंता का प्रमुख स्वर कभी नहीं रहा। जाति-प्रश्न पर आंदोलनात्मक रूप से संवेदना पैदा करने का कार्य दलित विमर्श के माध्यम से ही घटित हुआ। दलित विमर्श ने दलितों की वेदना एवं विरोध को संगठित तरीके से स्वर प्रदान किया। रचना एवं आलोचना दोनों ही स्तर पर दलित विमर्श ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। रचना के

[1] डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, पृ. सं. 261

विषयों का विस्तार करने के साथ दलित विमर्श ने हिन्दी आलोचना के प्रतिमानों और इसकी भाषा को भी प्रभावित किया है।

अंततः हम यह कह सकते है कि दलित विमर्श का आंदोलनात्मक रूप से उपस्थित होना, समकालीन परिघटना होते हुए भी हिन्दी साहित्य के इतिहास से इतर परिघटना नहीं मानी जानी चाहिए। इसे स्वायत्त मानने की भूल बहुत सारे विमर्शकार या आलोचक भी करते हैं। हमें यह समझना होगा कि दलित विमर्श हिन्दी साहित्य का ही विस्तार है। हिन्दी साहित्य के इतिहास से विलग करके देखने से दलित विमर्श का उद्देश्य संकुचित हो सकता है।

द्वितीय अध्याय

2. समकालीन हिन्दी आलोचना और स्त्रीवाद

हिन्दी का स्त्रीवाद, अंतर्राष्ट्रीय नारीवादी आंदोलन की प्रेरणा से विकसित हुआ माना जाता है। स्त्रीवाद स्त्रियों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समानता का आंदोलन है। विश्व स्तर पर घटित कई घटनाओं का प्रभाव स्त्रीवादी आंदोलन के मूल में है। यह आंदोलन मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन में शुरू हुआ। 18 वीं सदी की औद्योगिक क्रांति और यूरोप के मानवतावाद ने स्त्रियों से संबंधित समस्याओं को मुद्दा बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसी कारण 'फ्रांसीसी क्रांति के दौरान महिला रिपब्लिकन क्लबों ने माँग की थी कि आजादी, समानता और भ्रातृत्व का व्यवहार बिना किसी लिंग भेद के लागू होना चाहिए।'[1] अमेरिका में सन् 1901 में नारी-मुक्ति का आंदोलन शुरू हुआ था। इससे पूर्व सन् 1611 में मैसाच्युसेट्स में महिलाओं को मताधिकार की प्राप्ति हुई थी जिसे सन् 1780 में वापस ले लिया गया। सन् 1857 में संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाओं और पुरुषों के समान-वेतन हेतु हड़ताल हुई थी। इसी दिवस को बाद में अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया गया। सन् 1859 में सोवियत-संघ में सेण्ट-पीटर्सबर्ग में महिला-मुक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो के संरक्षण में महिला अधिकार संगठन की स्थापना की गई। सन् 1908 में ब्रिटेन में 'वीमेन्स फ्रीडम लीग' की स्थापना हुई और सन् 1911 में जापान में महिला मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ हुआ। सन् 1963 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित मैडम क्यूरी सहित तीन महिलाएँ पहली बार फ्रांस में मंत्री बनीं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला-आंदोलन की शुरूआत सन् 1951 से माना जा सकता है जब संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने भारी बहुमत से महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों का नियम पारित किया। सन् 1975 पूरे विश्व में अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन, नैरोबी में दूसरा अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन (सन् 1985) और संघाई में तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (सन् 1995) में सम्पन्न हुआ।

भारत में आधुनिक युगीन नवजागरण, आजादी की लड़ाई के साथ स्त्री-जागरण की लड़ाई भी लड़ रहा था। राजा राममोहन राय ने सन् 1818 में इसी के तहत सती-प्रथा का जमकर विरोध किया था, जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप सन्

[1] अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ. सं. 546

1829 में लार्ड विलियम बैण्टिक को सती-प्रथा को गैर कानूनी घोषित करना पड़ा। बहुपत्नी-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध के विरूद्ध पहले लड़ते हुए राजा राममोहन राय स्त्री के ही पक्ष में खड़े हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्त्री शिक्षा पर बल देकर उसे प्राचीन भारतीय गौरव से जोड़ने का प्रयास किया। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के विरूद्ध आंदोलन कर 'शारदा एक्ट' पास करवाया। इसी प्रकार आगे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति के अंतर्गत सीमित ही सही गांधी भी स्त्री अधिकार एवं स्त्री की समानता को आवश्यक मानते हैं। 1980 के दशक में हिन्दी में भी स्त्रीवाद की आहट सुनाई देती है। स्त्री रचनाकार इस ओर सजगता से प्रयास करती हुई दीखती हैं।

यहाँ प्रथम उद्देश्य हिन्दी-आलोचना की परंपरा के अंतर्गत स्त्री चेतना को रेखांकित करना है। समकालीन स्त्रीवाद पर चर्चा के लिए विचार की इस परंपरा को जानना आवश्यक है।

2.1 हिन्दी आलोचना की परंपरा और स्त्री चेतना

2.1.1 महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा को हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक रहस्यवादी कवयित्री एवं यथार्थवादी गद्य लेखिका के रूप में जाना जाता है। महादेवी वर्मा ने एक ऐसे समय में स्त्री को साहित्य का विषय बनाया, जब उसका आसन भारत माता के रूप में स्थापित था। ऐसे समय में उन्होंने जूझारू और आम स्त्री को साहित्य के पटल पर लाकर एक क्रांतिकारी शुरूआत की। इसके आलावा उन्होंने विस्तार से स्त्री की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर विचार किया।

प्रारंभ में वह स्त्री की स्थिति एवं नियति को भारतीय संस्कृति एवं चले आ रहे समाज व्यवस्था के अंतर्गत ही मानती थी। इसके बावजूद वह कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करती हैं। यथा वह स्त्री और पुरुष के बीच के प्राकृतिक विभेद को समस्या के रूप में नहीं देखतीं। उन्होंने लिखा है, "दो वस्तुओं का अंतर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नहीं होता, यह मनुष्य प्रायः भूल जाता है। नारी ने भी यही चिर-परिचित भ्रांति अपनाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुष में विशेष अंतर रहा है और भविष्य में भी रहेगा, परंतु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी की हीनता का विज्ञापन करता है।"[1]

यहाँ महादेवी वर्मा स्त्री और पुरुष के बीच के शारीरिक अंतर के साथ मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अंतर को महत्त्व देती हैं, जो निश्चित रूप से सार्थक प्रतीत नहीं होता। शारीरिक अंतर, प्राकृतिक भेद है परंतु इस अंतर को शोषण का आधार बनाकर ही स्त्रियों को मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़ा बनाने का सतत प्रयास होता रहा है। यही कारण है कि आधुनिक स्त्रीवाद प्रारंभिक स्तर पर देह विमर्श को अतिवादी रूप से महत्त्व देता है।

इतना ही नहीं महादेवी आधुनिक स्त्रियों के यत्नों से भी प्रभावित नज़र नहीं आतीं। वह लिखती हैं, "आधुनिक स्त्री ने अपने जीवन को इतने परिश्रम और यत्न

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 300

से जो रूप दिया है वह कितना स्वाभाविक हो सकता है, यह कहना अभी संभव नहीं है। हाँ, इतना कह सकते हैं कि वह बहुत सुंदर भविष्य का परिचायक नहीं जान पड़ता।"[1]

महादेवी वर्मा आधुनिकता को भारतीय संस्कृति के अनुसार ही विकसित होते देखना चाहती हैं। उनका मानना है कि स्त्री का यह आधुनिक रूप पश्चिम का प्रभाव है। इसलिए यह प्राकृतिक न होकर कृत्रिम है। इसके साथ ही वह भारतीय समाज व्यवस्था में निहित नारी के शोषण को भी समझती हैं। उनका मानना है कि शताब्दियों के शोषण के विरूद्ध स्त्रियों को आवाज उठाना चाहिए। वह लिखती हैं, "हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए।"[2] यहाँ हम देख सकते हैं कि महादेवी जिस भारतीय परंपरा की समर्थक हैं, उसी को स्त्री की स्थिति को बदतर बनाने का दोषी मानती हैं। वह चाहती हैं कि स्त्री अपनी अधोगति को समझे और प्रतिवाद करे परंतु शिक्षा के अभाव में वह ऐसा कर पाने में असमर्थ है।

महादेवी राजनीतिक अधिकारों एवं आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव के साथ स्त्री की सामाजिक स्थिति को भी उनके शोषण का कारण मानती हैं। उनके अनुसार "स्त्री के जीवन में राजनीतिक अधिकारों तथा आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव तो रहा ही, साथ ही उसकी सामाजिक स्थिति भी कुछ स्पृहणीय नहीं रही। उसके जीवन का प्रथम लक्ष्य पत्नीत्व तथा अंतिम मातृत्व समझा जाता रहा, अतः उसके जीवन का एक ही मार्ग और आजीविका का एक ही साधन निश्चित था।"[3] इसी संदर्भ में आगे उनकी एक मार्मिक टिप्पणी है, "यदि हम कटु सत्य सह सकें तो लज्जा के साथ स्वीकार करना होगा कि समाज ने स्त्री को जीवकोपार्जन का साधन निकृष्टतम दिया है। उस पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी तथा मनोरंजन का साधन

---

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 301

[2] वही, पृ. सं. 303

[3] वही, पृ. सं. 309

बनकर ही जीना पड़ता है। केवल व्यक्ति और नागरिक के रूप में उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं आँका जाता।"[1]

पत्नीत्व और मातृत्व को स्त्री की आजीविका का साधन कहना वह भी स्वतंत्रता पूर्व, निश्चय ही एक साहसिक कार्य है। इतना ही नहीं वह उस भारतीय संस्कृति और समाज व्यवस्था की भर्त्सना भी करती हैं जहाँ स्त्री को निकृष्टतम रूप में स्वीकार किया जाता है। स्त्री को महज मनोरंजन का साधन मानने वाला समाज, निश्चित रूप से भर्त्सना के ही योग्य है। महादेवी स्त्री को व्यक्ति एवं राष्ट्र के अन्य सम्मानित नागरिकों की तरह देखना चाहती हैं, जो आज भी स्त्रीवाद के सामने एक चुनौती की तरह है।

महादेवी स्त्री की इस दुर्गति के पीछे समाज की रूढ़िवादी प्रथाओं एवं नीतियों को जिम्मेदार मानती हैं। उनकी स्पष्ट धारणा है कि "स्त्री की सामाजिक स्थिति यदि इतनी दयनीय न रहे, उसके जीवन और हृदय को यदि ऐसे कठोर बंधनों में बांधकर आहत न कर दिया जावे तो वह कभी अपनी इच्छा से ऐसा पतन न स्वीकार करे जो आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"[2] महादेवी स्त्री के मुक्त जीवन की अभिलाषा प्रकट करती हैं। स्त्री को मुक्त जीवन जीने देने से न सिर्फ स्त्रियों की दशा बेहतर होगी बल्कि समाज की सोच में भी गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। यह समाज और राष्ट्र दोनों के ही हित में है।

महादेवी वर्मा स्त्री के अर्थ-स्वातंत्र्य का प्रश्न प्रमुखता से उठाती हैं। उनका मानना है कि आदिम युग से सभ्यता के विकास तक स्त्री सुख के साधनों में गिनी जाती रही। ऐसे में उसे विजयी कहे जाने वाले पुरुष पर निर्भर रहना पड़ा। प्रारंभ में जहाँ महादेवी वर्मा स्त्री और पुरुष के बीच के शारीरिक के साथ सामाजिक भेद को भी स्वाभाविक मानती थीं, वहीं महादेवी लिखती हैं, "जहाँ तक सामाजिक प्राणी का प्रश्न है, स्त्री पुरुष के समान ही सामाजिक सुविधाओं की अधिकारिणी है, परंतु केवल अधिकार की दुहाई देकर ही तो वह सबल निर्बल का चिंतन संघर्ष और उससे उत्पन्न विषमता नहीं मिटा सकती।"[3]

---

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ, सं. 310

[2] वही, पृ, सं. 315

[3] वही, पृ. सं. 317

महादेवी मानती हैं कि अधिकारों की दुहाई के साथ स्त्रियों को आर्थिक रूप से स्वाधीन होने के लिए भी संघर्ष करना पड़ेगा। बहुत पीड़ा के साथ वह यह कहती प्रतीत होती हैं कि "आर्थिक दृष्टि से स्त्री की जो स्थिति प्राचीन समाज में थी, उसमें अब तक परिवर्तन नहीं हो सका, यह विचित्र सत्य है।"[1] शताब्दियों से चली आ रही परंपराएँ, जो महान होने का दंभ भरती रहीं, उनमें स्त्री का स्थान सर्वथा नगण्य ही रहा । महादेवी वर्मा रोष के साथ यह टिप्पणी करती हैं कि "शताब्दियाँ-की-शताब्दियाँ आती जाती रहीं, परंतु स्त्री की स्थिति की एकरसता में कोई परिवर्तन न हो सका । किसी भी स्मृतिकार ने उसके जीवन की विषमता पर ध्यान देने का अवकाश नहीं पाया; किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी समस्या को नहीं देखा।"[2]

महादेवी वर्मा ने भारतीय संस्कृति और उसकी परंपरा को लिपिबद्ध करने वाले स्मृतिकारों एवं उसकी तथाकथित दिव्य व्याख्या करने वाले शास्त्रकारों के समक्ष यह प्रश्न रखा है। महादेवी स्तब्ध हैं कि यह कैसे हो सकता है कि जो आधी आबादी है, जिनका समाज में स्वतंत्र अस्तित्व है, वे और उनकी चिन्ताएँ इनकी नज़रों से ओझल कैसे हो सकते हैं। महादेवी इसका जवाब स्वयं देती हैं। उनके अनुसार "पुरुष ने कभी उसके अभाव का अनुभव करना ही नहीं सीखा, इसी से स्त्री के विषय में विचार करने की आवश्यकता भी कम पड़ी। स्त्री की स्थिति इससे विपरीत है। उसके प्रत्येक पग पर, प्रत्येक साँस के साथ पुरुष से सहायता की भिक्षा माँगते हुए चलना पड़ता है।"[3]

महादेवी वर्मा स्त्रियों की हीन स्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के साथ सामाजिक और आर्थिक विश्लेषण करती हैं। वह पुरुष की 'सहायता की भिक्षा' स्त्रियों के लिए नहीं चाहतीं। वह चाहती हैं समाज में स्त्रियों को एक व्यक्ति या सामान्य नागरिक की तरह अधिकारों की प्राप्ति हो। इस हेतु वह परंपरा एवं संस्कृति की उन जड़बद्ध धारणाओं का भी विरोध करना आवश्यक मानती हैं जिनकी वजह से स्त्री स्वयं को देवी समझकर, शोषण के समक्ष स्वयं प्रस्तुत हो जाती है। उनके अनुसार "असंख्य युगों से असंख्य संस्कार और असंख्य भावनाओं ने भारतीय स्त्री

---

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 318

[2] वही, पृ. सं. 320

[3] वही, पृ. सं. 320

की नारी-मूर्ति में जिस देवत्व की प्राण-प्रतिष्ठा की थी, उसका कोई अंश बिना खोये हुए वह इस यंत्रयुग की मानवी बन सकेगी, ऐसी संभावना कम है।"[1]

महादेवी यहाँ दोहरी चुनौती की बात करती हैं। एक तरफ तो परंपराबद्ध समाज की रूढ़ियों को चुनौती देना है, जिससे वह देवी होने की मिथ्या अवधारणा से स्वयं को अलग कर सके। दूसरी तरफ यंत्र युग यानी आधुनिक पूँजीवादी-समाज में सामान्य मनुष्य होने की चुनौती है। एक तरफ शताब्दियों की बेड़ियाँ हैं तो दूसरी तरफ विषमता की चुनौती है। इसलिए महादेवी स्त्रियों की आर्थिक आजादी चाहती हैं। वह लिखती हैं, "अर्थ का विषम विभाजन भी एक ऐसा ही बंधन है, जो स्त्री-पुरुषों दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। यह सत्य है कि यह प्रश्न आज का नहीं है, वरन् हमारे समाज के समान ही पुराना हो चुका है।"[2]

महादेवी यह मानती हैं कि अर्थ के विषम विभाजन से पुरुष और स्त्री दोनों ही वर्ग समान रूप से प्रभावित होते हैं। प्रश्न यह उठता है कि समाज के समान ही अत्यंत पुरानी इस बुनियादी समस्या को पुरुष के पक्ष में रखकर ही क्यों समझा गया ? आर्थिक रूप से सबल अधिकांशतः पुरुष ही क्यों हुए ? महादेवी लिखती हैं, "समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के संबंध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बंधन में बंधी हुई है।"[3]

महादेवी वर्मा मानती हैं कि भारतीय सामाजिक-व्यवस्था की तरह ही अत्यंत पुराने आर्थिक प्रश्न की समस्या ने श्रमजीवी वर्ग की महिला के साथ संपन्न वर्ग की महिलाओं को भी बुरी तरह से प्रभावित किया है। अर्थ का प्रश्न जहाँ पुरुष के लिए समाज में सम्मानीय भूमिका से संबंधित है वैसे ही स्त्रियों के लिए सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए आवश्यक है। इसलिए स्त्रियों के परावलंबन के लिए महादेवी वर्मा ने आर्थिक कारण को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना है। वह मानती हैं कि यही कारण है कि आधुनिक महिलाएँ आर्थिक विषमता के खिलाफ मुख्य रूप से प्रतिरोध कर रही हैं। वह लिखती हैं, "आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री की जीवनधारा

---

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 321

[2] वही, पृ. सं. 323

[3] वही, पृ. सं. 324

ने जिस दिशा को अपना लक्ष्य बनाया है उनमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता ही सबसे अधिक गहरे रंगों में चित्रित है। स्त्री ने इतने युगों के अनुभव से जान लिया है कि उसे सामाजिक प्रामाणिक प्राणी बने रहने के लिए केवल दान की ही आवश्यकता नहीं है । आदान की भी है, जिसके बिना उसका जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता।"[1]

प्रामाणिक रूप से सामाजिक प्राणी बनने के लिए आर्थिक स्वतंत्रता की आवश्यकता पर बल देना निश्चित रूप से महादेवी की सुचिंतित विचार प्रणाली को स्पष्ट करता है। विदेशों में हो रहे सामाजिक क्रांति का प्रभाव यहाँ महादेवी पर दिखाई पड़ता है। एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'परिवार, निजी संपत्ति एवं राज्य की उत्पत्ति' में यह माना था कि "परिवार में लिंगो के बीच सत्ता और संपत्ति के संबंध उत्पादन प्रक्रिया में स्त्री और पुरुषों द्वारा निभाई गई भूमिका से निर्धारित होते हैं।"[2] यही संबंध आगे चलकर समाज में लैंगिक विभाजन का कारण बनता है। अतः स्त्री और पुरुष दोनों का उत्पादन प्रक्रिया और आय में बराबर हिस्सा होना चाहिए। महादेवी समाजवादी विचारधारा से स्पष्टतः प्रभावित न होते हुए भी आर्थिक मुक्ति को नारी मुक्ति के लिए आवश्यक मानती हैं। इतना ही नहीं वह आर्थिक मुक्ति का समाज द्वारा प्रयास न किए जाने की स्थिति में स्त्रियों द्वारा किए जाने वाले भीषण संघर्ष को आसन्न भविष्य में अवश्यसंभावी मानती हैं, "आज की बदली हुई परिस्थितियों में स्त्री केवल उन्हीं आदर्शों से संतोष न कर लेगी, जिनके सारे रंग उसके आँसुओं से घुल चुके हैं। जिनकी सारी शीतलता उसके संताप से उष्ण हो चुकी है। समाज यदि स्वेच्छा से उसके अर्थ-संबंधी वैषम्य की ओर ध्यान न दे, उसमें परिवर्तन या संशोधन की आवश्यकता न समझे तो स्त्री का विद्रोह दिशाहीन आँधी-जैसा वेग पकड़ता जाएगा और तब तक एक निरंतर ध्वंस के अतिरिक्त समाज उससे कुछ और न पा सकेगा। ऐसी स्थिति न स्त्री के लिए सुखकर है, न समाज के लिए सृजनात्मक।"[3]

महादेवी वर्मा हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली ऐसी विचारक हैं जिन्होंने पूरी तत्परता और सुचिंतित तरीके से स्त्री-प्रश्न पर विचार किया। यह महादेवी का

---

[1] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 324

[2] एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति एवं राज्य की उत्पत्ति, पृ. सं. 3

[3] निर्मला जैन (संपा), महादेवी वर्मा संचयिता, पृ. सं. 325

ऐतिहासिक योगदान है। स्त्री चेतना के महत्त्व को समझने एवं उसके ऐतिहासिक रेखांकन में महादेवी का लेखन, अत्यंत सहायक है।

2.1.2 सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

हिन्दी साहित्य में निराला मुख्य रूप से एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। हिन्दी कविता, निराला के अवदान को पूरे सम्मान के साथ स्वीकार करती है। एक कवि होने के साथ निराला ने कई प्रमुख समीक्षात्मक निबंध भी लिखे। तत्कालीन समस्याओं पर सुचिंतित तरीके से विचार भी किया। काव्य विषयों के अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न सामाजिक विषयों पर भी विचार किया है। निराला ने जाति समस्या के साथ स्त्रियों से संबंधित समस्याओं पर भी लिखा है। महादेवी वर्मा के समकालीन होने के कारण उनके विचारों पर दृष्टि डालना यहाँ जरूरी प्रतीत होता है।

निराला स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से चिंतित जरूर थे परंतु वह उनकी समस्याओं का हल भारतीय संस्कृति की पारंपरिकता में ही देखते थे। 'राष्ट्र और नारी' शीर्षक निबंध में वह लिखते हैं, "भारत राष्ट्र की आदर्श नारियों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें एक ही साथ अपार रूप तथा अविचल तपस्या, एकनिष्ठ पतिपरायणता तथा आश्चर्यकर ओज, एक ही देह की द्युति में लावण्य तथा कठोर संयम की। प्रेम श्रृंगार जितना ऊँचा, त्याग भी उतनी दूर तक समांतराल रेखा की तरह खिंचा चलता हुआ। यह तत्कालीन भारत राष्ट्र की कल्याणी नारी मूर्ति है।"[1]

निराला राष्ट्र के कल्याण के लिए जिस नारी मूर्ति को अभिष्ट मानते हुए उपरोक्त चित्र खींचते हैं, निश्चित रूप सेवह स्त्री की सामाजिक समस्याओं से नहीं जुड़ता। प्रेम श्रृंगार, तपस्या, त्याग, लावण्य, कठोर संयम आदि की मूर्ति होना ही स्त्रियों की सामाजिक दुर्दशा के केंद्र में रहा है। निराला स्त्री की गौरवमयी चित्र खींचकर, समाज से अपेक्षा करते हैं कि उन्हें पर्याप्त सम्मान मिलना चाहिए। वह राष्ट्र हित में भारत-माता के चित्र सरीखा एक चित्र खींचने का प्रयास अपनी काव्यात्मक भाषा में करते हैं।

---

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, प्रबंध-पद्म, पृ. सं. 155

निराला चाहते हैं कि स्त्रियाँ सौंदर्य प्रसाधनों से स्वयं को सुसज्जित करने की जगह आत्मिक आभूषणों से आभूषित करें। वह लिखते हैं, "आत्मा को अलंकृत करने के लिए उन्हें आत्मिक भूषणों की आवश्यकता है। यहाँ आता है शिक्षा तथा संस्कृति के प्रश्न। यही आत्मा के स्थायी प्रकाश हैं...।"[1]

वह ज्ञान का स्थायी प्रकाश स्त्रियों के लिए चाहते हैं ताकि स्त्रियाँ अपनी आँखों से दुनिया को देख सकें। वह ऐसा भारतीय संस्कृति के तथाकथित गौरवमयी संस्कृति को पुनर्स्थापित करने के लिए ही चाहते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा, "हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने राष्ट्र की महिलाओं के लिए चाहते हैं, वे दूसरों को अपनी आँखों से देखें, अपने को दूसरों की आँखों से नहीं, और, यह उपयोग सार्वभौमिक रूप से किया जाय, ताकि फिर एक राष्ट्र की नारियाँ पालनों पर बच्चों को झुलाते हुए 'त्वमसि निरंजनः' - जैसे शिशु-सुप्तिगीत गावे और बालक नवीन यौवन के उन्मेष में सहस्त्र-सहस्त्र कंठों से कह उठें 'न मे मृत्यु-शंका, न मे जाति-भेदः।"[2]

यह संभव हो सकता है कि निराला की यह पुनरूत्थानवादी सोच, अपने समय की जरूरत हो ताकि पराधीनता के विरूद्ध संघर्ष में राष्ट्र मजबूत हो सके परंतु यह स्त्री चेतना को आगे की दिशा में संचालित नहीं करता। निराला स्त्री के लिए स्वयं की दृष्टि की माँग भी भारतीय गौरव की आवश्यकता हेतु करते हैं। प्राचीन भारत की गौरवगाथा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए करते हैं।

निराला महिलाओं के अधिकारों के समर्थक तो हैं परंतु पारंपरिक संदर्भों से बाहर नहीं जा पाते। वह कला को नारी-स्वभाव मानते हैं और उसे पूरी स्वायत्तता और अधिकार प्रदान करने की माँग करते हैं। "कला अपने नाम से नारी-स्वभाव की सूचना देती है, उसकी कोमलता और विकास में महिलाओं की प्रकृति है। पुनः उसकी अधिकांश उपयोगिता गृह के भीतर है। इसलिए वह महिलाओं की ही है, इसमें संदेह नहीं।"[3] महिलाओं का उत्थान चाहते हुए भी उन्हें घर के भीतर तक ही सीमित रखना, एक प्रतिगामी सोच है। कोमलता को ही स्त्री-स्वभाव का पर्याय मान लेना, स्त्री को उसके स्वाभाविक अधिकारों से विमुख करना ही है।

---

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, प्रबंध-पद्म, पृ. सं. 157

[2] वही, पृ. सं. 158

[3] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, चाबुक, पृ. सं. 48

निराला अपने समय की सच्चाई से नजदीक से परिचय रखने वाले रचनाकार थे। इसलिए स्त्रियों की दुर्दशा के प्रति उनका सजग न होना किंचित अचंभित करता है। निराला अपने अंतर्विरोधों से लगातार संघर्ष करने वाले सर्जक थे। उनके स्त्री-संबंधी विचारों में भी यह दिखाई देता है। घर की चहारदीवारी में ही स्त्री के गौरव को देखने वाले निराला अन्यत्र लिखते हैं, "उनका जीवन एक अभिशप्त का जीवन बना रहा है। उन्हें जो यह शिक्षा दी जाती है कि तुम्हें अपने पुरुष के सिवा किसी दूसरे पुरुष का मुख नहीं देखना चाहिए, यह उनके अंधकार जीवन में टार-पेंटिग है।"[1]

'प्रबंध प्रतिमा' में संकलित यह लेख 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ,' निश्चित रूप से निराला की स्त्री चेतना को मुखर रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। वह यहाँ राष्ट्र कल्याण के लिए नारी को 'कल्याणमयी-मूर्ति' से मुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने लिखा, "उन्हें दबाव में रखकर इस देश के लोग अपने जिस कल्याण की चिन्ता में पड़े हैं। वह कल्याण कदापि नहीं, प्रत्युत निरी मूर्खता ही है। आज तक जितने अत्याचार, बलात्कार आदि हुए हैं, वे सब पर्दानशीन स्त्रियों पर ही हुए हैं।"[2] निराला का यह विचार आज भी कितना समीचीन प्रतीत होता है। निश्चित रूप से स्त्रियों को परंपराओं के दबाव में रखने के कारण ही आज भी सुरक्षित-संपन्न समाज नहीं बना पाए हैं। सभ्यता के तथाकथित विकास के साथ औरतों पर पर्दानशीन होने का दबाव बढ़ता गया है। निराला स्त्रियों के सामाजिक अधिकारों की पुरजोर वकालत करते हैं। अपने समय के उस घृणित सोच से भी टकराते नजर आते हैं, जो स्त्रियों की स्वच्छंदता-स्वाधीनता को बलात्कार के तर्क से परास्त करना चाहता है।

निराला का मानना था कि महिलाओं के स्वावलंबन के बिना समाज और राष्ट्र का समुचित विकास नहीं हो सकता। औरतों को स्वावलंबित बनाने के लिए उनका समाज के व्यापक दायरे में प्रवेश स्वाभाविक करना आवश्यक था। वह नारी मुक्ति को राष्ट्र की मुक्ति से जोड़कर देखते हैं। उनका स्पष्ट मानना था कि "स्वावलंब कोई पाप नहीं, प्रत्युत पुण्य है। हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग

---

[1] रामेश्वर राय (संपा), निबंधों की दुनिया - निराला, पृ. सं. 207

[2] वही, पृ. सं. 208

जायेंगे। कार्य की सफलता हमें तभी प्राप्त होगी। अभी जो काम स्त्रियाँ करती हैं, वह काम नहीं, वह संस्कारों का प्रवर्तन है। उससे मेधा और नष्ट होती है।"[1]

यहाँ हमें प्रगतिवादी निराला दिखाई पड़ते हैं। जो विचारों से प्रगतिशील हैं। आधी-आबादी के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में समान अवसर की माँग करना, स्त्रियों के आर्थिक प्रश्न से जुड़ता है। महादेवी वर्मा की तरह निराला भी यहाँ नारी मुक्ति के लिए, उनके आर्थिक मुक्ति को आवश्यक मानते हैं। समान अवसर और काम का पूरा दाम, समाज के उत्तरोत्तर विकास के लिए एक आवश्यक माँग है। स्त्रियों को इस तरह के अधिकारों से संस्कार रक्षा के नाम पर हमेशा वंचित किया जाता रहा है। निराला यहाँ, इस तथाकथित महान परंपरा का निषेध करते हैं।

निराला औपनिवेशिक काल के एक महान रचनाकार हैं। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए भी वह नारी मुक्ति का समर्थन करते हैं। जिस प्रकार वह 'चाबुक' में संकलित 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' शीर्षक में वह यह घोषणा करते हैं कि "भारतवर्ष का यह युग शूद्र शक्ति के उत्थान का युग है और देश का पुनरूद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है।"[2] उसी प्रकार निराला अपने इस लेख में स्त्रियों की मुक्ति में ही औपनिवेशिक दासता से मुक्ति का रास्ता देखते हैं। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि "हम लोग स्वयं जिस तरह गुलाम हैं, उसी तरह अपनी स्त्रियों को भी गुलाम बना रक्खा है, बल्कि उन्हें दासों की दासियाँ कर रखा है। इस महादैन्य से उन्हें शीघ्र मुक्ति देनी चाहिए। तभी हमारी दासता की बेड़ियाँ कट सकती हैं। "[3]

आज भी स्थिति बहुत नहीं बदली है। स्वतंत्रता तो हमें मिल गई पर हम अपनी दासता की बेड़ियों को नहीं काट पाए हैं। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की जगह आज हम पूँजीवादी उपनिवेशवाद की गिरफ्त में हैं। स्त्रियों को आजादी तो पहले की तुलना में प्राप्त हुई हैं पर मुक्ति के लिए संघर्ष अब भी जारी है। यह अवश्य है कि अब सिर्फ पुरूषों की कृपा पर निर्भर नहीं हैं। वह अपनी दासता की बेड़ियों स्वयं के संघर्ष से उतार कर फेंकने के लिए प्रयासरत हैं परंतु पुरुषों का सहयोग भी अपेक्षित

[1] रामेश्वर राय (संपा), निबंधों की दुनिया - निराला, पृ. सं. 208

[2] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, चाबुक, पृ. सं. 56

[3] रामेश्वर राय (संपा), निबंधों की दुनिया - निराला, पृ. सं. 209

है । निराला अपनी तमाम अंतर्द्वंद्वों के बावजूद स्त्री चेतना के निर्माण में वैचारिक सहयोग प्रदान करने वाले विचारक के रूप में हमें दिखाई पड़ते हैं ।

2.1.3 रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक हैं । वह प्रत्येक समस्या को पूँजीवाद और आर्थिक समस्या से जोड़कर देखते हैं । स्त्रियों की गुलामी के प्रतीक सती-प्रथा के पीछे भी वह आर्थिक कारण को ही देखते हैं । उनके अनुसार "सारे फसाद की जड़ ये संपत्ति थी । जब तक विधवा को संपत्ति मिल सकती थी तब तक उसके चिता पर जलने का कोई सवाल नहीं था ।"[1] वह यह भी मानते हैं कि सती-प्रथा की समस्या हो या फिर जाति प्रथा की, ये अंग्रेजी राज की देन हैं । अंग्रेजों के आने से पहले इस तरह की सामाजिक समस्याएँ नहीं थीं । उनके अनुसार "जाति प्रथा के बंधनों की कठोरता और सती-प्रथा का प्रसार दोनों बातें आपस में जुड़ी हुई हैं । और दोनों का संबंध अंग्रेजी राज से है ।"[2]

रामविलास शर्मा दोनों ही समस्या को सामंतवाद से जोड़कर देखते हैं । उनका कहना है कि अंग्रेज एक तरह तो प्रगतिशील होने का दंभ भरते थे । दूसरी तरफ देशी सामंतों, जागीरदारों एवं उनकी प्रथाओं का समर्थन भी करते थे । रामविलास शर्मा की इस बात से सहमत होना थोड़ा मुश्किल इसलिए है क्योंकि कई सारे ऐसी मध्यकालीन रचनाएँ हैं जिससे शताब्दियों से इन प्रथाओं का भारतीय समाज में होना, सिद्ध होता है । रामविलास शर्मा यह भी मानते हैं कि अंग्रेजी सरकार के कारण शहरों में पूँजीवादी व्यवस्था का प्रभाव दिखने लगा था । इसका सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव वह स्त्रियों पर देखते हैं । उन्होंने लिखा, "जैसे सामंती समाज में पूँजी संबंध विकसित हुए वैसे ही शहरों में पूँजीवादी संस्कृति का विकास हुआ । कुछ स्त्रियों को ऊँची शिक्षा मिली । उन्होंने पश्चिम की स्त्रियों की नकल करना शुरू किया । ये अपने को मुक्त मानती हैं । परंतु उनकी मुक्ति और मजदूर स्त्रियों की मुक्ति में बहुत बड़ा फर्क है ।"[3]

---

[1] आलोक सिंह (संपा), गोदारण, 'स्त्री मुक्ति के प्रश्न - रामविलास शर्मा', पृ. सं. 20

[2] वही, पृ. सं. 21

[3] वही, पृ. सं. 22

रामविलास शर्मा शिक्षा-व्यवस्था और पूँजीवादी संस्कृति दोनों को यहाँ एक-दूसरे में मिला दे रहे हैं। वह सामान्यीकरण का प्रयास भी यहाँ करते दिखाई देते हैं। जैसे उच्च वर्ग की स्त्रियों और मजदूर स्त्रियों की मुक्ति में फर्क है वैसे ही प्रत्येक शिक्षित स्त्री में भी फर्क हो सकता है। मजदूर स्त्री की मुक्ति के तर्क से शिक्षित स्त्रियों की मुक्ति को नकारा नहीं जाना चाहिए। वह औरतों को दिए जाने वाले आरक्षण का भी विरोध करते हैं। वह लिखते हैं, "आरक्षण से जैसे छोटी जातियों की मुक्ति नहीं है, गरीबी रेखा के नीचे ही बने रहेंगे वैसे ही आरक्षण से स्त्रियों की स्वाधीनता संभव नहीं है।"[1]

रामविलास शर्मा का यहाँ भी दृष्टिकोण एक तरफा ही है। आरक्षण अपने आप में कोई मुक्ति नहीं है बल्कि मुक्ति का एक रास्ता भर है। आजादी के बाद से अगर हम देखें तो आरक्षण का उद्देश्य पूरी तरह से सफल न होने के बावजूद दलितों के लिए सहायक सिद्ध हुआ है। रामविलास शर्मा पूँजीवादी व्यवस्था के खात्मे में ही सारी कु-प्रथाओं का अंत देखते हैं। वह लिखते हैं, "जब तक यह पूँजीवादी व्यवस्था है तब तक न तो गरीब किसान और न हरिजन और न स्त्रियाँ पूरी तरह मुक्त हो सकती हैं।"[2]

निश्चित रूप से यह एक आदर्श हल है। पूँजीवादी व्यवस्था का अंत सबके लिए हितकारी साबित होगा परंतु उस अवस्था तक पहुँचने के लिए रास्ता कहाँ से और कैसे जायेगा ? दलितों व स्त्रियों को उस संघर्ष में शामिल किए बिना इस आदर्श को पाना असंभव सा प्रतीत होता है। रामविलास शर्मा के अनुसार "समाज का गठन जब तक बदलेगा नहीं तब तक अछूतों की समस्या हल नहीं हो सकती, हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल नहीं हो सकती, नारी समस्या हल नहीं हो सकती।"[3]

समाज के गठन के लिए वह परिवार के गठन का बदलना आवश्यक मानते हैं। उनका मानना है कि आपसी सहयोग की भावना से ही हम परिवार और समाज का गठन बदल सकते हैं। उनके अनुसार "सहयोग समाजवाद की विशेषता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि जब समाजवाद आ जाएगा तभी हम सहयोग सीखेंगे। अपने

---

[1] आलोक सिंह (संपा), गोदारण, 'स्त्री मुक्ति के प्रश्न - रामविलास शर्मा', पृ. सं. 22

[2] वही, पृ. सं. 23

[3] वही, पृ. सं. 52

सामंती और पूँजीवादी समाज में भी हम सहयोग से श्रम करना सीख सकते हैं। हम सहयोग से श्रम करना सीखेंगे तो हमारे समाज का ढाँचा भी बदलेगा, परिवार का ढाँचा भी बदलेगा और यह सहयोग हमको अपनी मजदूर स्त्रियों से सीखना है, खेत मजदूरों की स्त्रियों से सीखना है, शहरी सर्वहारा मजदूरों की स्त्रियों से सीखना है। जहाँ श्रम की बराबरी होगी, वहाँ सहयोग के आधार पर परिवार का नया रूप बनेगा। मैं समझता हूँ कि इतिहास की गति यह है और नारी-समस्या का हल करने का तरीका यह है।"[1] परिवार गठन में बदलाव को समाज गठन में बदलाव के लिए रामविलास शर्मा आवश्यक मानते हैं। इसके लिए वह श्रम की संस्कृति के विकास को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। श्रम की संस्कृति में श्रम की बराबरी या श्रम के प्रति सम्मान का भाव पाया जाता है। रामविलास शर्मा के अनुसार नारी समस्या का भी हल श्रम की संस्कृति में निहित है।

रामविलास शर्मा नारीवाद को सिर्फ पुरुष विरोध तक सीमित कर देने के विरोधी हैं। उनके लिए यह महज नारी-पुरुष की समस्या है ही नहीं। वह जोर देकर अपनी बात स्पष्ट करते हैं, "यहाँ हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि आजकल जो ये तरह-तरह के नारी-मुक्ति के आंदोलन चल रहे हैं; उनमें पुरूष मात्र को नारी मात्र का शोषक उत्पीड़क बताकर नारी को पुरुष के आधिपत्य से मुक्त करने की बात की जाती है। इसके बारे में मेरा कहना यह है कि सबसे पहले हमें इस स्त्री-पुरुष की समस्या के रूप में पेश नहीं करना चाहिए। इसे सामाजिक समस्या के रूप में वर्ग-संघर्ष की समस्या के रूप में पेश करना चाहिए।"[2]

रामविलास शर्मा का मानना है कि स्त्रियों में कई वर्ग हैं और एक वर्ग की स्त्री का दुःख दूसरे वर्ग की स्त्री के दुःख से अलग है। सिर्फ पुरूष को केंद्र में रखने से स्त्री समस्या का हल नहीं पाया जा सकता। उनके अनुसार वर्ग संघर्ष एकमात्र उपाय है जो इस सामाजिक समस्या का हल प्रस्तुत कर सकता है। इसी संदर्भ में वह आगे लिखते हैं, "जहाँ नारी के व्यक्तित्व के विकास का और उसके मूल्य की प्रतिष्ठा का सवाल है, यह सारा सवाल वर्ग-संघर्ष की समस्या से जुड़ा है। यानी जब तक हम इस समाज व्यवस्था को बदलेंगे नहीं जहाँ पर मुनाफा ही हर आदमी के

[1] आलोक सिंह (संपा), गोदारण, 'स्त्री मुक्ति के प्रश्न - रामविलास शर्मा', पृ. सं. 53-54

[2] वही, पृ. सं. 54

कर्म की प्रेरणा बनता है, तब तक नारी हो या पुरुष किसके व्यक्तित्व का विकास कर सकेंगे ?"[1]

रामविलास शर्मा नारी हो या पुरुष सबकी समस्याओं का निदान पूँजीवाद के अंत और समाजवाद की स्थापना में देखते हैं। ऐसे में यह भी ध्यान रखना उचित प्रतीत होता है कि वर्ग संघर्ष सबसे बड़ा हल हो सकता है परंतु इसके अतिरिक्त भी भारतीय समाज व्यवस्था के कई और पहलू हैं। समानता पर आधारित समाज हर किसी का सपना होना चाहिए परंतु भारत जैसे अर्द्धसामंती समाज व्यवस्था वाले देश में वर्ग संघर्ष तब तक संभव नहीं है जब तक हम लैंगिक शोषण और जाति आधारित शोषण का अंत नहीं कर लेते।

पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने की बात कर रामविलास शर्मा की धारणा है कि "मैं बार-बार पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने की बात पर जोर दे रहा हूँ, इसका कारण यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत नारी की स्वाधीनता संभव ही नहीं है।"[2] इस संदर्भ में रामविलास शर्मा की ही उक्ति को उद्धत करना उचित प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है, "नारी की पराधीनता दो तरह की है। एक सामंती ढंग की पराधीनता है दूसरी पूँजीवादी ढंग की पराधीनता है।"[3] भारतीय समाज व्यवस्था में यह समस्या और भी जटिल इसलिए हो जाती है क्योंकि यह दोनों ही तरह के नारी की पराधीनता एक साथ विद्यमान हैं। इसलिए सिर्फ पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश से ही स्त्री समस्या का हल नहीं हो जायेगा बल्कि सामंतवाद और पूँजीवाद दोनों के विरूद्ध साझा संघर्ष करना आवश्यक है।

रामविलास शर्मा ने स्वतंत्र रूप से स्त्री विषयक कोई आलोचना पुस्तक नहीं लिखी। इसके बावजूद वह अपने लेखन में स्त्री समस्या से टकराने की कोशिश करते हैं। रामविलास शर्मा से सहमत-असहमत होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि स्त्री चेतना की पड़ताल उनके लेखों में मौजूद है। वह स्त्री-मुक्ति के समर्थक हैं परंतु उनके अनुसार स्त्री मुक्ति का जो स्वरूप स्त्री विमर्श लेकर चल रहा है, वह अपर्याप्त है। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि स्त्री मुक्ति को व्यापक प्रश्नों से जोड़ना होगा। रामविलास शर्मा के अनुसार "स्त्री-मुक्ति आंदोलन

---

[1] आलोक सिंह (संपा), गोदारण, 'स्त्री मुक्ति के प्रश्न - रामविलास शर्मा', पृ. सं. 55

[2] वही, पृ. सं. 57

[3] वही, पृ. सं. 56

को, विदेशी पूँजी से देश को मुक्त कराने संबंधी आंदोलन से जोड़ा जाना इसकी सफलता के लिए आवश्यक है।"[1]

2.1.4 सुमन राजे

सुमन राजे का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उनकी इतिहास पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' माना जाता है। 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' इस आरोप को मिथ्या साबित करता है कि इतिहास में स्त्री रचनाकारों का सर्वथा अभाव रहा है। आधुनिक काल से पूर्व मीराबाई के अतिरिक्त किसी और का जिक्र, हिन्दी साहित्य के इतिहास पुस्तकों में नहीं मिलता। आधुनिक काल में भी राजेंद्र बाला घोष, सुभद्राकुमारी चैहान, महादेवी वर्मा जैसे रचनाकारों का ही जिक्र स्वतंत्रता पूर्व के साहित्य में मिलता है। सुमन राजे कई महिला रचनाकारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख अपनी उक्त इतिहास पुस्तक में करती हैं। उन्होंने लिखा, "ज्यों ज्यों आधे-इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया, यह धारणा पुख्ता होती चली गई कि पुरुष इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुआ हो, ऐसी बात नहीं, यह अन्याय विमुख रहकर किया गया है।"[2]

सुमन राजे अपनी इस पुस्तक को स्त्री विमर्श के अंतर्गत मानने का निषेध करती हैं। उन्होंने लिखा, "आधा इतिहास 'स्त्री विमर्श' की पुस्तक नहीं है। यह साहित्येतिहास ही है परंतु आधा।"[3] इसी संदर्भ में वह आगे लिखती हैं, "वैसे तो स्त्रियों के साथ अन्याय होता आया है, और कब तक होता रहेगा, कहा नहीं जा सकता। उन सबसे लड़ना मेरे लिए संभव नहीं, इसलिए मैंने फैसला किया कि अन्याय के विरूद्ध यह लड़ाई मैं साहित्येतिहास के भीतर लड़ूंगी, यह मानते हुए कि हर लड़ाई हमें आत्म-साक्षात्कार की ओर भी ले जाती है, ले जाएगी।"[4] सुमन राजे इस पुस्तक को स्त्री विमर्श की पुस्तक न मानते हुए भी, स्त्रियों के साथ हुए अन्याय के विरूद्ध लड़ाई का एक माध्यम मानती हैं। ऐसे में अनायास ही वह स्त्री मुक्ति के

---

[1] आलोक सिंह (संपा), गोदारण, 'स्त्री मुक्ति के प्रश्न - रामविलास शर्मा', पृ. सं. 61

[2] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृ. सं. 11

[3] वही, पृ. सं. 11

[4] वही,, पृ. सं. 11

प्रश्न से जुड़ जाती हैं। हमारा उद्देश्य भी यहाँ उनके लेखन के अंतर्गत स्त्री चेतना के स्वर की पहचान करना है।

हर लड़ाई को आत्म-साक्षात्कार से जोड़कर देखने वाली सुमन राजे स्त्रीवाद को भी इसी रूप में देखती हैं। उनका मानना है कि "बीसवीं सदी के मुक्ति-संघर्षों में स्त्री का मुक्ति-संघर्ष शायद सबसे अधिक मूलगामी और सार्वभौमिक रहा है। सबसे अधिक अहिंसक, रक्तहीन और सत्याग्रही भी। इस संघर्ष की व्यापकता का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि "यह जितना बाहरी स्तर पर संघटित और घटित हुआ है, उतना ही आन्तरिक स्तर पर भी। वह एक साथ आत्मसंघर्ष भी रहा है। आत्मबोध, आत्मविश्लेषण और आत्माभिव्यक्ति का संघर्ष भी।"[1]

सुमन राजे का यह मत सही है कि स्त्री-संघर्ष सर्वाधिक मूलगामी और सार्वभौमिक संघर्ष है। स्त्रीवाद पूरे विश्व स्तर पर चलने वाला आंदोलन है। पूँजीवाद, समाजवाद और सामंतवाद, तीनों के ही अंतर्गत स्त्रीवाद का आंदोलन स्त्रियों की समानता का प्रश्न लेकर चला है। मूलगामी इसलिए क्योंकि स्त्री और पुरुष का भेद जितनी बड़ी मिथ्या है उतनी ही स्त्री-पुरुष की समानता एक बुनियादी जरूरत है।

सुमन राजे मुख्यतः इतिहास - लेखिका हैं। इसलिए वह विभिन्न युगों में हुए स्त्री मुक्ति के प्रयासों या आंदोलनों के बीच तुलना करती हैं। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और आज के स्त्रीवाद के बीच तुलना करती हुई वह लिखती हैं, "उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के महिला-लेखन और समकालीन स्त्री विमर्श में एक मौलिक अंतर है जिसे साफ किए जाने की जरूरत है। वहाँ स्त्री का प्रतिपक्ष 'पुरुष' नहीं है, 'जड़ीभूत रूढ़ियाँ' हैं, जिनके विरूद्ध वे स्वयं भी खड़ी होती हैं और अपनी बहनों को भी जागृत करती हैं। "[2]

सुमन राजे स्वयं को एक महिला लेखक और दूसरी स्त्री लेखिकाओं को स्त्री विमर्शकार मानती हैं। इस सन्दर्भ में यह भी देखना आवश्यक है कि उस समय(उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध) कितनी महिलाएँ लेखन कार्य कर रही थीं और किस तत्परता से अपनी दासता के खिलाफ लिख

[1] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृ. सं. 302

[2] वही, पृ. सं. 304

रही थीं। अगर सुमन राजे की बात को स्वीकार भी किया जाए कि स्वयं लिखने के साथ वे शेष स्त्रियों को भी जागृत कर रही थीं तब भी बीसवीं सदी की शुरूआत के महिला लेखन और आज के स्त्रीवाद में विरोध का रिश्ता नहीं बनता। आज के स्त्रीवाद के सामने भी प्रतिपक्ष 'पुरुष' नहीं पुरुषशासित वह व्यवस्था है जिसने स्त्रियों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप से वंचित बनाए रखने में किसी न किसी प्रकार से अपना योगदान देती है।

सुमन राजे का यह भी मानना है कि आज का हिन्दी का स्त्रीवाद शुद्ध साहित्यिक आंदोलन है। सुमन राजे मानती हैं कि आज के स्त्रीवाद ने महिला लेखन की परंपरा से जड़ीभूत रूढ़ियों के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा नहीं पाई है। वह लिखती हैं, "समकालीन स्त्री विमर्श अपने को पूरी तरह से उस पृष्ठभूमि से काटकर अपनी ऊर्जा पश्चिम के नारी-आंदोलनों से ग्रहण करता है। इस तरह वह अपने दोनों तरफ सीमा-रेखाएँ बना लेता है। एक केवल स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य, दो केवल स्त्री के विषय में लिखा गया साहित्य अर्थात् स्त्री द्वारा लिखा गया, स्त्री के विषय में लिखा गया साहित्य ही साहित्यिक स्त्री विमर्श है।"[1]

सुमन राजे का मानना है कि समकालीन स्त्रीवाद हिन्दी साहित्य की अपनी परंपरा से कुछ भी ग्रहण नहीं करता। उनका यह भी मानना है कि स्त्रियाँ ही केवल स्त्रियों की समस्या पर लिखकर, साहित्यिक स्त्री विमर्श चला रही हैं। यह स्त्री विमर्श के लिए एक चुनौती है कि वह स्त्री की समस्याओं के साथ शेष समाज के वंचितों एवं उपेक्षितों की समस्याओं के साथ स्वयं को कैसे एकाकार करता है। स्त्रियों की समस्या पर बात करना निहायत जरूरी है परंतु यह सच है कि वह कहीं शेष लोगों को गैर जरूरी न लगने लगे। सुमन राजे का यह आरोप गंभीरता से विचार किए जाने की माँग करता है।

सुमन राजे देह के आधार पर होने वाले शोषण का सर्वथा विरोध नहीं करतीं। वह लिखती हैं, "क्योंकि स्त्री विमर्श लिंग-केंद्रित है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि 'स्त्री-देह' विचार का प्राथमिक मुद्दा बन गया है। 'स्त्री-शोषण' का एक बहुत बड़ा, ऐतिहासिक कारण 'स्त्री-देह' ही रहा है, इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं है कि

[1] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृ. सं. 305

उसकी 'मुक्ति' को भी उसकी देह से जोड़ दिया गया है।"[1] नारी मुक्ति के लिए वह देह मात्र से मुक्ति को आवश्यक मानती हैं परंतु वह महज देह मात्र की मुक्ति में ही स्त्री की मुक्ति नहीं मानतीं। उनका कहना है, "स्त्री मुक्ति के विमर्श में यौन मुक्ति का विमर्श भी अनिवार्यतः जगह पाएगा क्योंकि स्त्री की अन्य गुलामियों में उसकी यौनिक गुलामी भी शामिल है। बल्कि नग्न मर्दवादी सोच में स्त्री योनि का ही पर्याय हो जाती है। ...पर क्या यौन मुक्ति का अर्थ मुक्त यौन है ? या स्वयं अपनी यौनिकता को पिरामिड की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए इस्तेमाल करना यौन मुक्ति है ? और नारी मुक्ति भी ? अगर ऐसा है तो बस वही मुक्त हो पायेंगी जो पुरुषवादी सौंदर्यबोध की कसौटी पर काम्याएँ ठहरती हैं।"[2]

एक बड़ा प्रश्न सुमन राजे यहाँ स्त्री मुक्ति के समर्थकों के सामने रखती हैं। यौन मुक्ति का प्रश्न एक बड़ी चुनौती है समाज के लिए, लेकिन स्त्री विमर्श का लक्ष्य मुक्त-यौन नहीं हो सकता। सुमन राजे का मानना है कि समकालीन नारीवादी चिंतक यौन मुक्ति से ज्यादा यौन का समर्थन कर रहे हैं। सुमन राजे कहती हैं कि ऐसे में तो पुरुषवादी सोच में जो 'स्त्री सुन्दर और कमनीय समझी जाती हैं, सिर्फ उन्हीं को मुक्ति मिल सकती है और स्त्री विमर्श सुंदर स्त्रियों का विमर्श बनकर रह जायेगा।

सुमन राजे यहाँ तक मानती हैं कि स्त्री विमर्श महज मध्यवर्गीय महिलाओं का बुद्धि-विलास है, इसका जमीनी सरोकारों से कोई लेना-देना नहीं है। वह लिखती हैं, "वह समय तो लद गया जब विधवा की स्थिति, दहेज की समस्या, अविवाहित लड़की की समस्या आदि स्त्री विमर्श का प्रमुख मुद्दा मानी जाती थी। ऐसा नहीं है कि ये समस्याएँ समाज में रही ही नहीं, या इन्हें सुलझा लिया गया है। परंतु रचना के केंद्र में ये नहीं है। अब स्त्री सिर्फ स्त्री के रूप में सामने आती है। यह स्त्री भी किसी बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अधिकतर वह मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय स्त्री की भाषा बोलती है।"[3]

इस संदर्भ में वह ममता कालिया, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल आदि लेखिकाओं एवं उनकी रचनाओं का उदाहरण सामने रखती हैं। रचनाकार किसी भी वर्ग का हो

---

[1] सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पृ. सं. 308

[2] वही, पृ. सं. 317

[3] वही, पृ. सं. 316

सकता है परंतु उसकी रचना में अगर वंचित-उपेक्षित वर्ग की समस्याएँ नहीं आतीं, तब उस पर आरोप लगाया जा सकता है। सुमन राजे का मानना है कि मध्यमवर्गीय या उच्च मध्यम वर्गीय स्त्रियों का ही दुःख, जो मुख्यतः यौन-जीवन का दुःख है, उसका ही चित्रण नारीवादी लेखिकाएँ ज्यादा कर रही हैं।

सुमन राजे कई चुनौतियों का जिक्र यहाँ करती हैं, जिसका जवाब ढूँढ़ना या देना स्त्रीवाद के लिए आवश्यक है। हम आगे इस विषय पर नारीवादी विचारकों के हवाले से विचार करने का प्रयास करेंगे। इसके बावजूद सुमन राजे हिन्दी के स्त्रीवाद के दोनों पक्षों को हमारे सामने रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।

2.2 समकालीन स्त्रीवादी आलोचना

हिन्दी का स्त्रीवाद पश्चिम में चले स्त्रीवादी आंदोलन से प्रभावित रहा है तथापि हिन्दी एवं भारतीय स्त्रीवाद की अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। स्त्रीवाद के कई रूप हमें दिखाई पड़ते हैं, जिसमें प्रमुख हैं - उदारवादी स्त्रीवाद, समाजवादी स्त्रीवाद, रेडिकल स्त्रीवाद, अश्वेत स्त्रीवाद इत्यादि। उनके अंदर निहित मतभेदों के बावजूद एक बात स्पष्ट है कि महिलाओं की स्थिति और उनकी जेंडर-पहचान की संरचना सभी नारीवादी सिद्धांतों का केंद्रीय पहलू है । 'उदारवादी स्त्रीवाद उदारवाद की दार्शनिक परंपराओं का अनुगमन करता है, जो 17 वीं सदी के परवर्ती काल से 18 वीं सदी के परवर्ती काल तक पश्चिमी जगत में संपन्न सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलावों की उपज थीं।'[1] अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांति द्वारा संपन्न बदलावों औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण एवं मध्यवर्ग का उदय, उदारवादी स्त्रीवाद की पृष्ठभूमि में था। "परिवार और समाज में महिलाओं की दोयम स्थिति को बुद्धिसंगत ठहराने वाली आम धारणाओं को उदारवादी स्त्रीवाद ने सफलतापूर्वक कटघरे में खड़ा किया । सार्वजनिक जीवन में शामिल होने के महिलाओं के अधिकार की उन्होंने हिमायत की और एक मानवीय हस्ती होने के नाते उनकी समग्र क्षमताओं को फलने-फूलने के लिए मौका प्रदान करने की माँग की। हालाँकि उदारवादी स्त्रीवाद ने महिलाओं की असमानता और अधीनता को रेखांकित किया, मगर जेंडर उत्पीड़न की जड़ों और संरचनाओं का पर्याप्त तरीके से विश्लेषण नहीं किया गया।"[2]

उदारवादी स्त्रीवाद के पश्चात् स्त्रीवाद के दूसरे लहर के रूप में समाजवादी या मार्क्सवादी-स्त्रीवाद का आगमन पश्चिम में साठ के दशक में होता है । "समाजवादी नारीवादियों ने न केवल महिलाओं की गुलामी के उदय के अर्थात् महिलाएं एक शोषित लिंग का हिस्सा कैसे बनी - एंगेल्स के विश्लेषण को अपनाया बल्कि मार्क्सवादी धारणाओं को लागू करके महिलाएं किस तरह शोषित होती हैं इसको भी समझाने की कोशिश की। समाजवादी और मार्क्सवादी नारीवादियों के लिए इस तरह पितृसत्ता को समझाने का सवाल मार्क्सवादी धारणाओं से ही संभव

[1] साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा), नारीवादी राजनीतिःसंघर्ष एवं मुद्दे, पृ. सं. 22
[2] वही, पृ. सं. 26

था ।"[1] समाजवादी स्त्रीवाद में 'उत्पादन प्रणाली, वर्ग और अतिरिक्त मूल्य' जैसे अवधारणों के प्रयोग से स्त्री-शोषण को समझने का प्रयास किया जाता है । भारत जैसे देश में वर्ग और गरीबी जैसे मुद्दे की ज्यादा अहमियत दिखती है इसलिए कई भारतीय नारीवादी वर्ग के मुद्दों के बारे में ज्यादा सचेत दिखती है ।

साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में तथा सत्तर की शुरूआत में आंशिक तौर पर उदारवादी स्त्रीवाद के खिलाफ प्रतिक्रिया के तौर पर और अंशतः लिंगवाद के खिलाफ आक्रोश के तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन में रेडिकल स्त्रीवाद का उदय हुआ । सीमा दास के अनुसार रेडिकल स्त्रीवाद "...पश्चिम के जमीनी स्तर से जुड़े आंदोलन का हिस्सा है जो एक विकसित होती महिला संस्कृति का भाग है तथा जो साहित्य, संगीत, आध्यात्मिकता, स्वास्थ्य सेवाएं, रोजगार और टेक्नोलॉजी का नारीवादी विकल्प देने के लिए प्रयासरत है ।"[2] रेडिकल स्त्रीवाद का मानना है कि स्त्रियों को अपने शरीर पर अधिकार करना जरूरी है । इसलिए वह मातृत्व का विरोध करता है और गर्भपात एवं समलैंगिकता का समर्थन करता है । रेडिकल स्त्रीवाद जैविक निर्धारणवाद को ज्यादा महत्त्व देता है इसलिए समाजवादी-स्त्रीवाद इसकी आलोचना करता है । समाजवादी स्त्रीवाद का मानना है कि रेडिकल स्त्रीवाद स्त्री शोषण के ऐतिहासिक, आर्थिक एवं भौतिक आधारों की अनदेखी करता है । सीमा दास रेडिकल स्त्रीवाद की विशेषताओं को उजागर करती हुई लिखती हैं, "रेडिकल स्त्रीवाद पुरुष संस्कृति के मूल्यों को चुनौती देता है । वह नहीं चाहता कि महिलाएँ पुरुषों का अनुसरण करें । इसके बजाय वह महिलाओं की पारंपारिक संस्कृति पर आधारित नए मूल्यों का सृजन चाहता है । नारी संस्कृति के उन सभी पहलुओं का वह निषेध करता है जो महिलाओं को पराधीन रखते हों जैसे कि अकर्मण्यता, आत्मत्याग आदि ।"[3]

इनके अतिरिक्त अश्वेत नारीवादी भी हैं जो इन विचारधाराओं से व्यापक स्वायत्तता का दावा करती हैं । जिसका वास्तविक आशय यही है कि ये विचारधाराएँ नस्ल आधारित शोषण को नज़र अंदाज करती हैं । इन तमाम विभेदों के बावजूद सुराजिन्ता रे के अनुसार "स्त्रीवाद एक ऐसी आवधारणा के रूप में उभर

---

[1] साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा), नारीवादी राजनीति:संघर्ष एवं मुद्दे, शेफाली का लेख -'समाजवादी / मार्क्सवादी स्त्रीवाद ,पृ. सं.30-31

[2] वही, सीमा दास का लेख- 'रेडिकल स्त्रीवाद ', पृ. सं. 40

[3] वही, पृ. सं. 42

रहा है जो अपने भीतर, किसी भी दिए गए समाज में पुरुष विशेषाधिकार और स्त्री अधीनीकरण के आलोचनात्मक विश्लेषण के आधार पर सामाजिक राजनीतिक बदलाव के लिए एक विचारधारा और आंदोलन दोनों को ही समाहित कर सकती है । आज की नारीवादी सोच पुरुषवादी सत्ता को समाप्त करने का लक्ष्य रखती है।"[1]

हिन्दी के स्त्रीवाद ने इन सभी स्त्रीवादी आंदोलनों से प्रभाव ग्रहण किया है। हिन्दी के स्त्रीवाद में अभी इस तरह के अलग-अलग वर्ग नहीं बन पाए हैं। हिन्दी के स्त्रीवाद को परिभाषित करती हुई, प्रभा खेतान लिखती हैं, "स्त्री-लेखन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं के बारे में मानव समाज को परिचय देना है, जीवन के उन अंधेरे कोनों पर भी प्रकाश डालना है जिसकी पीड़ा स्त्रियों ने सदियों से झेली हैं । जरूरत है कि स्त्री अपनी मानवीय गरिमा और अधिकार को समझाकर संरचनात्मक, सांस्कृतिक तथा मानवीय दृष्टिकोण के मूल तत्वों का विश्लेषण करे, अपने लेखन से उन तमाम स्त्रियों को शक्ति दे, जो संघर्षरत हैं तथा जो स्त्री-समाज के विकास में सक्रिय हैं ...जिनके पास मानवीय गरिमा के नाम पर केवल अपना शरीर है, उनको भी शब्द प्रदान करे, जीवन जीने की प्रेरणा दे और साहित्य के विकास के नए दृष्टिकोण तथा वैकल्पिक आवधारणाओं को विकसित करें।"[2]

स्त्री-प्रश्न पर विचार करने वाले हिन्दी में आलोचकों-चिंतकों की एक लम्बी फेहरिस्त है। जिन्होंने अपने आलोचना कर्म के द्वारा हिन्दी में स्त्रीवाद को विकसित करने का सफल प्रयास किया। शोध की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय में कुछ प्रमुख आलोचकों पर विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

2.2.1 राजेंद्र यादव

राजेंद्र यादव को हिन्दी में दलित-विमर्श एवं स्त्री विमर्श की शुरूआत करने वाले लोगों में शामिल होने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने हमेशा 'हंस' के द्वारा विमर्शमूलक साहित्य को एक सार्थक मंच प्रदान करने का प्रयास किया । अतएव

---

[1] साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा), नारीवादी राजनीतिःसंघर्ष एवं मुद्दे, सुराजिन्ता रे का लेख -'नारीवादी सिद्धांत : एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य', पृ. सं. 53

[2] अरविन्द जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता, भूमिका, पृ. सं. 26

यहाँ उनकी मान्यताओं को जानना आवश्यक प्रतीत होता है । राजेंद्र यादव ने घोषित तौर पर स्त्री विमर्श को देहवादी विमर्श के रूप में देखने-समझने का प्रस्ताव रखा। उनका मानना था कि स्त्री देह को स्वाभाविक रूप से एक व्यक्ति के रूप में न देख पाना ही, हमारे समाज की सबसे बड़ी समस्या है। उन्होंने लिखा है, "नारी को हम संपूर्णता में नहीं देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है। करूणा भरी है, सुन्दरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है । कमर से नीचे वह काम-कंदरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है।"[1]

राजेंद्र यादव के अनुसार युगों से स्त्री के प्रति यही नजरिया समाज में देखने को मिलता है। उनके अनुसार हमारे सोच की यही विडम्बना या तो नारी के प्रति श्रद्धा का भाव जगाकर उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है या फिर उसे हेय समझकर घृणा करना सिखाता है। राजेंद्र यादव की स्पष्ट धारणा है कि "आदमी ने यह मान लिया है कि औरत शरीर है, सेक्स है, वहीं से उसकी स्वतंत्रता की चेतना और स्वच्छंद व्यवहार पैदा होते हैं। इसलिए वह हर तरह से उसके सेक्स को नियंत्रित करना चाहता है।"[2]

शरीर मात्र होने की भ्रांति अवधारणा को राजेंद्र यादव स्त्री के ऊपर पुरुष के प्रभुत्व का मूल कारण मानते हैं। उनका मानना है कि न सिर्फ पुरुष ने स्त्री को सिर्फ काम की वस्तु मात्र माना बल्कि स्त्रियों की सोच को भी उसने इसी आधार पर अनुकूलित भी किया। "पुरुष ने स्त्री के खून में यह भावना, संस्कार की तरह कूट-कूटकर भर दी है कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है।"[3] इस तरह पुरुष ने वर्चस्व और अनुकूलन दोनों ही पद्धति से स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक होने पर मजबूर किया।

राजेंद्र यादव कहते हैं कि स्त्री ने अपने आपको उतना ही शरीर के रूप में देखा जितना पुरुष चाहता है। अर्थात् पुरुषसत्तात्मक समाज ने शरीर के स्तर पर भी स्त्री की सोच को आजाद नहीं होने दिया। राजेंद्र यादव इस विरोधाभास की तरफ इशारा करते हुए लिखते हैं, "अजीब विरोधाभास है: पुरुष औरत को सिर्फ

[1] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. सं. 14

[2] वही, पृ. सं.15

[3] वही, पृ. सं.15

शरीर या उसके कुछ अंगों को ही उसकी संपूर्ण पहचान के रूप में देखने की जिद में रहना चाहता है, लेकिन जब औरत स्वयं अपने को इस रूप में देखने या मानने लगती है तो बौखला उठता है- स्त्री शरीर रहे, लेकिन अपने आपको सिर्फ उतना ही शरीर माने जितने की मुझे जरूरत है। उससे अधिक मानना उसकी 'उच्छृंखलता' और अमर्यादा है। कंकाल उपन्यास में प्रसाद ने स्वीकार किया है, 'पुरुष नारी को उतनी ही शिक्षा देता है, जितनी उसके स्वार्थ में बाधक न हो।"[1] राजेंद्र यादव का मानना है कि सदियों से पुरुषों ने स्त्री की समझ को ऐसे ही अनुकूलित किया है। स्त्रियों को हमेशा अपनी जरूरतों के हिसाब से ही छूट दी। उनकी चेतना को स्वाभाविक रूप से निर्मित होने को बाधित करता रहा। जब भी कभी किसी स्त्री ने अपनी समझ से कुछ करने का प्रयास किया, पुरुषवादी समाज ने उसे उच्छृंखल करार दिया। मीराबाई इसकी एक बेहतरीन उदाहरण हैं। इसलिए उनका मानना है कि स्त्री 'शरीर के माध्यम से ही शरीर से ऊपर उठती है।'[2]

राजेंद्र यादव का मानना है कि हमारी समाज-व्यवस्था आज भी विचारों में उतनी ही सामंती है जितना वह मध्यकाल में हुआ करती थी। वह इस सामंती-व्यवस्था को एक पिरामिड की तरह मानते हैं। जिसमें छोटी सी छोटी ईंट को यह भरोसा होता है कि पिरामिड उसके कारण टिका है। इसलिए किसी को भी अपनी जगह से हिलने का अधिकार नहीं है। पुरुषसत्तात्मक समाज ने स्त्रियों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया। इसलिए उनका मानना है, "सामंती व्यवस्था में नारी सिर्फ एक वस्तु है, संभोग और संतान की इच्छा पूरी करने वाली मादा। यहाँ सेवा, उपयोग और वफादारी के बदले पुरुष नारी को उसी तरह सजाता, सुरक्षा देता और उसकी जिम्मेदारी लेता है जैसे अपने हाथियों, घोड़ों और बैलों को सजाता, संवारता और संरक्षण देता है।"[3]

पितृसत्ता औरत को पत्नी या माता रूप में ही स्थापित करता है। दोनों ही स्थितियों में स्त्रियों की स्वच्छंदता वर्जनीय है। स्त्रियों की आजादी को नियंत्रित करने का यह तरीका, पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था हमेशा से अपनाती रही है। इसी कारण राजेंद्र यादव औरत को दी गई सजने-सँवरने की आजादी को पालतू

---

[1] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. सं. 16

[2] वही, पृ. सं 16

[3] वही, पृ. सं. 21

पशुओं की आजादी से जोड़कर देखते हैं। राजेंद्र यादव स्त्रियों की गुलामी की मुख्य वजह स्त्री के 'संभोग योग्य मादा रूप' को मानते हैं। उनके अनुसार इसी कारण "इस समाज के प्रामाणिक साहित्य में 'औरत' कहीं नहीं है। नौ वर्ष की गोरी से लेकर तीस-पैंतीस वर्ष की प्रौढ़ा उम्र की सिर्फ नायिकाएँ हैं - उनके विभिन्न भेद हैं।"[1]

राजेंद्र यादव ऐसी नायिकाओं की जगह साहित्य में औरत के व्यक्ति-रूप को प्रतिष्ठित होते देखना चाहते हैं। इसी कारण वह कृष्णा सोबती को प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले रचनाकार के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार "कृष्णा सोबती पर लिखते हुए मैंने इसी सूत्र को लिया था कि उनकी सारी कथा-यात्रा, औरत के वस्तु प्राणी और व्यक्ति बनने की कहानी है। प्रेमचंद उसे सिर्फ वस्तु से प्राणी तक ही ला पाए थे। ...उस समय यही बहुत बड़ी बात थी।"[2] वस्तु से प्राणी फिर प्राणी से व्यक्ति बनने के बीच एक स्त्री का संपूर्ण संघर्ष घटित होता है। राजेंद्र यादव प्रेमचंद के प्रयास की सराहना करते हुए भी उनकी सीमा को स्वीकार करते हैं। प्रेमचंद अपने युग में औरत को वस्तु से प्राणी मात्र तक ही ला पाए थे। कृष्णा सोबती उनके बाद की रचनाकार हैं एवं औरत होने की संवेदना भी उनके लेखन में शामिल है। इसलिए वह स्त्री को एक व्यक्ति के रूप में स्थापित करती नज़र आती हैं। शरीर से व्यक्ति बनने तक का यह सफर ही स्त्री विमर्श की संघर्ष यात्रा है।

राजेंद्र यादव स्त्रियों के शोषण में परिवार-संस्था का भी महत्त्वपूर्ण योगदान मानते हैं। उन्होंने लिखा, "परिवार नामक संस्था द्वारा पुरुष-निरंकुशता की किलेबंदी न की गई होती तो शायद पुरुष न बालिका को बर्दाश्त करता, न बुढ़िया को, दोनों ही उसके लिए बोझ हैं। उसका प्राकृतिक जुड़ाव युवती के साथ है वह भी अपनी एकमात्र मिल्कियत बनाकर।"[3]

राजेंद्र यादव पुरुष मात्र को ही अधिकांश जगह पुरुष-सत्ता के रूप में प्रस्तुत करते नज़र आते हैं। मेरा ख्याल है कि परिवार नामक संस्था में उन पहलुओं का भी शोषण होता रहा है जिनको संपत्ति के अधिकारों से किन्हीं कारणों से वंचित रखा गया। यह सच है कि स्त्रियों की पीड़ा दोहरी है। परिवार नामक संस्था के भ्रष्ट

---

[1] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. सं. 23

[2] वही, पृ. सं. 23

[3] वही, पृ. सं. 27

होने की सूचना हमें जैनेन्द्र के उपन्यासों के समय से ही मिलने लगती है। राजेंद्र यादव मानते हैं कि परिवार नामक संस्था का निर्माण ही इसलिए हुआ कि स्त्रियों को पुरुषवादी समाज अपनी कैद में रख सके। उनके अनुसार "स्त्री को हजारों सालों से अबला, असहाय, अधूरी और अपने ऊपर निर्भर बनाकर रखना, परिवार के भीतर ही अपनी निरंकुश स्वच्छंदता को बरकरार रखने की रणनीति है...उसने सारे सामाजिक कानूनों को इस तरह गढ़ा है कि पुरुष-वर्चस्व को कहीं कोई चुनौती या खतरा नहीं है।"[1]

परिवार का केंद्र आज भी औरत को ही माना जाता है। उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि घर और परिवार सिर्फ औरतों के प्रयासों से ही टिका रह सकता है। राजेंद्र यादव का मानना है इस कारण औरतों की निर्भरता पुरुषों पर बनी रहती है। इस तरह पुरुष का वर्चस्व सहजता से चलता रहता है और परिवार भी। राजेंद्र यादव लिखते हैं कि यही कारण है कि "भारतीय समाज में न नारी का अपना काई व्यक्तित्व रहा है, न जाति। वह ऐसा 'रत्न' है जिसे कहीं से भी उठाया जा सकता है और जिसके पास है उसी की संपत्ति है।"[2]

राजेंद्र यादव स्त्री मुक्ति को अन्ततः देह मुक्ति में ही देखते हैं। उन्होंने लिखा, "...स्त्री सेक्स वह विस्फोटक तत्व है जिसे शास्त्र और शस्त्र सभी से नियंत्रित रखना है। फिर क्यों स्त्री मुक्ति की मुहिम मुख्य रूप से इसी नैतिकता के विरोध से नहीं शुरू होनी चाहिए ? सही है कि 'स्त्री-मुक्ति का अर्थ सेक्स की स्वतंत्रता नहीं है' का नारा भी सबसे अधिक शीलवती सम्मानित महिलाएँ ही लगाएँगी। मगर फिर उसकी मुक्ति के मुद्दे क्या-क्या होंगे ? आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियाँ भी सेक्स को लेकर ही सबसे ज्यादा चौकस और प्रताड़ित हैं। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता उन्हें आत्मविश्वास और परिणामतः अपनी प्रतिभा और क्षमता के विकास के आधार जरूर देती है, मगर सामाजिक सम्मान तो सेक्स की नैतिकता से ही तय होता है।"[3]

राजेंद्र यादव स्त्री मुक्ति को प्रथमतः और अंततः देह मुक्ति से ही जोड़कर देखने के अनुग्रही हैं। उनके इन विचारों को देखते हुए उनका नई कहानी का कहानीकार रूप याद आता है। राजेंद्र यादव अपना सारा स्त्री विमर्श मध्यवर्गीय

---

[1] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. सं. 27

[2] वही, पृ. सं. 33

[3] वही, पृ. सं. 44

महिलाओं से ही जोड़कर देखते हैं। शायद इसलिए आर्थिक आजादी का प्रश्न उनके लिए गौण हो जाता है। इसलिए उनका यह कहना अतिरंजित जान पड़ता है कि सेक्स की नैतिकता ही औरत के हर तरह के सामाजिक सम्मान को तय करता है। देह मात्र से मुक्ति स्त्री विमर्श के लिए एक बड़ी चुनौती जरूर है पर वही संपूर्ण स्त्रीवाद नहीं है। इसलिए उनका इसी संदर्भ में यह कहना ज्यादा उचित प्रतीत होता है, "जहाँ-जहाँ औरत को बार-बार वस्तु बताया गया है, मुक्ति के सबसे पहले प्रयास भी तो वहीं से होंगे...उसके बिना सहयात्री और सहभागी शब्दों का क्या अर्थ है ?"[1]

राजेंद्र यादव का महत्त्व यह है कि उन्होंने शांत पड़े हिन्दी संसार को विमर्शों की आहट सुनाकर सजग किया। उन्हें मंच देकर विरोधियों को भी सुनने के लिए मजबूर किया। राजेंद्र यादव ने भले ही देह विमर्श को स्त्रीवाद का मूल मानने का प्रस्ताव हर जगह रखा परंतु हमेशा अपनी बात पूरी तार्किकता के साथ रखी। उनके द्वारा उठाये गए मुद्दे भी स्त्रीवाद को समझने और आगे बढ़ाने में मदद करते हैं।

2.2.2 प्रभा खेतान

प्रभा खेतान प्रथम स्त्रीवादी विचारकों में से हैं जिन्होंने हिन्दी में स्त्रीवाद को वैश्विक संदर्भ में परिभाषित एवं स्थापित करने का प्रयास किया। प्रभा खेतान लिखती हैं, "नारीवाद एक विचारधारा और जीवन शैली है। चूँकि स्त्री भी सोचना-समझना जानती है इसलिए मानवाधिकार की विचारधारा और उससे प्रभावित आंदोलन स्त्री-जीवन के लिए परिवर्तनकामी है।"[2] स्त्रीवाद को प्रभा खेतान एक विचारधारा के साथ जीवन दर्शन मानती हैं। जो विचारधारा जीवन व्यवहार को प्रभावित नहीं कर सकती वह कभी परिवर्तनकामी भी नहीं हो सकती। स्त्रीवाद को तो वह मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा करने वाली विचारधारा के रूप में देखती हैं। इससे स्त्री की अपने अधिकारों की भी प्राप्ति होगी और समाज में भी समानता की विचारधारा का प्रसार हो सकता है। इसलिए वह स्त्रीवाद को अन्य वंचित वर्गों के संघर्षों के साथ जोड़ने में विश्वास रखती हैं। उन्होंने लिखा, "स्त्री की पहचान बिखरी

---

[1] राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. सं. 45

[2] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 10-11

हुई भी हो सकती है। संबंधवाचक एवं सामूहिक भी। लेकिन स्त्री को पुरुष द्वारा अभिव्यक्त सांस्कृतिक आदर्शों की आलोचना करनी सीखनी होगी। स्थापित प्रतिमाओं के पीछे छिपी हुई सत्ता की नीयत को पहचानना होगा। स्त्री को अपने से भिन्न अन्य वर्ग, जाति और राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों के साथ संबंध वाचक संपर्क बनाने होंगे।"[1]

स्त्रीवाद को मानवाधिकार के आंदोलन की विचारधारा मानते हुए प्रभा खेतान स्त्रीवाद को स्त्रीतर समस्याओं की तरफ जाने का आह्वान करती हैं। उनका मानना है कि पुरुषवादी सोचने जिन तथाकथित सांस्कृतिक गौरवमयी प्रतिमाओं को गढ़ा और उसे स्त्री-स्वतंत्रता के विरूद्ध इस्तेमाल किया, उन सबकी पहचान आवश्यक है। ऐसा करते हुए भी राष्ट्र के सभी वर्गों और जातियों के स्त्री-पुरुष की समस्याओं से भी भावनात्मक रिश्ता कायम करना होगा। प्रभा खेतान इसके लिए स्त्रीवादी लेखकों को वैज्ञानिक आलोचना पद्धति सीखने की सलाह देती हैं। स्त्रीवाद को वह स्थानीय होने के कारण ही वैश्विक भी मानती हैं। उन्होंने लिखा, "स्त्री स्थानीय संघर्ष कर रही है भूमंडलीय स्तर पर भी वह संघर्षरत होगी, एक समग्र दृष्टिकोण अपनायेगी। एक ओर यदि स्थानीय परंपरा, सापेक्षिक नैतिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक विरासत की समस्या है तो दूसरी ओर स्त्री की संस्कृतियों की सीमाओं के पार छानबीन और अन्वेषण करना होगा ताकि उसके आलोचनात्मक रूख से एक ऐसा वैश्विक दृष्टिकोण विकसित हो सके जिसके जरिए अपनी छद्म चेतना को बदलने में वह सक्षम हो सके। इस तरीके से न स्थानीय मुद्दों की उपेक्षा होगी और न ही स्थानीय सीमाओं में कैद होकर रह जाना होगा।"[2]

वह स्त्रीवाद को एक वैश्विक परिघटना के रूप में देखती हैं। ऐसा स्त्रीवाद के वैश्विक चरित्र से भी स्पष्ट है। स्त्री सिर्फ हिन्दी में या हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि विश्व स्तर पर आधी आबादी है। इसलिए जितना जरूरी स्थानीय एवं निजी संघर्षों को अंजाम तक पहुँचाना है उतना ही वैश्विक संघर्षों से भी जुड़ना आवश्यक है। असल में वह स्त्रीवाद को एक ऐसी विश्व दृष्टि के रूप में विकसित करना चाहती हैं जिससे स्त्री शोषण के आधार स्त्री की छद्म चेतना को वर्ग चेतना में परिवर्तित किया जा सके। इसके लिए वह श्रम की संस्कृति से स्त्रीवाद को जोड़े जाने का प्रस्ताव

---

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 17

[2] वही, पृ. सं. 17

रखती हैं । उनके अनुसार "नारीवाद श्रम के संदर्भ में सैद्धांतिक स्पष्टता और नारीवादी श्रमजीवी महिलाएँ इसे हासिल नहीं कर लेतीं तब तक शोषण का विरोध महज व्यक्तिगत प्रलाप माना जाएगा । नारीवादी सोच और चिंतन को न केवल स्थानीय बल्कि भूमंडलीय स्तर पर संवाद स्थापित करना चाहिए, बल्कि अन्य देशों की स्त्रियों की समस्याओं के संदर्भ में अपनी स्थानीय समस्याओं को समझने की चेष्टा भी करनी चाहिए।"[1]

प्रभा खेतान स्त्रीवाद की सार्थकता श्रमजीवी महिलाओं के संघर्षों की सफलता में देखती हैं। सुमन राजे इसी दृष्टि के अभाव में स्त्रीवाद को महज संपन्न महिलाओं से जोड़कर ही देख पाती हैं तथा राजेंद्र यादव इसे सम्पन्न महिलाओं की सेक्स की नैतिकता की लड़ाई में देखते हैं। प्रभा खेतान इसे श्रमशील महिलाओं के संघर्ष से जोड़ने के साथ स्त्रीवाद को अन्य देशों की स्त्रियों की समस्याओं के संदर्भ में भी समझने का प्रस्ताव रखती हैं। यद्यपि यह सच है कि हिन्दी में स्त्रीवाद वैश्विक स्त्रीवादी विचारधारा से प्रभावित होते हुए भी अन्य देशों की महिलाओं की समस्याओं से नहीं जुड़ पाया है।

प्रभा खेतान नैतिकता एवं यौनिकता के सवाल को भी स्त्रीवाद के लिए आवश्यक मानती हैं । उनका मानना है कि नैतिकता के नाम पर ही स्त्रियों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः घर एवं घर के कामों के लिए नज़रबंद करके रखा जाता रहा है। इसलिए उनकी स्पष्ट धारणा है, "यह कहने मात्र से काम नहीं चलेगा कि इन नैतिक मुद्दों के प्रसंग में नारीवाद एक विशिष्ट दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए निहित खामियों की ओर सत्ता का ध्यानाकर्षित करने की चेष्टा करता है ।...बल्कि इन पारंपरिक सिद्धांतों में क्या खामियाँ रही हैं, इनमें विमर्श प्रणाली में क्या दोष हैं ? इसकी चर्चा आवश्यक है ?"[2]

अर्थात् रचनाओं एवं आलोचना के माध्यम से सिर्फ समस्याओं का निरूपण मात्र यथेष्ट नहीं है बल्कि स्त्रीवाद की विचारधारा को स्पष्टतः निरूपित करना भी आवश्यक है। परंपरा के उन प्रश्नों एवं पक्षों पर भी बात करना भी आवश्यक है। जिसे मुख्यधारा के समाज द्वारा सायास या अनायास अनदेखा किया गया। इसके लिए वह स्त्री के अनुभवों पर ध्यान देना जरूरी समझती हैं। उन्होंने लिखा, "स्त्री के

---

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 25

[2] गीताश्री (संपा), नागपाश में स्त्री, प्रभा खेतान का लेख- 'नैतिक अनुभवों का अध्ययन', पृ. सं. 67

अनुभवों पर ध्यान देने से नैतिक चिंतन के इन सैद्धांतिक रूपों के बारे में भिन्न तरीके से सोचना होगा और इससे नैतिक सिद्धांतों में अवधारणात्मक फेर-बदल करना होगा। नारीवाद विभिन्न द्वित्वों (युक्तिपरकता व संवेद, निजी व सार्वजनिक) आदि पर सवाल उठाता है और इसके विकल्प में अनुभवों की विशिष्टता और ठोसत्व पर जोर डालता है । नारीवाद द्वारा यहाँ कोई निष्पक्ष ज्ञान प्रस्तुत नहीं किया जा रहा, बल्कि ज्ञान के बहुतेरे आख्यानों पर प्रकाश डाला जा रहा है ताकि स्त्री के अनुभवों को स्पेस मिले और वे परिवर्तित रूप से विचार-विमर्श का साधन बने।"[1]

प्रभा खेतान मानती हैं कि पारंपरिक-सिद्धांत अब तक पुरुषों के अनुभवों से निर्मित एवं विकसित हुए हैं। इसलिए स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता आया है। जबकि सच्चाई यह है कि समाज में दोनों के अनुभव का अस्तित्व है। इसलिए स्त्री के अनुभव को महत्त्व देना समाज की सोच को समुचित रूप से विकसित करने के लिए आवश्यक है। प्रभा खेतान का प्रस्ताव है कि हमेशा से चले आ रहे सिद्धांतों एवं आख्यानों पर स्त्री अनुभव के आलोक में विचार-विमर्श होना चाहिए । इससे हमारी सोच और सामाजिक प्रतिबद्धता दोनों ही परिष्कृत एवं विकसित होंगी।

स्त्री अनुभव के तिरस्कार का प्रभाव स्त्री-पुरुष के पारम्परिक यौन जीवन पर भी पड़ा । इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्री यौनिकता की अवधारणा भी पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था ने अपने द्वारा निर्मित प्रतिमानों पर गढ़ा । प्रभा खेतान लिखती हैं, "पुरूषोचित प्रतिमान के आधार पर स्त्री यौनिकता की अवधारणा निर्धारित की गई। स्त्री के यौन-भाव को निष्क्रिय माना गया। स्त्री 'काम' को केवल देह के अंग विशेष तक ही सीमित कर दिया गया। संभोग के साथ एक बड़ी प्राचीन पितृसत्तात्मक अवधारणा जुड़ी रही है।...पुरुष 'संभोग से समाधि की ओर' जाता है, मगर स्त्री को केवल माध्यम ही बने रहना है।"[2]

इस तरह स्त्री को यहाँ भी दोयम दर्जे का नागरिक ही समझा गया। पुरुष अनुभव पर निर्मित यह निकष स्त्री-पुरुष जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष को भी पुरुषवादी तरीके से समझता-समझाता है। प्रभा खेतान का मानना है कि काम का

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 144

[2] वही, पृ. सं.144

सीधा संबंध आनंद से है और यह पुरुष और स्त्री के सह-वास पर आधारित है। इसलिए वह काम के साथ सत्ता को जोड़े जाने का पुरजोर विरोध करती हैं। स्त्री पर हर प्रकार से आधिपत्य स्थापित करने के लिए यौन जीवन में पुरुष ने काम के साथ सत्ता को भी शामिल कर लिया। इससे यौन जीवन में आनंद गौण और आधिपत्य की भावना प्रमुख हो गई। प्रभा खेतान लिखती हैं, "यौन जीवन को सत्ता की आक्रामकता से मुक्त करना होगा। यौन जीवन में आनंद की प्रधानता होनी चाहिए, सत्ता के खेल का नहीं।...यदि यौन जीवन में सत्ता और उसके आधिपत्य का खेल जारी रहेगा तो स्त्री को कभी मुक्ति मिल ही नहीं सकती।"[1]

स्त्री मुक्ति के लिए प्रभा खेतान यौन जीवन को सत्ता से विलग करना आवश्यक मानती हैं। इसके अभाव में स्त्री-पुरुष में न परस्पर प्रेम विकसित हो सकता है और न साहचर्य की भावना ही। प्रभा खेतान के अनुसार सत्ता का प्रश्न ही नारी पर पुरुष के आधिपत्य का उत्स है। इसी कारण पुरुष बेहद निजी क्षणों में भी अपनी पुरुषवादी सोच से मुक्त नहीं हो पाता। प्रेम और काम से सत्ता के दखल को खत्म करके ही वह इससे मुक्त हो सकता है और इसमें स्त्री के साथ पुरुष की भी मुक्ति निहित है। पूरे समाज की मुक्ति निहित है।

पितृसत्ता :

स्त्रीवाद का गहरा और प्राथमिक संघर्ष पितृसत्ता के विरूद्ध रहा है। पितृसत्ता की मान्यताओं और निर्मितियों से संघर्ष करके ही स्त्रीवाद अपने लक्ष्य को पा सकता है। स्त्रीवाद का सामाजिक संघर्ष इसलिए पितृसत्ता के ही खिलाफ है। प्रभा खेतान लिखती हैं,"पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हजारों साल से चली आई ऐसी व्यवस्था है, जिसमें स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया-उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए। स्त्री का यह अमानवीयकरण दलित के अमानवीयकरण से कहीं ज्यादा सूक्ष्म है, क्योंकि दलित पुरुष भी तो पितृ-व्यवस्था सत्ता का सदस्य है और पुरूषोचित अहंकार के कारण स्त्री के शोषण और उत्पीड़न से वह भी बाज नहीं आता।"[2]

---

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 149

[2] वही, पृ. सं. 39

प्रभा खेतान के अनुसार पुरुष ने पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था के अंतर्गत स्त्री के प्रत्येक पक्ष को मनमाने तरीके से विश्लेषित एवं व्याख्यायित किया। यह सब कुछ स्त्री को पुरुष के अधीन बनाए रखने की ही कवायद थी। स्त्री का सब कुछ पुरुष के संदर्भ में ही परिभाषित किया। स्त्रियों को इतना पराश्रित बनाया गया कि उनका पुरुष के बिना अस्तित्व ही संभव नहीं रहा। पुरुष के नाम के बिना स्त्री बेटी, पत्नी और माता तीनों ही रूपों में अधूरी मानी गई । पितृसत्ता के इस अमानवीयकरण की प्रक्रिया का प्रभा खेतान दलितों के अमानवीयकरण से भी ज्यादा सूक्ष्म एवं समस्याजनक मानती हैं।

प्रभा खेतान का मानना है कि सालों से चली आ रही पितृसत्ता की व्यवस्था का जन्म स्त्रियों पर शासन बनाए रखने के लिए ही हुआ। प्रभा खेतान के अनुसार "पितृसत्ता को समझने के लिए सबसे पहले हमें सत्ता के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया को समझना होगा। सत्ता का होना शासित पर निर्भर करता है। ...सत्ता का आंतरिक स्वरूप ही ऐसा है कि वह शासन-प्रक्रिया द्वारा दूसरे का शोषण करना चाहती है, ताकि अपने से भिन्न को हीन एवं कमजोर बनाकर रखा जा सके।"[1] प्रभा खेतान का मानना है कि इसी कारण पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री और पुरुष दोनों ही उत्पादन की प्रक्रिया में साझीदार रहे परंतु स्त्रियों के श्रम को दोयम दर्जे का या गौण ही समझा गया। इस संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं, "महाजनी पूँजी के समय से स्वतंत्र पूँजीवाद के युग तक स्त्री का शोषण ही होता रहा है। पण्य की तरह वह पहले भी बिकती रही है और आज भी बिक रही है । यह केवल भावात्मक उच्छवास नहीं। स्त्री का शोषण एक ऐसी घटना है जो पितृसत्तात्मक पूँजीवाद के विकास का अभिन्न अंग है जिसका आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर गहरा असर पड़ा।"[2]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था और पूँजीवाद के बीच द्वंद्वात्मक संबंध रहा है । दोनों एक दूसरे से परस्पर प्रभावित भी होते हैं और एक दूसरे को गति भी प्रदान करते हैं। पितृसत्ता पहले से ही गैर बराबरी को सैद्धांतिक रूप देने वाली व्यवस्था है। उस पर पूँजीवाद की अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की सैद्धांतिकी ने उसे और विकराल रूप प्रदान कर दिया। स्त्री के शोषण को और व्यापक बना दिया।

---

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 85

[2] वही, पृ. सं. 86

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने अपनी हिजेमनी को विस्तार देने के लिए पूँजीवाद का सहारा लिया। इसके लिए सांस्कृतिक परिवेश पर पितृसत्ता ने नियंत्रण ज्यादा जरूरी समझा। यह पूँजीवाद के आर्थिक हितों के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ। प्रभा खेतान ने सही लिखा है, "स्त्री को दी जाने वाली शिक्षा-दीक्षा, उसके जीवन के विभिन्न पक्षों पर, अभिव्यक्ति की प्रत्येक दिशा पर अपने नियंत्रण से पितृसत्ता स्त्री-जीवन के समग्र मूल्यों पर नियंत्रण रखती है और इसी के अधीन स्त्री खुद को परिभाषित भी करती रही है।"[1]

पितृसत्ता की सबसे बड़ी कामयाबी सांस्कृतिक रूप से अपनी हिजेमनी कायम करने में है। स्त्रियों की सोच को अनुकूलित कर वह प्रतिपक्ष को कमजोर करने के प्रयास में हमेशा जुटा रहता है। इसलिए पितृसत्ता का सवाल सिर्फ पुरुषों का स्त्रियों पर सामाजिक वर्चस्व मात्र से नहीं है। स्त्रीवाद की सार्थकता एवं सफलता के लिए पितृसत्ता और पूँजीवाद की हिजेमनी को चुनौती देना आवश्यक है। प्रभा खेतान इस व्यवस्था का पितृसत्तात्मक पूँजीवाद नामकरण बिल्कुल सही करती है। यह लड़ाई स्त्रियों के सामाजिक सम्मान के साथ उनके आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के लिए भी आवश्यक है। स्त्रीवाद को इस व्यापक रूप में न सिर्फ समझना एवं विश्लेषित करना है बल्कि इन सबके खिलाफ पुरजोर संघर्ष करना भी आवश्यक है।

प्रभा खेतान स्त्रीवाद के उद्देश्यों को लेकर बिल्कुल स्पष्ट हैं। वह स्त्रीवाद को जीवन एवं साहित्य के व्यापक फलक तक ले जाना चाहती हैं। स्त्रीवाद के मूल में समानता के दर्शन को मानती हैं इसलिए स्त्रीवाद का दायित्व भी वह व्यापक मानती हैं। उनके अनुसार स्त्रीवाद का उद्देश्य "स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं का मानव समाज को परिचय देना है, जीवन के उन अंधेरे कोनों पर प्रकाश डालना है जिसकी पीड़ा स्त्रियों ने सदियों से झेली है। जरूरत है कि स्त्री अपनी मानवीय गरिमा और अधिकार को समझकर संरचनात्मक, सांस्कृतिक तथा मानवीय दृष्टिकोण के मूल तत्वों का विश्लेषण करें। अपने लेखन से तमाम स्त्रियों को शक्ति दे, जो संघर्षरत हैं तथा जो स्त्री-समाज के विकास में सक्रिय हैं, वे जो समाज की नज़रों से दूर, कहीं किसी कोने में सुबक रही हैं, जिनके पास मानवीय गरिमा के नाम पर केवल अपना

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 86

शरीर है, उन्हें जीने की प्रेरणा दे और साहित्य के विकास के नए दृष्टिकोण तथा वैकल्पिक अवधारणाओं को विकसित करें।"[1]

2.2.3 अनामिका

अनामिका स्त्रीवाद के प्रारंभिक विचारकों में से एक हैं। अनामिका ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तर पर स्त्रीवाद को विकसित करने का प्रयास किया है। मिथकीय आख्यानों से लेकर पश्चिमी स्त्रीवादी आंदोलनों एवं प्राचीन साहित्य से लेकर समकालीन हिन्दी साहित्य तक, उनकी विचार-प्रक्रिया का विस्तार देखने को मिलता है। स्त्रीवाद को समग्रता में विश्लेषित करने का सफल प्रयास उनके यहाँ दिखाई पड़ता है।

अवधारणा :

अनामिका के लिए स्त्रीवाद अंतर्राष्ट्रीय बहनापे की प्रेरणा देने वाला आंदोलन है। इसलिए वह स्त्रीवाद को सिर्फ धनी महिलाओं के द्वारा किया जाने वाला कोरा वाग्विलास मात्र नहीं मानतीं। उनके अनुसार "ग्रासरूट स्तर तक इसका विस्तार है और हर वर्ग, हर नस्ल तक सार्वभौम भगिनीवाद (यूनिवर्सल सिस्टरहुड) का मूल मंत्र पहुँचाने में यह सफल भी हुआ है क्योंकि वर्ग, नस्ल या देश कोई भी हो, स्त्रियों की भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भाषिक और अस्मिता-संबंधी समस्याएँ प्रायः एक सी हैं ...स्त्रियों का यह आपसी सखी-भाव ही सामान्य संकटों की उस उदात्त साझेदारी का नाम है जिसे स्त्री आंदोलन कहते हैं...।"[2]

अनामिका इसे स्त्री आंदोलन या स्त्रीवाद की सबसे बड़ी विशेषता मानती हैं। इस कारण स्त्रीवाद जमीनी या स्थानीय सच्चाइयों के साथ पारदेशीय संदर्भों से भी जुड़ता है। हर वर्ग, हर नस्ल की औरतों की सामाजिक एवं भावनात्मक समस्याएँ, एक सूत्र में बाँधती हैं। इसलिए उनका संघर्ष भी बहुत स्पष्ट होता है। इस संदर्भ में अनामिका यह भी स्पष्ट करती हैं कि स्त्रीवाद का विरोध किसी पुरुष से नहीं है। उन्होंने लिखा है, "दोषी पुरुष नहीं, वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म

[1] प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ. सं. 51

[2] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ. सं. 11

से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र। आंदोलन की सार्थकता इसमें है कि वह वहाँ-वहाँ ऊँगली रखे जहाँ-जहाँ मानदण्ड दोहरे हैं, विरूपण, प्रक्षेपण, विलोपन के तिहरे षड्यंत्र स्त्री के खिलाफ लगातार कारगर हैं जिनसे निस्तार मिलना ही चाहिए और सारा संघर्ष इसी बात का है।"[1]

अनामिका का मानना है कि पुरुषों को भी अपनी पुरुषवादी सोच से निजात पाना उतना ही जरूरी है जितना प्रताड़ित हो रही स्त्री को है। इसलिए वह उस पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था को दोषी मानती हैं, जो किसी भी व्यक्ति को क्रमशः खालिस पुरुष में तब्दील कर देती है। पितृसत्ता के तीन प्रमुख हथियार स्त्रियों का विरूपण, उनकी मनचाही तस्वीर का प्रक्षेपण एवं स्त्री के व्यक्तित्व का विलोपन है। अनामिका इन तीनों ही पुरुषवादी अवधारणाओं के खिलाफ लगातार संघर्ष चलाने में ही स्त्रीवादी आंदोलन की सार्थकता देखती हैं।

अनामिका स्त्रीवाद को महज पश्चिमी अवधारणा कह कर, नकारे जाने का विरोध करती हैं। उन्होंने लिखा, "स्त्री आंदोलन है तो पश्चिमी अवधारणा, पर तीसरी दुनिया के देश अपनी परम्पराओं और परिस्थितियों के आलोक में वैसे ही एडैप्ट कर सकते हैं जैसे माओ ने मार्क्स को किया।"[2] माओ द्वारा मार्क्स को 'एडैप्ट' करने के उदाहरण से अनामिका किसी समतावादी विचारधारा का पूर्व या पश्चिम के आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण का विरोध करती हैं। समतावादी विचारधाराओं को किसी एक क्षेत्र या देश तक सीमित करके नहीं रखा जा सकता। नारीवादी विचारधारा का प्रसार भी सिर्फ एक प्रदेश तक सिमट कर नहीं रह सकता और सिर्फ पश्चिम से आयातित विचारधारा कहकर इसका विरोध भी नहीं किया जा सकता। स्त्री तो वैसी भी विश्व जनसंख्या की आधी आबादी है। अनामिका इस बात को और स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "स्त्री-समाज एक ऐसा समाज है जो वर्ग, नस्ल, राष्ट्र आदि संकुचित सीमाओं के पार जाता है, और जहाँ कहीं दमन और चाहे जिस वर्ग, जिस नस्ल की स्त्री त्रस्त है वह उसे अपने परचम के नीचे लेता है। तकलीफें

[1] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ. सं. 11

[2] वही, पृ. सं. 12

मिल-बाँटने का घरेलू तरीका अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज तक ऐसा सफल होगा किसने सोचा था। ...यह निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है।"[1]

इसलिए अनामिका स्त्रीवादी विचारधारा से प्रभावित हर स्त्री को ऐक्टिविस्ट मानती हैं। वह लिखती हैं, "स्त्री विमर्श से जुड़ी हर स्त्री मुख्यतः एक ऐक्टिविस्ट ही है क्योंकि समस्याएँ मिल-बांटने का सहज घरेलू तरीका ही आज अंतर्राष्ट्रीय विस्तार पा गया है। एक सखी तत्व हर स्त्री में नैसर्गिक होता है- विमर्श इसे बस धार ही देता है।"[2] यह सही है कि हर वर्ग, जाति और नस्ल की स्त्री प्रताड़ित होती है परंतु इन सबके ऊपर उनके यहाँ आपसी एकता का सिद्धांत प्रतिपादित करना वास्तविकता को रोमैंटिसाइज करना ही है। अनामिका का आदर्श निष्पाप होने के बावजूद सच्चाई इससे इतर है। हमारे अपने ही देश में जाति और वर्ग दो बड़ी सच्चाईयाँ हैं, जिससे स्त्रीवाद की सीधी भिड़ंत है। इसके बावजूद हिन्दी के स्त्रीवाद को वैश्विक स्त्रीवाद के साथ जोड़कर देखना एक भविष्योन्मुखी पहल है।

मिथकीय संदर्भ और स्त्री :

अनामिका जैसे पुरुष मात्र को ही स्त्री या स्त्रीवाद का विरोधी नहीं मानतीं वैसे ही संपूर्ण भारतीय मिथक भी उनके लिए सर्वथा त्याज्य नहीं हैं। मिथकों में जिस तरह से स्त्रियों को प्रस्तुत किया गया है, और पारंपरिक अर्थों में जिस तरह से हमने ग्रहण कर लिया है, उसका भी प्रत्याख्यान अनामिका करती हैं। इसलिए वह पौराणिक या मिथकीय स्त्री-चरित्रों की नारीवादी दृष्टि से पुनर्व्याख्या करती हैं। इस संदर्भ में वह लिखती हैं, "इससे बड़ा सांस्कृतिक षड्यंत्र कोई हो ही नहीं सकता कि सीता-सावित्री जैसी बागी स्त्रियों को मूक आज्ञाकारिता से एकाकार करके देखा जाए। न सीता कठपुतली थीं, न सावित्री-दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व थे और समय आने पर दोनों ने निर्भीक निर्णय का तेज दिखाया। यह विडम्बना ही है कि अन्यायी-असंस्कृत और भ्रष्ट पति की भी मूक प्रतिच्छाया बनकर रहनेवाली दीन-हीन स्त्रियों को 'सीता-सावित्री' कहा जाता है।"[3]

---

[1] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं. 16

[3] अनामिका, मन मांझने की जरूरत, पृ. सं.13

अनामिका मिथकीय साहित्य को सिर्फ पुरुषवादी साहित्य कहकर त्यागने की पक्षधर नहीं है। इस तरह से तो स्त्रीवादी साहित्य भारतीय संदर्भों में परंपरा विहीन हो जाएगा। वह रचे गये साहित्य में से ही मूक करार दिए गए चरित्रों को नए रूप में हमारे सामने पेश करती हैं। यह किसी भी आंदोलन से जुड़े व्यक्ति का कर्तव्य है कि संघर्ष के बीज वह अपनी परंपरा में ही तलाश करे। आज तक जिस सीता को पति-परायण, अत्यंत सीधी और कोमल माना जाता था उसे अनामिका एक मजबूत चरित्र के रूप में सामने लाती हैं।

सीता के बारे में लिखते हुए अनामिका ने लिखा, "सीता के बारे में सबसे बड़ा मिथ निःशब्द समर्पण का है। सीता अपने समय की पहली महिला थी, जिसने पति के साथ ही सही, घर की चौखट लाँघकर अपनी दुनिया देखी। सीता के सामाजिक सरोकार इतने अच्छे थे कि वन-प्रदेश का एक-एक व्यक्ति-ग्राम वधुओं से लेकर केवट तक-उनसे पूरा ममत्व पाता रहा। ...फिर सीता को मूक आज्ञाकारिता के कठघरे में जकड़ने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि सीता का सबसे बड़ा सच है लक्ष्मण रेखा लांघ जाना यानी आपात स्थिति में अपने विवेक के हिसाब से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस।"[1]

इसी प्रकार शूर्पणखा को जिस तरह से हमारे समक्ष पेश किया जाता रहा है उसका भी प्रत्याख्यान वह करती हैं। शूर्पणखा के बारे में उनका कहना है कि सोलह साल की शूर्पणखा का एक पुरुष के प्रति आकर्षण सामान्य बात थी। अगर वह बहुत छोटी थी तो उसे समझा बुझाकर वापस भेजा जा सकता था। वह प्रश्न उठाती हैं कि उसे समझाने की जगह उसके नाक कान काट लेना कहाँ का न्याय था। असल में अनामिका ऐसा करते हुए उस पितृसत्तात्मक विचारधारा को बेनकाब कर रही होती हैं जो अपने शोषण को जायज ठहराने के लिए स्त्रियों के चरित्रों का मनचाहे तरीके से निर्मित करता है और फिर प्रचारित-प्रसारित करता है। शूर्पणखा वाले प्रसंग में अनामिका ने इस बात को बड़ी स्पष्टता के साथ रेखांकित किया है। अनामिका ने लिखा, "लक्ष्मण दरअसल पुरुष-प्रधान समाज के उस बेबुनियाद तर्क का संवहन करते दीखते हैं कि स्त्री की अपनी यौन-संवेदनाएँ तो होती ही नहीं, और

[1] अनामिका, मन मांझने की जरूरत, पृ. सं.13-14

वह निर्लज्ज (?) बनकर अपनी ओर से प्रणय-निवेदन करती है तो दाल में जरूर कुछ काला होता है...।"[1]

आज भी तथाकथित रूप से हमारे आधुनिक समाज में शूर्पणखा की तरह स्त्रियों के लिए घृणास्पद विशेषण ही व्यवहृत होता है । एक तरफ तो पितृसत्ता स्त्रियों के व्यक्तित्व को शरीर मात्र बनाने में सीमित करना चाहता है दूसरी तरफ यह भी अपेक्षा रखता है कि वह पुरुषवादी अर्थों में मर्यादित व्यवहार भी करे । अनामिका मिथकों की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए सदियों से चली आ रही पितृसत्ता की घृणित सोच पर ही ऊँगली रख रही होती हैं। इसी तरह से अनामिका ने सावित्री, शकुंतला, सरस्वती इत्यादि मिथकीय स्त्री-चरित्रों की सामाजिक व्याख्या समकालीन संदर्भों में किया है।

उद्देश्य :

अनामिका के अनुसार "स्त्री आंदोलन का उद्देश्य इस बद्धमूल धारणा का निराकरण है कि वे एक लदा हुआ गर्भमात्र हैं और इस चेतना का विकास है कि यौन सुख हो, सत्ता-सुख हो या किसी नैतिक-आध्यात्मिक तृप्ति का बिंदु-स्त्रियों का पुरुषों पर अवलम्बन, बस इतना है जितना पुरुषों का स्त्रियों पर।"[2]

स्त्रीवाद को वह सहभागिता की भावना से पूर्ण आंदोलन मानती हैं। स्त्री-पुरुष का भेद, स्त्री को कमतर आँके जाने के कारण पुरुषवादी समाज के मानस में रूढ़ कर दिया जाता है। इस संदर्भ में अनामिका कहती हैं, "यह कितनी बड़ी बात है कि इतना अनाचार झेलने के बावजूद स्त्रियों ने पुरुषों के दबे-ढँके मनुष्यत्व में आस्था नहीं छोड़ी है । पहले की स्त्रियाँ संबंध निभाती थीं तो आर्थिक परतंत्रताजन्य विवशता उनके साथ रहती थी । ...अब आर्थिक स्वतंत्रता है तो उपाय बहुत हैं, फिर भी स्त्रियाँ जल्दी किसी को बीच मँझधार नहीं छोड़तीं- बेटी/ पत्नी/ माँ/ बहन/ दोस्त/ सहकर्मी-किसी भी रूप में।"[3]

अनामिका का मानना है कि स्त्रियाँ एक बेहतर दुनिया बनाना चाहती हैं जहाँ किसी भी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक दबाव उनके ऊपर न हों।

---

[1] अनामिका, मन मांझने की जरूरत, पृ. सं 14

[2] अनामिका, पानी जो पत्थर पिता है, पृ. सं. 17

[3] वही, पृ. सं. 58

वह सर्वप्रथम रूढ़ हो गई 'स्त्री-छवि' को ध्वस्त करना चाहती हैं ताकि वह अपने सहज कर्तव्यों का स्वाभाविकता से पालन कर सकें। इसलिए अनामिका परिवार को तोड़ना नहीं चाहतीं। बहुत सारी स्त्री विमर्शकार परिवार नामक व्यवस्था को ही समाप्त करने के में पक्ष हैं क्योंकि परिवार को वह स्त्री-शोषण का केंद्र मानती हैं। अनामिका परिवार नामक संस्था को तोड़ना नहीं चाहतीं वरन् उसका समानता के आधार पर पुनर्निर्माण करना चाहती हैं। अनामिका ने लिखा है, "...ज्यादतर स्त्रियाँ परिवार संजोकर रखना चाहती हैं। क्यों ? साहचर्यजनक स्नेह के आग्रह से ही तो।...स्नेह का आग्रह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है कि साथ रहा जाए और एक दूसरे के दोष-गुण और दुःख-सुख जहाँ तक संभव हो झेल लिए जायें।"[1]

अनामिका का मानना है कि स्त्री विमर्श जितना संघर्ष के बाह्य रूप को महत्त्वपूर्ण मानता है उतना ही आन्तरिक रूप को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। उनके अनुसार 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' की भावना ही स्त्रीवाद का मूल है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि स्त्रीवाद का संबंध सिर्फ स्त्री-समस्या से नहीं है। बल्कि स्त्री इसके केंद्र में स्त्री समस्या के होने की वजह से ही वह दुनिया भर में हो रहे संघर्षों में शामिल है। दुनिया भर के उत्पीड़ित और शोषितों के संघर्ष से अलगाकर स्त्रीवाद को नहीं देखा जाना चाहिए। असल में स्त्रीवाद बेहतर दुनिया बनाने का ही संघर्ष है। अनामिका के शब्दों में कहें तो "जो जहाँ उत्पीड़ित और साधन विपन्न हैं, उन्हीं के कंधे है दुनिया बदलने की जिम्मेदारी। और स्त्रियां तो इनमें अगुआ हैं, क्योंकि उनकी अस्मिता में समाहित है दुनिया के हर निर्बल-शोषित की अस्मिता।"[2]

2.2.4 अरविन्द जैन

अरविन्द जैन का नारीवादी आलोचकों में एक विशिष्ट स्थान है। अरविन्द जैन को स्त्री लेखन के एक ऐसे आलोचक के रूप में जाना जाता है जिन्होंने रूढ़िगत आलोचनात्मक पद्धति एवं अकादमिक शास्त्रीय तरीके दोनों का निषेध किया। उनकी आलोचना दृष्टि वस्तुनिष्ठ एवं स्त्री लेखन के मर्म को उद्घाटित करने वाली साबित हुई हैं। वह एक तरफ स्त्री लेखन की अलग व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो

[1] अनामिका, पानी जो पत्थर पिता है, पृ. सं. 29-30

[2] अनामिका, मन मांझने की जरुरत, पृ. सं. 62

दूसरी तरफ अपने आलोचना कर्म से स्त्रियों के साथ संवाद कायम करने का प्रयास करते हुए दिखते हैं। इसी कारण प्रभा खेतान ने अरविन्द जैन की विशिष्टताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा, "आप स्त्री लेखन में किसी अमूर्त धारणा को नहीं खोज रहे बल्कि पूरी-की-पूरी जीवित स्त्री को तलाशना चाहते हैं। आपकी दृष्टि भविष्य की उस स्त्री पर है, जो संघर्ष करते हुए समग्र पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध एक चुनौती बनकर खड़ी हो सके।"[1]

अरविन्द जैन स्त्री लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान करते हैं एवं उस पर नए ढंग से विचार करने का प्रयास करते हैं। अपनी आलोचना पद्धति में वह किसी विचार की गहराई तक जाने का प्रयास करते हैं। वह परिवार-संस्था को प्रश्नांकित करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि आमूलचूल रूप से परिवर्तित न होते हुए भी कम से कम मध्यवर्गीय परिवार बदले तो हैं ही। यह अलग बात है कि शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियों की स्थिति ऐसे परिवार में बेहतर होने की जगह और जटिल हुई हैं। इस संदर्भ में अरविन्द जैन यह प्रश्न उठाते हैं कि अक्सर परिवार या परिवार का कोई पुरुष सदस्य स्त्रियों के विरोध में क्यों दिखाई पड़ता है। स्त्रियों की स्थिति में सुधार होना किसी परिवार के लिए समस्या क्यों बन जाता है ? अरविन्द जैन लिखते हैं, "स्त्री परिवार या विवाह संस्था से बाहर स्वतंत्र रूप से सम्मानजनक जीवन क्यों नहीं जी सकती ? ...क्या औरत को हमेशा संबंधों और सम्पत्ति के समीकरणों में ही पहचाना जाएगा ? इन शर्तों पर मौजूदा परिवार के सड़ते ढाँचे को और अधिक लम्बे समय तक बचा पाना सर्वथा असंभव ही नहीं, बेहद खतरनाक भी है।"[2]

अरविन्द जैन के अनुसार स्त्रियों की समस्या पर पारंपरिक दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। कोई भी परिवार स्त्री-पुरुष दोनों के सहयोग से चलता है। यह समानता सिर्फ पति-पत्नी तक ही सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि परिवार में मौजूद हर स्त्री को समान अधिकार दिए जाने चाहिए। परिवार में किसी भी स्तर पर किसी भी तरह का लिंग-भेद नहीं होना चाहिए। ऐसे में अरविन्द जैन यह सवाल उठाते हैं कि जब परिवार में उसे विभिन्न तरह के अन्यायों एवं अत्याचार का सामना करना पड़ता है तब एक स्त्री परिवार से बाहर स्वतंत्र रूप से अपना जीवन-

---

[1] अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ. सं 9

[2] वही, पृ. सं 53

यापन क्यों नहीं कर सकती ? स्त्री को परिवार के बाहर या अंदर अपेक्षित सम्मान क्यों नहीं हासिल होता ? अरविन्द जैन मानते हैं कि ऐसी स्थिति में परिवार-संस्था का अस्तित्व में बने रहना जितना मुश्किल है उतना खतरनाक भी है।

अरविन्द जैन 'परिवार बचाओ' के नारे को भी खतरनाक मानते हैं। वह इसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था की एक सोची-समझी रणनीति मानते हैं। वह लिखते हैं, "धार्मिक पाखण्डों और घोर अन्धविश्वासों का भगवा झण्डा उठाए, यह पितृसत्ता वास्तव में परम्परावादी वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र ही है। यथास्थिति बनाए रखने के 'षड्यन्त्र' में राष्ट्रीय अस्मिता, आदर्श, इतिहास का गौरवगान करते ऐसे मुखिया घर-घर में मौजूद हैं। यहाँ से वहाँ तक 'परिवार बचाओ' का नारा लगाते हुए और नैतिकता का पाठ पढ़ाते हुए।"[1]

अरविन्द जैन किसी भी समस्या को उठाते हैं तो उसके सभी आयामों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। अधिकांश स्त्रीवादी विचारकों का मानना है कि स्त्री मुक्ति, सिर्फ स्त्री की नहीं बल्कि सब की मुक्ति है। उसी तरह अरविन्द जैन यह बताते हैं कि 'परिवार बचाओ' का नारा सिर्फ परिवार के टूटने से पैदा होने वाले अव्यवस्था से संबंधित नहीं है बल्कि यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के टूटने या दरक जाने के डर से पैदा हुआ नारा है। इसलिए इसे स्त्री समस्या के रूप में चिन्हित न करते हुए राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रीय गौरव से जोड़ दिया जाता है। इतिहास के हवाले से कथित उदाहरणों के माध्यमों से संस्कृति के भ्रष्ट हो जाने के खतरे को सामने रखा जाता है। यदि एक स्त्री के आत्मनिर्भर बनने से एक समाज के पूरे ढाँचा के ही बिखर जाने का खतरा है, तब उस स्त्री की समस्याओं, उस पर होने वाले शोषण एवं उसकी स्वाधीनता को मुद्दा बनाया जाना जरूरी क्यों नहीं प्रतीत हुआ।

'परिवार बचाओ' अभियान की आवश्यकता क्यों पड़ी ? क्या इससे स्त्री-मुक्ति के प्रयासों को सहयोग मिलेगा ? अरविन्द जैन इस संदर्भ में लिखते हैं, "पितृसत्ता का अंतर्राष्ट्रीय अभियान है 'परिवार बचाओ'। क्यों ? कारण स्पष्ट है कि परिवार ही नहीं रहेगा तो पुरुष की पूँजी और सत्ता का क्या होगा ? वह राज किस पर और कब तक कर सकेगा ?"[2] अर्थात् स्त्री किसी भी परिवार में स्वयं ही संपत्ति

---

[1] अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ. सं. 70

[2] वही, पृ. सं. 157

में तब्दील हो जाती है और पुरुष उसका मालिक हो जाता है। अरविन्द जैन इसे दास-प्रथा के समकक्ष मानते हैं। मुख्य पक्ष यहाँ यह है कि परिवार का होना या नहीं होना उसके चरित्र पर निर्भर करना चाहिए। मनुष्य को किसी न किसी रूप में परिवार की जरूरत पड़ती है परन्तु परिवार का अर्थ स्त्री के दासत्व से जुड़ा नहीं होना चाहिए। परिवार-संस्था पर पुनर्विचार जरूरी है। इसे स्वस्थ बनाने के लिए प्रयास भी किया जाना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष की बराबरी पर आधारित परिवार का निर्माण किया जाना जरूरी है जो स्वयं पितृसत्तात्मक-व्यवस्था के उद्देश्यों के विरुद्ध खड़ा हो जाए।

परिवार-संस्था से ही जुड़ा सवाल विवाह संस्था का भी है। परिवार-संस्था की नींव विवाह-संस्था पर ही टिकी होती है। विवाह उस असमानता को समाज में बढ़ावा देता है जो स्त्रियों के शोषण का मूल कारण बनता है। एक तो विवाह की प्रकृति पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही तय करती है। जाति के अंतर्गत विवाह को पितृसत्तात्मक व्यवस्था महत्त्व देती है। विवाह के बाद उत्पन्न पुत्र को संपत्ति हस्तांतरित कर दी जाती है और यह क्रम चलता रहता है। असल में परिवार से लेकर देश और दुनिया की संपूर्ण संचित पूँजी में पुरुषों के साथ स्त्रियों के श्रम का भी अतिरिक्त मूल्य शामिल है। विवाह- संस्था शोषण की जटिल प्रक्रिया को वैधता प्रदान करने का काम करती है। ऐसे में अरविन्द जैन सवाल उठाते हैं कि "पूँजीवादी लोकतंत्र में बराबरी के लिए बगावत से भी क्या और कैसे होगा ? विवाह संस्था के रहते, स्त्री की अपनी अस्मिता (जाति, धर्म, नागरिकता, वगैरा) कैसे बनेगी-बचेगी?"[1] अर्थात् चुनौती दोतरफा है। एक तरफ विवाह संस्था की सामंतवादी व्यवस्था है तो दूसरी तरफ वह पूँजीवादी व्यवस्था है जो स्त्रियों के अतिरिक्त श्रम से मुनाफा कमा रही है। दोनों ही व्यवस्थाएँ एक दूसरे को मजबूत करने का काम करती हैं। इसलिए अरविन्द जैन मानते हैं कि जाति, धर्म, समुदाय आदि से ऊपर उठकर स्त्री-अस्मिता के निर्माण के लिए विवाह जैसी संस्था का पूर्ण जीर्णोद्धार आवश्यक है।

अरविन्द जैन चाहते हैं कि स्त्रियों के अंदर अंतर्राष्ट्रीय बहनापे की भावना विकसित हो परन्तु भारत जैसे देश में यह एक जटिल कार्य है। यहाँ किसी भी तरह के बहनापे या भ्रातृत्व भाव से पहले जाति, वर्ग, धर्म, लिंग, भाषा आदि की दीवारें

[1] अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ. सं. 132-133

बीच में आ जाती हैं। स्त्री इन सारे तत्वों में वह एक इकाई है जो अपने स्त्री होने के कारण शोषित होती है। इसलिए अगर स्त्रियों के अंदर बहनापे का भाव विकसित होगा तो वह अन्य जगहों पर होने वाले प्रगतिशील संघर्षों को मजबूती प्रदान कर सकता है। इसलिए स्त्री मुक्ति का सवाल अत्यंत जटिल हो जाता है क्योंकि स्त्रियाँ हर जगह बँटी-बिखरी पड़ी हैं। अरविन्द जैन लिखते हैं, "सच कहूँ तो स्त्री मुक्ति के सारे सवाल बेहद जटिल और पेचीदा हैं, बना दिए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बहनापे के बावजूद महिलाएँ विभिन्न वर्गों में बँटी(बाँटी) नजर आती हैं।...विभाजित वर्ग हितों और सरोकारों के कारण आंदोलनात्मक संघर्ष की सफलता संदेहास्पद हो जाती है।"

इसके बावजूद अरविन्द जैन मानते हैं कि आंदोलनात्मक संघर्ष ही स्त्रीवाद का भविष्य तय कर सकता है। वह लिखते हैं, "सामाजिक नवनिर्माण और विकास की बेहद जटिल और पेचीदा प्रक्रिया में, संघर्ष के दौरान ही नए विकल्पों की सोच और समयानुसार समझ का विकास होता है। पितृसत्ता के सामने चुनौतियाँ खड़ी की जाएँगी, तो सुधार के सुझावों पर विचार भी करना पड़ेगा । बिना मुखर अभिव्यक्ति के संवाद असंभव है।"[1]

अरविन्द जैन के अनुसार पहली जरूरत है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ आंदोलनात्मक संघर्ष किया जाना चाहिए । उसी में से कोई रास्ता निकलकर आएगा। कोई भी सामाजिक आंदोलन पहले समाज को बेहतर बनाता है। दुनिया भर में स्त्रियों के अधिकारों को लेकर संघर्ष होते रहे हैं। हमारे देश में अब तक स्त्री-प्रश्न पर कोई संगठित आंदोलन नहीं देखा गया है। इसलिए जरूरी है कि समाज को समरस बनाने के लिए, और अधिक लोकतांत्रिक बनाने के लिए साहित्य और समाज दोनों ही स्तर पर संघर्ष होना चाहिए। शायद इसी रास्ते अन्तर्राष्ट्रीय बहनापे का विकास हो सके जो हमारे समाज में समानता और भ्रातृत्व की भावना को लैंगिक दुराग्रहों से मुक्त भी कर सके। अरविन्द जैन औरत के अस्तित्व और अस्मिता दोनों के प्रतिरोध एवं संघर्ष को आवश्यक मानते हैं।

[1]अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ. सं 70

2.2.5 कात्यायनी

कात्यायनी स्त्रीवाद को दुनिया भर में वंचितों-उपेक्षितों के हक में चल रहे आंदोलनों के आलोक में देखती हैं। पूँजीवाद का बदलता स्वरूप और बाजार द्वारा रोज नए तरीकों के ईजाद करने के संदर्भ में ही वह स्त्री समस्या को विश्लेषित करती हैं।

भूमंडलीकरण और स्त्री-श्रम :

पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफे के सिद्धांत पर टिकी होती है। अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की जिद ने ही नए बाजार खोजने की मुहिम को गति प्रदान किया। कात्यायनी इस संदर्भ में लिखती हैं, "औद्योगिक क्रांति से लेकर आज तक के समय में, उत्पादन के लिए नई-नई तकनोलोजी का इस्तेमाल मुनाफे के इसी उद्देश्य के लिए होता रहा है। श्रम के लिए इसका एकमात्र मतलब "उत्पादन के एक उपादान" के रूप में इस्तेमाल होना है जिसकी भूमिका कुशलता और लागत से मापी जाती है। प्रारंभिक औद्योगिक क्रांति में इसी के चलते स्त्रियों के अतिशोषण की शुरूआत हुई और आज भी तीसरी दुनिया की स्त्रियों का अत्यंत सस्ता श्रम इसी कारण से बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा खरीदा जाता है।"[1]

स्त्रियों के श्रम का अत्यंत सस्ता होने को कात्यायनी स्त्री के शोषण का मुख्य कारण समझती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में हर व्यक्ति या तो उत्पादन का या तो उपादान है अथवा व्यर्थ है। व्यक्ति का श्रम ही उसके अस्मिता का प्रधान आधार है, इसके अभाव में वह स्त्री हो या पुरुष इस व्यवस्था के लिए नगण्य है। कात्यायनी बताती हैं कि पूरी दुनिया में विशेषकर तीसरी दुनिया के देशों में स्त्रियों की स्थिति निकृष्टतम गुलामों जैसी हो गई है । भूमंडलीकरण और नई आर्थिक नीतियों ने स्त्रियों का जीवन नारकीय बना दिया है। इसलिए वह लिखती हैं, "बीसवीं सदी के अंत में, भारत जैसे गरीब देशों की मेहनतकश स्त्रियाँ रोजमर्रा के आम जीवन से अनुपस्थित होती जा रही हैं। उन्हें देखना हो तो वहाँ चलना होगा जहाँ वे छोटे-छोटे कमरों में माइक्रोस्कोप पर निगाहें गड़ायें सोने के सूक्ष्म तारों को सिलिकन चिप्स से जोड़ रही हैं...खिलौने तैयार कर रहीं हैं या फूड प्रोसेसिंग के काम में लगी हुई हैं। इसके अलावा वह बहुत कम पैसे पर स्कूलों में पढ़ा रही हैं, टाइपिंग कर रही

[1] कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. सं. 16

हैं, करघे पर काम कर रही हैं। सूत कात रही हैं और पहले की तरह बदस्तूर खेतों में भी खट रही हैं। महानगरों में वे दाई-नौकरानी का भी काम कर रही हैं और 'बार मेड' का भी।"[1]

एक तरफ स्त्रियों के श्रम का दोहन दूसरी तरफ दैनंदिन समाज में उनकी कथित अनुपस्थिति; दोनों ही स्थितियाँ स्त्रियों के लिए चुनौतीपूर्ण है। परिवार से लेकर फैक्टरियों तक में उनका श्रम नहीं दिखता। इससे उनके श्रम का मूल्य न के बराबर ही समझा जाता है। सदियों से शोषण झेल रही स्त्री के लिए यह एक नई किलेबंदी है। सामंती समाज के शोषणों को पूँजीवादी व्यवस्था और सूक्ष्म बना देती है। इसके पीछे कात्यायनी पितृसत्तात्मक व्यवस्था और पूँजीवाद के गठजोड़ को देखती हैं। उन्होंने लिखा है, "सच्चाई यह कि तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों के दोयम दर्जे के नागरिक होने के चलते उनका श्रम काफी सस्ता है। उन्हें ठेके पर रखकर या असंगठित मजदूर की स्थिति में रखकर, आम संगठित मजदूर के मुकाबले उनके अतिरिक्त श्रम का छः गुना-आठ गुना अधिक दोहन किया जाता है।"[2] पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री-शोषण की बुनियाद तैयार करती है, जिस पर आगे चलकर पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफा कमाती है। यह सब कुछ स्त्रियों के दैहिक श्रम पर ही होता है। स्त्रियों की समाज में दोहरी नागरिकता, यहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ती। यहाँ भी उन्हें पक्का या संगठित क्षेत्र में नहीं रखा जाता। यहाँ भी वह दोयम दर्जे की ही मजदूर होती हैं। कात्यायनी का कहना है कि ऐसा पूरे विश्व स्तर पर हो रहा है खासकर तीसरी-दुनिया के देशों में। उनके अनुसार "पूर्वी एशिया से लेकर मेक्सिको और लातिन अमेरिकी देशों तक, राष्ट्रपारीय निगमों द्वारा श्रम-शक्ति में भारी संख्या में महिलाओं की भर्ती की यह रणनीति विगत दो दशकों से लागू की जा रही है।"[3]

पूँजीवादी बाजार के प्रसार के साथ हमारे देश में उपयोगितावादी उपभोक्ता संस्कृति का विस्तार हुआ। दूसरी तरफ भारतीय पूँजीवाद ने तमाम सामंती मूल्यों-मान्यताओं को भी जिंदा रखा और उसे आत्मसात भी कर लिया। इस कारण नारी समस्या हो या जाति समस्या अति जटिल रूप में विकसित होती रही। इनका

---

[1] कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. सं. 17

[2] वही, पृ. सं. 25

[3] वही, पृ. सं. 25

नतीजा यह हुआ कि "सभी सामाजिक क्रियाकलापों से बहुसंख्यक नारी समुदाय का लगभग पूर्व पार्थक्य बना हुआ है ।... बहुसंख्यक नारी-आबादी पहले जैसे ही बर्बर निरंकुश (घरेलू और बाहरी) दासता और 'एशियाई जड़ता' की बेड़ियों में जकड़ी हुई है ।"[1]

भूमंडलीकरण जहाँ एक तरफ मुक्त मनुष्य का नारा बुलंद करता है वहीं भीतर ही भीतर शोषण की बुनियादों का नवीनीकरण करता जाता है । भूमंडलीकृत पूँजी के भारत आगमन के बाद भारत में महिलाओं का शोषण किसी रूप में कम नहीं हुआ है बल्कि बढ़ा ही है । स्त्रीवाद के लिए यह एक चुनौती है कि वह शोषण के इस पक्ष को अपनी रचनात्मकता और विमर्श में कितनी जगह देता है । श्रम के स्तर पर बराबरी का संघर्ष स्त्री मुक्ति के साथ स्वस्थ और समतामूलक समाज के लिए भी आवश्यक है ।

सामाजिक आंदोलन में हिस्सेदारी और स्त्रीवाद :

"मेरा मानना है कि जिस तरह यह सभी जनपक्षधर रचनाकर्मियों के लिए जरूरी है, उसी तरह और उससे भी अधिक, स्त्री-रचनाकारों के लिए भी, जरूरी है कि वे यदि वास्तव में स्त्री-प्रश्न पर स्त्री-पक्ष को सही ढंग से समझना और सटीक ढंग से अभिव्यक्त करना चाहती हैं तो उन्हें रसोई से सिर्फ अध्ययन-कक्ष तक और घर से सिर्फ दफ्तर या क्लास रूम तक की यात्रा का पूरा मान लेने के बजाय समस्त राजनीतिक-सामाजिक घटना प्रवाहों के बीच उपस्थित होना होगा और हमारे इर्द-गिर्द के दारूणतम-वीभत्सत्म और आतंककारी सच्चाईयों का निकट-साक्षी बनना होगा और भोक्ता बनने का खतरा भी उठाना होगा ।"[2] स्त्रीवादी विमर्श या साहित्य का वैश्विक चरित्र आंदोलनधर्मी है । हिन्दी में किसी भी तरह के आंदोलन से जुड़े न होने का आरोप बराबर हिन्दी के स्त्रीवाद पर लगाया जाता है । कात्यायनी इसी कमी की ओर इशारा कर रही हैं । उनका मानना है कि एक स्त्री का सिर्फ रचना करना ही काफी नहीं है बल्कि सामाजिक आंदोलनों में उसकी भागीदारी भी जरूरी है ।

[1] कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. सं. 40

[2] कात्यायनी, कुछ जीवंत कुछ ज्वलंत, पृ. सं. 138

बाजारवादी अर्थव्यवस्था में जिस तरह औरतों के श्रम का शोषण अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए किया जा रहा है, उसका भी हल कात्यायनी संगठित आंदोलन में ही देखती हैं। उनका मानना है कि विभिन्न पेशों में लगी औरतों का पेशेगत संगठन के साथ औरतों के आम संगठन बनाए जाएँ ताकि उन पर हो रहे हर तरह के जुल्म का संगठित रूप से प्रतिकार किया जा सके। कात्यायनी के अनुसार "औरतों के ये संगठन उनके सामाजिक और यौन-उत्पीड़न का जुझारू प्रतिरोध करें, पुरुष स्वामित्ववादी मानसिकता के विरूद्ध प्रचार करें, हर प्रकार की और आम होती जा रही नारी विरोधी हिंसा की घटनाओं के संगठित प्रतिरोध के उपाय निकालें। और उन बहुसंख्यक औरतों को भी अपने दायरे में समेटने का प्रयास करें जो घरों में कैद हैं, आर्थिक तौर पर पूर्णतः परनिर्भर हैं, और चूल्हे-चौखट की गुलामी से बंधी हैं।"[1]

स्त्रीवाद को महज साहित्यिक हलकों तक समेटकर रखने का कात्यायनी निषेध करती हैं। संगठन में वह हर वर्ग की महिलाओं की भागीदारी चाहती हैं। अत्यंत गरीब और आर्थिक रूप से पराश्रित स्त्रियों को वह विशेषरूप से ऐसे संगठन में चाहती हैं। संगठन के माध्यम से ही पुरुषवादी सत्ता और पूँजीवादी सत्ता को मुकम्मल जवाब दिया जा सकता है। संगठन या सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता को वह इसलिए भी जरूरी मानती हैं क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था और पूँजीवादी व्यवस्था मिलकर ही औरतों के शोषण का जाल रच रहे हैं। कात्यायनी ने सही लिखा, "पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक-सामाजिक अधिरचना भी स्त्रियों के जनवादी अधिकारों के 'स्पेस' को अतिसंकुचित बना देती है और बुर्जुआ सत्ता इसका भरपूर इस्तेमाल करती है।"[2]

इसलिए कात्यायनी स्त्री मुक्ति आंदोलन को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए स्त्रीवादियों की सामाजिक और राजनैतिक रूप से सक्रिय भागीदारी चाहती हैं। कात्यायनी ने स्पष्ट रूप से लिखा, "मेरी यह पक्की धारणा है कि स्त्री-लेखन में भी स्त्री-जीवन की वास्तविक सच्चाइयाँ और चुनौतियाँ तभी आ सकती हैं जब हम अपने सामाजिक सरोकारों के हिसाब से किसी न किसी रूप में 'ऐक्टविस्ट' हों, और साथ ही, घर-गृहस्थी से लेकर सड़क-आफिस-दफ्तर तक, अपने अधिकारों

---

[1] कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. सं. 40

[2] कात्यायनी, कुछ जीवंत कुछ ज्वलंत, पृ. सं. 142

के प्रति जागरूक और अपनी मान्यताओं के प्रति ईमानदार औरत के रूप में लगातार 'एसर्ट' करने का-अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का, जोखिम उठाते रहते हों और उसका खामियाजा भुगतते रहते हों। यह हमारे जीवन के हर जाग्रत क्षण में जारी रहने वाला संघर्ष है, जो अविराम है, और जिससे एक स्त्री यदि थकती है तो मुक्ति के स्वप्नों को, 'विजन' को और 'प्रोजेक्ट' को खो देती है।"[1]

2.2.6 प्रमीला के. पी.

समकालीन स्त्रीवादी आलोचकों में एक प्रमुख नाम प्रमीला के. पी. का माना जाता है। प्रमीला के. पी. स्त्रीवाद को मानव मुक्ति के लिए किये जाने वाले प्रयासों से जोड़ कर देखती हैं। उन्होंने स्त्रियों की आर्थिक आज़ादी पर विचार करने के साथ यौनिकता और आध्यात्मिकता के आलोक में भी स्त्रीवाद को देखने का प्रयास किया है। उनकी चिन्ता के केंद्र में अंततः लोकतंत्र है और इसमें रहने वाले स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं। वह स्त्रीवाद को स्त्री-मुक्ति के लिए जितना आवश्यक मानती हैं उतना ही पुरुषों की चेतना के विकास के लिए भी आवश्यक मानती हैं। स्त्रीवाद को किसी आरोपित विचार के रूप में प्रचारित-प्रसारित करने का भी वह विरोध करती हैं। उनके अनुसार "स्त्री मुक्ति विशाल अर्थ में मानव मुक्ति है या उलटे अर्थ में मानव मुक्ति के भीतर स्त्री मुक्ति की राह है। हाशिए की मुक्ति में केंद्र की मुक्ति का विस्तार संभव होता है। साफ है कि जब तक केंद्र की वर्चस्ववादी रवैये में सकारात्मक परिणाम नहीं आता, तब तक हाशिए की मुक्ति संभव नहीं है।"[2]

स्त्री-मुक्ति को वह केंद्र के 'वर्चस्ववादी-रवैयों' को चुनौती देने वाले विचारधारात्मक हस्तक्षेप के रूप में देखती हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि स्त्रीवाद सम्पूर्ण मानवता की शोषणमूलक व्यवस्था से मुक्ति के लिए किये जाने वाले प्रयासों में से ही एक है। यह एकपक्षीय बन चुकी लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर लोकतांत्रिक मूल्यों का विस्तार करने वाला साबित हो सकता है। हाशिए के समाज और केंद्र के बीच सकारात्मक संवाद स्थापित न हो पाने की स्थिति में, शोषण की व्यवस्था पल्लवित-विकसित होती रहती है। स्त्री की तरह हाशिए के अन्य समुदायों

---

[1] कात्यायनी, कुछ जीवंत कुछ ज्वलंत, पृ. सं. 138

[2] प्रमीला के. पी., स्त्री: यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, पृ. सं. 14

की स्थिति केंद्र के वर्चस्ववादी बने रहने तक संभव नहीं है। इसलिए उनका आग्रह है कि हाशिए के विचारों को भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जगह मिलनी चाहिए ताकि हाशिए के लोग मुख्यधारा से अलग-थलग न पड़े रहें।

शासन व्यवस्था की एकोन्मुखता को वह व्यापक समाज के लिए अहितकर मानती हैं। इसलिए वह स्त्रीवाद के भीतर भी एकोन्मुखता को अप्रासंगिक मानती हैं। प्रमीला के. पी. के अनुसार "स्त्री पक्ष की बातें, स्त्री के पक्ष की बातें नहीं होतीं, मगर स्त्री मात्र की बातें नहीं होतीं या नहीं होनी चाहिए। बहुलतावादी, विभिन्नढंगी, विकासशील समाज में स्त्रीपक्षधरता को व्यापक पैमाने का दर्शन होना चाहिए, उसमें स्त्री के साथ मर्द की भी तमाम प्रकार की समस्याओं को संकलित अध्ययन-विश्लेषण संभव होना चाहिए।"[1]

प्रमीला के. पी. यहाँ प्रकारांतर से यह स्पष्ट करती हैं कि अब तक स्त्रीवाद में सायास या अनायास स्त्रियों से सम्बंधित बातें ही हावी रही हैं। स्त्री के विकास की बात को सिर्फ स्त्रियों तक ही सीमित रखा गया है। ऐसे में स्त्रियों के सशक्तिकरण का प्रयास भी अब तक एकपक्षीय ही रहा है। वह इसे गलत मानती हैं। उनका मानना है कि जिस तरह के बहुलतावादी समाज में हम रहते हैं, इसमें विभिन्न वर्ग, जाति, समुदाय एवं लिंग के लोग एक साथ उपस्थित रहते हैं। ऐसे में किसी एक पक्ष या समुदाय को केंद्र में रखकर किसी विचारधारा का विकास नहीं किया जा सकता। उनकी मान्यता है कि मानव का सामुदायिक जीवन समाज में उपस्थित सभी तत्वों को शामिल करके ही विकसित हो सकता है। किसी भी हाशिए के विमर्श का उद्देश्य मनुष्यों को भाषा, लिंग, जाति, वर्ग आदि पर आधारित भेदभाव पूर्ण विचारों से ऊपर उठाना है। इसलिए नर-नारी के समान अधिकार का विचार सिर्फ लिंग समानता के विचार तक सीमित नहीं है बल्कि यह मनुष्यत्व के विकास से जुड़ा विचार है।

प्रमीला के.पी. का स्पष्ट मानना है कि समाज में लैंगिक आधार पर होने वाले भेदभाव एवं अन्याय को समाप्त करने के लिए लिंग संवेदना की जरूरत है। इस सन्दर्भ में वह लिखती हैं, "समाज में लिंग के नाम पर होने वाले सभी प्रकार के भेदभावों व अत्याचारों को रोकने के सिलसिले में लिंग-संवेदना की जरूरतों पर

[1] प्रमीला के. पी., स्त्री: यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, पृ. सं 15

चर्चा मिलती है । शंका नहीं है कि जिस समाज में लिंगाधिपत्य की मजबूती व वर्चस्ववादी परम्परा जारी है, वहाँ की सरकारी व सार्वजनिक योजनाओं को लिंग-संवेदित होना चाहिए ।"[1]

वह मानती हैं कि इसी आधार पर सार्वजनिक योजनाओं एवं सरकारी नीतियों का निर्माण और व्यवहार रूप में प्रसार होना चाहिए । सच्चाई इससे विपरीत है । नीतियों में किंचित लिंग-संवेदना मौजूद होने के बावजूद सार्वजनिक जीवन में उसका अभाव दिखाई पड़ता है । यहाँ सच है कि समाज पहले से ज्यादा लिंग-संवेदित हुआ है परन्तु स्त्री एवं अन्य लिंगों को आज भी हेय दृष्टि से देखने का प्रचलन कम नहीं हुआ है । इसलिए इस सन्दर्भ में यह भी देखा जाना आवश्यक है कि स्त्री-मुक्ति के नाम पर जो आधुनिक तौर-तरीके अपनाए गए, जिस तरह के चिंतन को उत्साहित किया गया वह स्त्री-मुक्ति के लिए कितना उपयोगी है ? 'इसलिए यह आशा जताई जाती है कि मनुष्य जीवन के समस्त क्षेत्रों में लिंग-स्तर की पुनर्व्याख्या करें और उनमें लिंग-संवेदना का विकास करें ।'[2] प्रमीला के. पी. लिंग-संवेदना को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानती हैं । उनके अनुसार इसके अभाव में ही स्त्री-पुरुष के बीच मिथ्या विभेदों को स्वीकार कर लिया गया है । अतएव 'लिंग-स्तर' की पुनर्व्याख्या और 'लिंग-संवेदना' का प्रसार स्त्री-मुक्ति और प्रकारांतर से मानव-मुक्ति के लिए आवश्यक है ।

प्रमीला के. पी. यौनिकता और आध्यात्मिकता के द्वंद्व पर पुनर्विचार करने का निवेदन करती हैं । उनका मानना है कि आध्यात्मिकता पर अतिरिक्त बल देने के कारण हमारे समाज में सहज यौन-इच्छाओं को भी दबाए जाने का प्रचलन रहा है । इससे एक सहज और स्वस्थ समाज का विकास ही अवरुद्ध हो गया । वह इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठाते हुए लिखती हैं, "खैर तर्क के लिए ही सही, स्वीकार करें कि यौनिकता को दबाने का प्रत्यक्ष-परोक्ष उपदेश ठीक है, क्या हमने सामाजिक सामुदायिक दृष्टि से इस बात को लोकतंत्रीय राष्ट्र और धर्मनिरपेक्ष समाज के परिप्रेक्ष्य में कभी देखा-परखा ? नहीं तो संदेह नहीं कि इसका समय लंबित है ।"[3]

---

[1] प्रमीला के. पी., स्त्री: यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं.16

[3] वही, पृ. सं. 37

वह समाज में होने वाले आचार-विचार एवं उपदेशों पर लोकतांत्रिक दृष्टि से विचार करने का प्रस्ताव रखती हैं। यौनिकता को दबाये जाने पर भी, लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। तभी तो किसी भी एक पक्ष के विचारों के आधिपत्य को समझा जा सकेगा। हमेशा से स्त्री को आध्यात्मिकता का विरोधी माना गया है। स्त्री और पुरुष दोनों में यौनिकता होती है, ऐसे में इस पर कभी विचार क्यों नहीं हुआ कि स्त्री की तरह पुरुष भी अध्यात्मविरोधी हो सकता है। असल में हमारी पूरी धार्मिक और आध्यात्मिक व्यवस्था पुरुषों के हित में निर्मित व्यवस्था है जो एक तरफ स्त्रियों पर अतार्किक प्रतिबंधों की अनुशंसा करती है और दूसरी तरफ पुरुषों को पूरी स्वतंत्रता देती है।

आध्यात्मिकता के नाम पर हमेशा यौनिकता को दबाने का उपदेश दिया जाता है। प्रमीला के. पी. इस सन्दर्भ में लिखती हैं, "देह की हवस से पिण्ड छुड़ाने में कम ही लोग सक्षम हो पाते हैं, क्योंकि यौनिकता मानव की मूलभूत जरूरतों में है। देह दमन विरले ही लोगों के संभव कार्य है। इस बुनियादी जरूरतों को दबाकर मानव ने वैयक्तिक कुंठा व सामाजिक अनैतिकता को राह प्रदान की।"[1]

प्रमीला के. पी. का मानना है कि मनुष्य के स्वभावगत प्रवृत्तियों को दबाए जाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। भारतीय समाज में आध्यात्मिकता के प्रचार के लिए जोर-शोर से आयोजन किये जाते हैं। उपदेश दिया जाता है। लोगों से उन भावनाओं से मुक्त होने का निवेदन किया जाता है। यह सिर्फ किसी एक धर्म की बात नहीं है। दुनिया के सभी धर्मों में कमोबेश ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस तरह स्त्री अनायास ही आध्यात्म के रास्ते की बाधा मान ली जाती है। इस सन्दर्भ में प्रमीला के. पी. का मानना है की देह की सहज इच्छाओं का दमन विरले लोग ही कर पाते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य से ऐसी उम्मीद करना अप्रासंगिक प्रतीत होता है और न ही यह मानव की सहज प्रकृति है। समाज में यौनिकता के दमन का विपरीत प्रभाव देखा जाता है। मनोवैज्ञानिकों एवं समाज वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध भी किया है कि यौनिकता के दमन की प्रवृत्ति के कारण समाज में स्त्रियों के ऊपर होने वाले हिंसा के साथ उनके बलात्कार, हत्या आदि की संख्या बढ़ी है। एक सहज समाज का विकास ऐसे प्रयासों से बाधित होता है। ऐसे में जरूरी है कि हम यौनिकता को मानव स्वभाव की सहजता के रूप में स्वीकार करें। इसे भी आम

[1] प्रमीला के. पी., स्त्री : यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, पृ. सं. 40

मनुष्य के लोकतांत्रिक अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान करें। 'हमें आत्मा के साथ देह का अभिन्न स्थान अंकित करना होगा। यह भी स्वीकार करना होगा कि आध्यात्मिकता के समान यौनिकता भी, व्यक्ति की निजी रूचि और स्वचयन पर आधारित प्रवृत्ति है।'[1]

प्रमीला के. पी. ने समलैंगिकता के प्रश्न पर भी विचार किया है। समलैंगिक एवं किन्नर समुदाय पर समाज में चुप्पी देखी जाती है। उनके अधिकारों एवं उन पर होने वाले अत्याचारों पर विशेष चर्चा दिखाई नहीं पड़ती। प्रमीला के. पी. मानती हैं कि लोकतंत्र को मजबूत बनाने के लिए इन उपेक्षित समुदायों की बात को भी प्रमुखता से स्वर प्रदान करना होगा। हमारे समाज में समलैंगिक होना एक अपराध के रूप में देखा जाता रहा है। ऐसे में उन पर विचार करना भी सामान्यतः इसी कोटि के अन्तर्गत माना जाता है। इसलिए लिंग-संवेदना का प्रसार अत्यंत आवश्यक है। समाज में लिंग-संवेदना के पर्याप्त प्रसार के अभाव में अन्य लिंगों के साथ असंवेदनात्मक रिश्ता कायम हो जाता है। प्रमीला के. पी. मानती हैं कि समलैंगिक लोगों को भी सभी तरह के लोकतांत्रिक अधिकार मुहैया कराया जाना चाहिए एवं उनकी इच्छाओं का भी सम्मान होना चाहिए। इस सन्दर्भ में वह स्पष्ट रूप से लिखती हैं, "हमारे समाज में ऐसे लोग हैं जो समलैंगिक हैं। इनका जीवन भी मनुष्य जीवन है, जो कि घिनौना नहीं होता। उनके भी मानव अधिकार हैं, जीवन के अधिकार भी। उन्हें भी मनुष्य होकर जीने और अपनी बातों को समाज के आगे प्रस्तुत करने का अवसर मिलना चाहिए। ...अन्यथा मूल्य संक्रमण के इस युग में हम कपट सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों के नाम पर मनुष्यत्व की अंत्येष्टि कर डालेंगे, आत्मसमर्पण के डर में आत्मप्रवंचना करते रहेंगे।"[2]

कई सौ वर्षों तक दुनिया भर में कुछ लोगों द्वारा शेष लोगों को गुलाम बनाकर रखा गया। वहाँ दासों को बोलने तक कि आजादी नहीं थी। एक लम्बे संघर्ष के बाद मानव सभ्यता दास-प्रथा के समय से यहाँ तक पहुँची है, जहाँ यह सर्वस्वीकृत है कि सभी मनुष्यों के मानवाधिकारों का सम्मान होना चाहिए। ऐसे में हमें आंतरिक उपनिवेशीकरण से बचने का प्रयास करना आवश्यक है। पुरुषसत्ता से मुक्ति इस अर्थ में भी आवश्यक है कि हम मानव सभ्यता के लोकतांत्रिक स्वरुप

[1] प्रमीला के. पी., स्त्री: यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, पृ. सं. 48

[2] वही, पृ. सं. 68

का बेहतर ढंग से विकास कर सकें। इन्हीं अर्थों में स्त्री मुक्ति एवं समलैंगिकों की मुक्ति मनुष्यत्व की मुक्ति के प्रश्न से जुड़ता है। प्रमीला के. पी. के अनुसार हमें मनुष्यत्व की अंत्येष्टि नहीं, इसके मुक्ति के राहों को विस्तृत करने की आवश्यकता है।

2.2.7 रोहिणी अग्रवाल

रोहिणी अग्रवाल ने स्त्रीवादी सैद्धांतिकी को व्यावहारिक रूप देने का महत्त्वपूर्ण कार्य, समकालीन स्त्रीवाद के अंतर्गत किया है। रोहिणी अग्रवाल के लिए 'स्त्री लेखन स्त्री आकांक्षाओं का दर्पण है'।[1] इसलिए इस लेखन में जहाँ एक तरफ मुक्ति का प्रयास दिखाई देता है तो दूसरी तरफ अपने अंतर्विरोधों का ईमानदार स्वीकार भी शामिल है। रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में "एक ऐसी ईमानदार कोशिश जहाँ प्रतिपक्षी के पाले में दूसरे की इयत्ता को रखने से पहले अपनी ही निजता और क्षमता, द्वंद्व और दुर्बलता की जाँच अनिवार्य हो जाती है।"[2] रोहिणी अग्रवाल स्त्री विमर्श को सहज बनाना चाहती हैं, इसकी दुर्बोधता को समाप्त करना चाहती हैं। अपनी दुर्बलता की अनिवार्य जाँच वह सोपान है जो स्त्री की निजता और क्षमता को पहचानने एवं स्थापित करने की तरफ जाता है। इसलिए रोहिणी अग्रवाल स्त्री लेखन को एक ऐसी 'सृजन की महागाथा' मानती हैं जो अंततः 'मानव मुक्ति का सर्जनात्मक संकल्प' है। रोहिणी अग्रवाल इस संदर्भ में स्पष्ट लिखती हैं, "मानव मुक्ति के सर्जनात्मक संकल्प से इतर स्त्री-मुक्ति को किन्हीं अन्य अर्थों में गूंथने-बूझने वाले लाल बुझक्कड़ों की बात मैं नहीं जानती, लेकिन मेरे तईं स्त्री विमर्श अपने भीतर 'मनुष्य' को खोजने और प्रतिष्ठित करने की 'लगन' का नाम है जिसे सिर्फ आस्था (संवेदनात्मक विवेक) के सहारे पाया जा सकता है।"[3] मनुष्य को खोजने और प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण काम किसी भी तरह के पूर्वाग्रह से मुक्त हुए बिना नहीं किया जा सकता। जिस आस्था या संवेदनात्मक विवेक की बात पर रोहिणी अग्रवाल का जोर है, उसके लिए भी वर्ग, वर्ण, लिंग आदि के पूर्वाग्रह से मुक्त होना जरूरी है।

---

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 5

[2] वही, पृ. सं. 5

[3] वही,पृ. सं. 7

रोहिणी अग्रवाल कई समकालीन स्त्रीवादियों से अलग मत रखते हुए स्त्रीवाद को राजनीतिक प्रतिबद्धता से अलग रखने का समर्थन करती हैं। उनके अनुसार "स्त्री विमर्श को राजनीतिक प्रतिबद्धता का अखाड़ा बनानेवाली प्राथमिकताएँ/ विवशताएँ अपनी स्वार्थपूर्ण दुर्बलताओं का ढोल ही पीटती हैं, स्त्री को अधिक स्त्री (हीन और भोग्या) और पुरुष को और अधिक पुरुष (वर्चस्ववादी और उच्छृंखल) बनाकर।"[1]

प्रभा खेतान, अनामिका, कात्यायनी जैसी स्त्रीवादी आलोचक राजनीतिक आंदोलन को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानती हैं जितना की साहित्यिक लेखन को। साहित्यिक प्रतिबद्धता और राजनीतिक प्रतिबद्धता का तादात्मय वे आवश्यक मानती हैं। रोहिणी अग्रवाल का मानना है कि राजनीतिक प्रतिबद्धता के नाम पर स्त्री की दुर्बलताओं का ढोल ही पीटा जा सकता है एवं तथाकथित स्त्री-दुर्बलता को मूल्य के रूप में स्थापित किया जाता है। रोहिणी अग्रवाल स्त्री और पुरुष के बीच समरस संबंध की समर्थक हैं। इसके लिए वह स्त्री-पुरुष की साझा वैचारिक सक्रियता को अनिवार्य मानती हैं।

स्त्री कथा लेखन और स्त्री प्रश्न :

रोहिणी अग्रवाल स्त्री कथा लेखन के मार्फत उन पहलुओं की पहचान करती हैं जहाँ स्त्री प्रतिपक्ष न होकर एक ऐसी एकाग्रचित और सक्रिय स्त्री है जो मुक्ति का संसार गढ़ने के लिए प्रयासरत है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "1990 के बाद की महिला रचनाकार एकाग्रचित होकर एक ऐसी स्त्री को गढ़ रही हैं जो 'स्त्री-स्त्री की दुश्मन' जैसे परंपरापोषित (उपहासास्पद) मिथों को तोड़कर 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' में आस्था रखती है।"[2]

पितृसत्तात्मक समाज ने 'स्त्री-स्त्री की दुश्मन' जैसे कई मिथकों का निर्माण लगातार किया है। इससे स्त्री शोषण को समाज में आज भी वैद्यता प्राप्त हो जाती है। इससे पुरुषवादी सोच की हिजेमनी भी अक्षुण्ण बनी रहती है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार आज की स्त्री रचनाकार इन षड्यंत्रों को पहचानते हुए 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' के निर्माण के लिए हर तरह के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर प्रयास कर रही

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 7

[2] वही, पृ. सं. 205

हैं। इसके साथ ही पुरुष के श्रेष्ठ होने की ग्रंथि से भी मुक्त हो रही हैं। नब्बे के दशक के स्त्री-लेखन के महत्त्व को रेखांकित करते हुए वह लिखती हैं, "इस कालखंड का स्त्री-लेखन पूर्ववर्ती लेखन से इस अर्थ में भिन्न है कि बराबरी की झोंक में 'पुरुष' हो जाने के 'सिंड्रोम' से मुक्ति पाकर वह तटस्थ ओर बेबाक नजर से समाज-व्यवस्था की समीक्षा कर रहा है। जाहिर है इस प्रक्रिया में पुरुष श्रेष्ठता का दंभ, स्त्री का दोयम सामाजिक दर्जा तथा स्त्री-पुरुष संबंधों को परिभाषित करने वाली कतिपय सामाजिक-नैतिक-धार्मिक मान्यताओं एवं वर्जनाओं का खुलासा स्वयमेव होता चला गया है।"[1]

रोहिणी अग्रवाल के अुनसार स्त्री लेखन समाज द्वारा आरोपित वर्जनाओं की पहचान करने वाला लेखन है। ऐसा करते हुए वह पुरुष की बराबरी की होड़ में शामिल नहीं होता बल्कि स्त्री के अधिकारों एवं उसकी अस्मिता की पहचान विनम्रता से करता चलता है। स्त्री लेखन समाज में स्त्रियों की स्थिति, महत्त्व और अनिवार्यता के प्रति पूरी तरह से संवेदनशील और गंभीर लेखन है। ऐसे में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सच्चाई भी सहज रूप में सामने आती हैं जिस वजह से स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक होने के लिए सदियों से अभिशप्त रहना पड़ा है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार स्त्री-लेखन आज के समय में एक रचनात्मक हस्तक्षेप है। उनके अनुसार "असल में 1990 के बाद की महिला कथाकार स्त्री की नियति और स्त्री-पुरुष संबंधों की रिक्ति को लेकर बिसूरने की जड़ता से उबरकर समाज के लिए कुछ पुख्ता और रचनात्मक करना चाहती है।"[2] अर्थात् स्त्री लेखन स्त्री-पुरुष की रिक्ति पर बिसूरने की जगह स्त्री-पुरुष के बीच एक समरसता का निर्माण करना चाहता है। जाहिर है यह पुरुषवादी समाज की खामियों को ठोस ढंग से उजागर किए बिना संभव नहीं है। स्त्री लेखन एक तरफ अपनी दुर्बलता से उबरने को प्रयासरत है तो दूसरी तरफ पुरुषसत्तात्मक समाज-व्यवस्था की खामियों की पहचान कर, उसे दूर करना चाहता है।

रोहिणी अग्रवाल स्त्रीवाद पर लगाये जाने वाले कई आरोपों का भी प्रत्याख्यान करती हैं। मसलन स्त्रीवाद का प्रमुख उद्देश्य देह विमर्श है, या स्त्रीवाद महज आभिजात्य महिलाओं द्वारा संचालित विमर्श है। इस संदर्भ में रोहिणी

---

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 204

[2] वही, पृ. सं. 206

अग्रवाल लिखती हैं, "आज स्त्री लेखन ऊबी-अघाई सम्पन्न स्त्रियों का 'मनोविलास' नहीं, एक जिम्मेदार नागरिक की तरह अपने परिवेश को गढ़ने का संवेदनशील सर्जनात्मक प्रयास है। वह स्त्री विमर्श को देह-विमर्श में रिड्यूस करने की कुत्सित चाल का शिकार भी नहीं, देह के जरिए अपने को भीतर तक चीन्हने-संवारने की चिन्ता भरी कोशिश है। दरअसल स्त्री विमर्श परम्परा द्वारा स्त्री को नाम-जाति-धर्म-पहचान से हीन कर दिए जाने का क्रंदन मात्र नहीं, बल्कि अपनी मानवीय पहचान बनाकर साझी दुनिया के सकारात्मक इतिहास की रचना का दबाव है।"[1]

किसी भी साहित्य या साहित्यिक आंदोलन का एक प्रमुख लक्ष्य परिवेश निर्माण का होता है। व्यक्ति की सोच और चेतना का विकास बहुत कुछ उसके परिवेश पर ही निर्भर करता है। पितृसत्तात्मक परिवेश की वजह से ही स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता रहा है। इसलिए स्त्री विमर्शकार एक जिम्मेदार नागरिक की तरह अपने परिवेश को नवीन रूप में गढ़ने का कार्य सर्जनात्मक रूप में कर रही हैं। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार समकालीन स्त्रीवाद क्रंदन की दशा से बाहर आकर मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने का अपने ऐतिहासिक दायित्त्व का निर्वाह कर रहा है। इस संदर्भ में वे नब्बे के दशक के रचनाकारों के महत्त्व को उद्घाटित करती हैं। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "...वे 'स्त्री' होने को नकारती नहीं, ठसके के साथ स्त्री 'होना' कबूलती हैं क्योंकि जानती हैं कि 'होना' पहले लिंग, रंग, वर्ण, वर्ग, धर्म के सांसारिक भेदों-प्रभेदों के बीच से गुजरकर इयत्ता पाता है और फिर एक विशिष्ट मनोविज्ञान को रचता है जिसे समग्रता में महसूसे बिना न अहसास पाया जा सकता है, न विचार; न कल्पना जगती है और न अंतर्दृष्टि।"[2]

रोहिणी अग्रवाल के अनुसार अस्मिता की पहचान के लिए अपने अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक होता है। स्त्रीवादी लेखन भी अपनी अस्मिता की पहचान करते हुए स्त्री लेखन के विकास का समर्थक है। आत्म की पहचान और उसके विश्लेषण के ही मार्फत स्त्री लेखन हमारे समय में एक सशक्त हस्तक्षेप करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ दिखाई देता है। इसी मार्फत स्त्रीवाद उस षड्यंत्र को समझने का प्रयास करता है जिस कारण विभिन्न स्तरों पर शोषित होते हुए भी तमाम स्त्रियों

---

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 270

[2] वही,पृ. सं. 270

में बहनापे की भावना का विकास नहीं हो पाता। वह स्त्रियों को विभिन्न वर्ण, वर्ग, धर्म आदि में बाँटे जाने के पीछे की सच्चाई को भी समझने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया से गुजरे बिना स्त्री लेखन 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' की भावना का विकास नहीं कर सकता।

रोहिणी अग्रवाल सिर्फ आत्म विश्लेषण को ही समकालीन स्त्री लेखन की विशिष्टता नहीं मानतीं। स्त्री लेखन की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता को रेखांकित करते हुए वह लिखती हैं, "स्त्री लेखन पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लड़ने से पहले उसके तमाम छिद्रों-दरारों को दिखा देना चाहता है और तब बेहद तार्किक ढंग से पूछना चाहता है कि वह लड़े क्यों नहीं ? उल्लेखनीय है कि लड़ाई का बिगुल फूँकने से पहले लेखिकाएँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था के साथ अपने संबंधों की जाँच कर लेना चाहती हैं कि इसके संरक्षण एवं संवहन में उनकी भागीदारी तो नहीं ? कहीं वे स्वयं उन नियमों से परिचालित तो नहीं हो रहीं जिनके खिलाफ जंग छेड़ना चाहती हैं ? यकीनन आत्मसाक्षात्कार की निर्मम प्रक्रिया उनकी वैचारिक परिपक्वता और सकारात्मक विकल्पों को खोजने की सर्जनात्मकता का परिणाम है।"[1]

स्त्रीवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण लड़ाई पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ है। यह एक ऐसी लचीली एवं जटिल व्यवस्था है जिसके खिलाफ मुकम्मल तैयारी के बिना संघर्ष नहीं किया जा सकता। पितृसत्ता की हिजेमनी को चुनौती देने की पहली शर्त आत्मसाक्षात्कार की निर्मम प्रक्रिया है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार स्त्रीवादी लेखिकाएँ अपने इस दायित्त्व को समझते हुए अपनी वैचारिक परिपक्वता को प्रमाणित रही हैं। अपनी कमियों की पहचान कर पितृसत्ता की जगह सकारात्मक विकल्पों की खोज एवं प्रतिष्ठित करने की सर्जनात्मक पहल स्त्रीवाद की सर्वप्रमुख विशेषता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विकल्प का अभाव ही समाज में स्त्री-पुरुष के कृत्रिम भेद को जन्म देता है एवं स्त्री-शोषण को वैद्यता प्रदान करता है। इसलिए रोहिणी अग्रवाल स्त्री-लेखिकाओं के प्रयासों की सराहना करती हैं एवं बराबरी के समाज निर्माण के लिए जरूरी भी मानती हैं।

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 283-284

यौन शोषण और स्त्री :

यौन शोषण का प्रश्न स्त्रीवाद के लिए एक बड़ा प्रश्न है। यौनता की पवित्रता और अपवित्रता के नाम पर कभी स्त्री को समाज में पूजनीय बना दिया जाता है तो कभी चरित्रहीन । रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "...यौन शोषण का मुद्दा सवाल बनकर जब चेतना और चिंतन दोनों के केंद्र में आता है तो बेहद आश्वस्तिकर अनुभूति होती है। एक इसलिए कि शोषित स्त्री अब वस्तु न रहकर अपनी अस्मिता से परिचित हुई है और उसका स्वार्जित गढ़ लेना चाहती है। दूसरे, पुरुष की सत्ता अब निरंकुश एवं निरपेक्ष नहीं रही है। स्त्री की गरिमा के सापेक्ष उसके हर कृत्य का मूल्यांकन करने का आग्रह बढ़ा है।"[1]

रोहिणी अग्रवाल के अनुसार यौन शोषण का मुद्दा महज देह विमर्श की अनुशंसा नहीं करता बल्कि वह स्त्री की अस्मिता की पहचान से जुड़ा मुद्दा है । सदियों से चले आ रहे उसके यौन शोषण का मुद्दा सदियों की संस्कृति द्वारा पोषित मूल्यबोध की भी समीक्षा करता है । ऐसा करते हुए वह पितृसत्ता द्वारा आरोपित नियमों एवं रीतियों को चुनौती देता है। इसी कारण पुरुष सत्ता की निरंकुशता पर भी सवाल खड़ा करता है। यौन शोषण का प्रश्न निरंकुश पुरुष सत्ता की जगह साथी पुरुष की आकांक्षा को व्यक्त करता है।

रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "इस कारण परम्परा और संस्कार, धर्म और शास्त्र, व्यवस्था और कानून, मूल्य और वर्जनाएं सभी एक साथ कटघरे में आ खड़े हुए हैं, सतत जाँच और नवीनीकरण के लिए ताकि ताजा और स्वस्थ बने रह सके, एक सह अस्तित्वपरक समाज की संरचना के लिए।"[2] समाज का विधान बदलते समय के साथ नवीनीकरण की जरूरत महसूस करता है। एक ही नियम-कानून या विधि-विधान से हर युग में समाज संचालित नहीं हो सकता क्योंकि मानव-समाज स्वभावतया विकासोन्मुखी होता है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार यौन शोषण का प्रश्न परंपरा से अपरिवर्तनीय धर्म, कानून, व्यवस्था एवं मूल्यों की प्रासंगिकता की समीक्षा कर उसके नवीनीकरण पर जोर देता है । इससे एक स्वस्थ समाज के निर्माण की प्रक्रिया को बल मिलता है । स्त्री-पुरुष का सह-अस्तित्व समाज व्यवस्था के सतत विकास एवं प्रासंगिक बने रहने के लिए बेहद जरूरी है।

---

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 275

[2] वही, पृ. सं. 275

स्त्रियों के यौन शोषण के मूल कारणों की पड़ताल करती हुई रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "स्त्री के यौन-शोषण का मूल कारण है स्त्री के प्रति अनादर भाव। धर्मग्रंथ, धर्म मूल्यों और सदाचार की दुहाई देते हुए निरंतर स्त्री की अस्मिता को छिन्न-भिन्न करते रहे हैं।"[1] पितृसत्ता ने धर्म एवं संस्कृति के नाम पर लगातार स्त्रियों को विकृत रूप में पेश किया है। किसी भी स्त्री को चरित्रहीन बताकर उसके समस्त अधिकारों का हनन, समाज में एक आम घटना की तरह रही है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव विकसित न हो पाने के कारण ही स्त्री को ऐसी वस्तु माना गया जिसके शरीर का दोहन कर उसके अस्मिता को छिन्न-भिन्न किया जा सकता था। इसी संदर्भ में वह लिखती हैं, "मध्ययुगीन परिवेश तथा अंधविश्वासों-पूर्वग्रहों एवं मूर्खतापूर्ण परम्पराओं ने पत्नी ही नहीं, औसत स्त्री को पुरुष की नज़र में वस्तु भर बना दिया है जिसकी यौनिकता के साथ मनचाहा खिलवाड़ करने को वह स्वतंत्र है।"[2]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा पोषित परम्पराओं पर पुनर्विचार की जरूरत ही नहीं महसूस की गई। स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को ही जब इस व्यवस्था में स्वीकृति नहीं मिली तब उसकी यौनिकता के सवाल को कहाँ से महत्त्व मिलता। स्त्री को एक वस्तु के रूप में परिवर्तित कर, उसके स्वतंत्र अस्मिता के सवाल को पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा लगातार अनेदखा किया जाता रहा। उन धार्मिक एवं शास्त्रीय मान्यताओं की पुनर्परीक्षा की जरूरत भी महसूस नहीं की गई जो स्त्री की स्वतंत्रता को संकुचित करने वाला था। एक तरफ वह देवी रूप में प्रतिष्ठित होती रही तो दूसरी तरफ मात्र भोग्या बनी रही। इन दोनों स्थितियों के बीच आम स्त्री और उसका व्यक्ति-रूप विकसित नहीं हो पाया।

"भारतीय ही नहीं, समूचा वैश्विक इतिहास पौराणिक ग्रंथों-मिथकों-संस्कृतियों के जरिए बताता रहा है कि पुरुष तंत्र का अर्थ है स्त्री की स्वायत्तता और अस्मिता पर पुरुष की नृशंसता, शारीरिक सबलता और षड्यंत्रकारी मानसिकता की विजय का महानुष्ठान। परिवार, विवाह, न्याय, धर्म जैसी संस्थायें इसके बाद की सामाजिक संरचनाएँ हैं जो तत्परता से पुरुष के निजी हितों की रक्षा और संवर्धन के कार्य में जुट कर उसी अनुपात में स्त्री को हीन और कुलटा साबित करती रहती

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 291

[2] वही, पृ. सं. 291

हैं।"[1] रोहिणी अग्रवाल के अनुसार वैश्विक इतिहास में सारी नीतियाँ पितृसत्तात्मक-व्यवस्था द्वारा ही निर्मित की गई। उनके अनुसार पितृसत्ता ने पुरुष तंत्र को स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य के रूप में विकसित किया। जहाँ स्त्री की अस्मिता और स्वायत्तता को पुरुष सत्ता संकुचित किया जाता रहा और स्त्री की यौनिकता को अधिकार में रखने की कोशिश की जाती रही। उनके अनुसार स्त्री को कुलटा और हीन बताकर ही पुरुष के निजी हितों की रक्षा और उसका संवर्धन किया जाता रहा। ऐसा करने के लिए स्त्रियों का यौन शोषण एक प्रमुख उपादान माना गया। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "चूँकि किसी भी व्यक्ति के मनोबल को तोड़ने के लिए उसकी देह को ही हथियार बनाया जाता है, अतः पुरुष तंत्र ने स्त्री के मातृत्व को उसकी दुर्बलता, योनि को कलंक और यौन उन्मुक्तता को नैतिक वर्जना बनाकर इस रूप में प्रस्तुत किया कि तमाम प्रतिरोध भूल आदर्श नारी के रूप में वह स्वयमेव इन आरोपित मानंदडों की कसौटी बन बैठी।"[2]

रोहिणी अग्रवाल के अनुसार यौन शोषण के द्वारा स्त्री के मनोबल को ही तोड़ा जाता रहा है। फिर मातृत्व और यौन वर्जना की शिक्षा उसे दी गई। इस तरह स्त्री के अंदर के प्रतिरोध को ही खत्म कर उसे आदर्श नारी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार यह काम इतने सुनियोजित तरीके से किया गया कि पुरुष सत्ता के वर्चस्व को स्वीकार करने के लिए स्त्री स्वतः ही प्रस्तुत हो गई। पुरुष-तंत्र की वर्चस्वशाली परंपरा आज भी अपने पूरे प्रभाव के साथ जीवित है। आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज में स्त्री का यौन-शोषण ज्यादा आक्रामक हुआ है। खाप-पंचायत जैसी व्यवस्थाएँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आक्रामकता के जीते-जागते उदाहरण हैं। आधुनिक समय में भी स्त्रियों को अपनी स्वायत्तता के लिए हर कदम पर संघर्ष करना पड़ रहा है।

स्त्री लेखन का सामाजिक सरोकार :

रोहिणी अग्रवाल स्त्रीवाद को सामाजिक सरोकारों से जोड़े रखने के लिए आत्मविश्लेषण की जरूरत पर बल देती हैं। स्त्रीवाद स्वयं सामाजिक विषमता के कारण उत्पन्न एक आंदोलन है और इसी का परिणाम स्त्री लेखन है। इसलिए यह जरूरी है कि पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष करते हुए, वह पितृसत्ता की संक्रामक

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प,पृ. सं. 307

[2] वही, पृ. सं. 307

खामियों से स्वयं को सुरक्षित रखने का संघर्ष भी जारी रखे। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार अस्सी और नब्बे के दशक में उभरा स्त्रीवाद कई बार अपनी कातरता को कर्मठता में बदलने के प्रयास में पितृसत्ता की ही रूढ़ियों का शिकार हो जाता है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार "तभी न, स्त्री विमर्श स्त्री-अस्मिता की मानवीय पहचान और सह-अस्तित्वपरक समाज के पुनर्निमाण का संवेदनात्मक अभियान न रहकर स्त्री-पुरुष का अघोषित युद्ध बन जाता है जिसके एक ओर है उत्तरदायित्वों से पिसा बेचारा पुरुष और दूसरी तरफ नैतिकता की चिंदियां उड़ाती अभिमानी उच्छृंखल स्त्री।"[1]

वह मानती हैं कि संपूर्ण परिदृश्य इतना इकहरा या सपाट नहीं है फिर भी स्त्रीवाद में उपरोक्त लक्षण कहीं-कहीं तो दिख ही जाते हैं। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार स्त्रीवाद स्त्री और पुरुष के बीच कोई प्रतिद्वंद्विता का अभियान नहीं बल्कि समाज में स्त्री-पुरुष समानता को स्थापित करने की एक संवेदनात्मक पहल है। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार पुरुष शत्रु नहीं है और न ही स्त्रीवाद की लड़ाई किसी पुरुष के खिलाफ है। स्त्री लेखन का उद्देश्य पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था की निर्मितियों पर पुनर्विचार की पहल करना है ताकि मानवीय गरिमा से युक्त एक स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सके।

रोहिणी अग्रवाल का अदम्य विश्वास स्त्री लेखन में है। वह मानती हैं कि स्त्री लेखन अपनी कमियों को पहचानते हुए उससे उबरने में सक्षम हुआ है। तभी तो वह पूरे विश्वास के साथ लिखती हैं, "साहित्य को शोध और बीहड़ यथार्थ के साथ संबद्ध कर मानवीय त्रासदी के अनेकविध पहलुओं की बारीक जाँच समकालीन स्त्री-लेखन की विशिष्ट पहचान है।"[2] उनके अनुसार स्त्री लेखन स्त्री के साथ संपूर्ण मानवीय त्रासदी के विभिन्न पहलुओं को उसकी बारीकी में समझकर प्रस्तुत कर रहा है। समकालीन स्त्री लेखन का आज के जटिल यथार्थ के साथ गहरा संबंध है। स्त्री-प्रश्न के साथ-साथ वह अपने अन्य सामाजिक सरोकारों को भी भली-भांति समझ रहा है। रोहिणी अग्रवाल इस संदर्भ में लिखती हैं, "स्त्री-लेखन स्त्री के सघन सामाजिक सरोकारों का लेखा-जोखा है जहाँ देह-सुख या देह-प्रदर्शन की ललक

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन :स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 244

[2] वही, ,पृ. सं. 257

प्रमुख नहीं और न ही नैतिकता के मानदंडों को झकझोरकर अपनी निजी मुक्ति का आख्यान रचने की बदहवासी।"[1]

स्त्रीवाद का उद्देश्य निजी मुक्ति का आख्यान रचना नहीं है बल्कि वह समस्त समाज की मुक्ति का समर्थक है। स्त्री लेखन का सर्जनात्मक हस्तक्षेप सामाजिक सरोकारों की गंभीर समझ से पूर्ण है। इसलिए स्त्रीवाद सिर्फ देह की मुक्ति का उत्सव मनाने में विश्वास नहीं करता। रोहिणी अग्रवाल के अनुसार स्त्रीवाद समाज एवं शास्त्र की अनैतिक नीतियों को समाप्त कर स्त्री के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना चाहता है। अंततः वह मानवीय गरिमा को साहित्य एवं समाज के मूल में स्थापित करना चाहता है।

[1] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, पृ. सं. 325

2.3 दलित स्त्रीवाद

अश्वेत स्त्रीवाद स्त्री शोषण के लिए नस्लीय आधार को सर्वाधिक महत्त्व देता है, वैसे ही दलित स्त्रीवाद जाति आधारित शोषण को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। दलित स्त्रीवाद भारतीय स्त्रीवादी संघर्षों को नकारता नहीं है। वह गैर दलित स्त्रीवाद की सीमाओं को स्पष्ट करते हुए स्त्री मुक्ति के संघर्ष को और तेज करने का ही प्रयास करता है। हालाँकि यह सच है कि गैर दलित स्त्रीवादी आंदोलनों द्वारा दलित स्त्री की मुक्ति के प्रश्नों को उठाने में असफलता ने ही दलित स्त्रीवाद की जरूरत को जन्म दिया है। दलित स्त्रीवाद क्या है, या दलित स्त्रीवाद क्यों, का जवाब देते हुए अनिता भारती लिखती हैं, "एक तल्ख हकीकत, जिसे यहाँ के नारीवादी स्वीकारना नहीं चाहते वह है भारत की जाति-व्यवस्था और उसमें बँटी औरतें।...दलित-नारीवाद का मानना है कि भारतीय संदर्भों में सभी औरतें एक मुकम्मल वर्ग के रूप में नहीं हैं, बल्कि वे जातियों में बँटी हैं। इसलिए उनकी समस्याएँ और मुद्दे भी अलग-अलग हैं।"[1]

पश्चिम में चले विभिन्न स्त्रीवादी आंदोलन अलग होते हुए भी स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर एकमत थे। यहाँ भी दलित एवं गैर दलित स्त्रियों के मुद्दे और समस्याएँ अलग होते हुए भी, नारी मुक्ति के प्रश्न और पितृसत्ता की समाप्ति के प्रश्न पर ये एकमत हैं। दलित स्त्रीवाद जाति प्रश्न को पर्याप्त महत्त्व न दिए जाने के कारण, भारतीय स्त्रीवाद की आलोचना करता है। दलित स्त्रीवाद का स्पष्ट मानना है कि दलित स्त्रियों के शोषण की मुख्य वजह उनका जाति से दलित होना है। "दलित नारीवाद मानता है कि दलित स्त्री के प्रति भेदभाव या उसकी हीन स्थिति और उत्पीड़न का कारण उसका दलित होना है। जबकि अन्य स्त्रियों के साथ स्त्री होना ही काफी है। दलित स्त्री होने के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा सामाजिक हिंसा का क्रूरतम रूप उसके खिलाफ निकलकर आता है।"[2]

पितृसत्ता एवं ब्राह्मणी पितृसत्ता के अंतर को स्पष्ट करते हुए तेज सिंह लिखते हैं, "हालांकि ब्राह्मणी पितृसत्ता में सभी वर्ग और सभी समाजों की नारियाँ समान रूप से असमानता की शिकार हैं - कुछ कम तो कुछ ज्यादा। इसलिए

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 9

[2] वही, पृ. सं. 9

पितृसत्ता ब्राह्मणी हो या गैर-ब्राह्मणी, नारी के शोषण और उत्पीड़न का अधिकार स्वतः ही दे देती है, यह उसके चरित्र की खास विशेषता है । प्रश्न उठता है कि दुनिया की अन्य पितृसत्ताओं में भारत की ब्राह्मणी पितृसत्ता ही सबसे कठोर, सबसे ज्यादा उत्पीड़नकारी और शोषणकारी क्यों है ? क्योंकि ब्राह्मणी पितृसत्ता का सामाजिक आधार लिंग और जाति है जो इसे दुनिया की अन्य पितृसत्ताओं से अलग कर देता है ।"[1] इस संदर्भ में तेज सिंह का यह भी मानना है कि "बहुजन समाज में स्त्री-चिंतन अम्बेडकरवादी चिंतन की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है ।"[2] अनिता भारती भी दलित स्त्रीवाद के विकास की भूमिका में अम्बेडकर के विचारों को ही मानती हैं। अंबेडकर ने स्त्री-प्रश्न को अत्यंत महत्त्व का दर्जा दिया। 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शोषण के साझा शिकार के रूप में स्त्री और दलित की साझा-मुक्ति की परिकल्पना फुले और अम्बेडकर दोनों में पायी जाती है ।"[3]

दलित स्त्री लेखिकाओं के बीच ब्राह्मणवादी शोषण के अलावा स्वयं दलित समाज के भीतर पितृसत्ता का प्रश्न एक गंभीर मंथन का विषय रहा है । विमल थोरात के अनुसार दलित स्त्री तिहरे शोषण का शिकार है, "जाति के आधार पर महिला होने के आधार पर और गरीब होने के आधार पर तीन तरह के शोषण दलित महिला झेलती है । इस मुद्दे को उतनी शिद्दत के साथ नहीं उठाया गया जितना उठाना चाहिए था...दलित महिलाओं की समस्याएँ जिस रूप में हमारे सामने हैं, उसमें एक पारिवारिक दबाव भी है। उनको लिखने की स्वतंत्रता वे जुटा नहीं पा रही हैं। इसके लिए दो चीजों की जरूरत है, एक तो दलित महिलाओं को अम्बेडकर की विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करना होगा और दूसरा पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों को अपनी सोच बदलनी पड़ेगी अगर हम महिलाओं को उनकी समस्याओं से निजात दिलाना चाहते हैं तो उन्हें स्वतंत्र करना होगा ।"[4]

दलित स्त्रीवाद की यह सार्थकता है कि वह ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के साथ दलित पितृसत्ता पर भी सवाल खड़ा करता है । अनिता भारती ने इस संदर्भ में लिखा, "एक तो यह कि हमारे साहित्यकार दलित महिला पर अपना कब्जा काबिज रखना चाहते हैं, दूसरे वे नहीं चाहते कि दलित स्त्रियाँ अपनी पीड़ा किसी से बाँट-

---

[1] तेज सिंह (संपा), अम्बेडकरवादी स्त्री चिंतन, पृ. सं. 13

[2] वही, पृ. सं. 11

[3] प्रणय कृष्ण, उत्तर औपनिवेशिकता के स्त्रोत और हिन्दी साहित्य, पृ. सं. 325

[4] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 125

पाएँ...इस तरह के संकीर्णतावादी साहित्यकार वास्तविक रूप में न तो अम्बेडकर को मानते हैं और न ही उनकी विचारधारा को। ...ये साहित्यकार दलितों को वापस मनुस्मृति काल में ले जाना चाहते हैं। "[1]

आज बहुत सारी हिन्दी की दलित लेखिकाएँ दलित स्त्रीवाद की विचारधारा को विकसित एवं स्थापित करने में अपना योगदान दे रही हैं। जिसमें सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, अनिता भारती, विमल थोरात, रजत रानी 'मीनू', हेमलता महिश्वर आदि का नाम प्रमुख है। प्रस्तुत उप-अध्याय में विमल थोरात और अनिता भारती के आलोचना कर्म पर विचार किया गया है।

2.3.1 विमल थोरात

विमल थोरात दलित विमर्शकारों में प्रमुख स्थान रखती हैं। अपने आलोचना कर्म के द्वारा उन्होंने दलित स्त्री की प्रमुख चुनौतियों को सामने रखा है। साथ ही उन चुनौतियों के विषय में, पर्याप्त विचार किया है। विमल थोरात दलित विमर्श को सिर्फ दलित एवं वंचित वर्ग के लिए ही नहीं बल्कि समस्त समाज के कल्याण एवं समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण मानती हैं। उनके अनुसार "दलित मुक्ति चेतना का विस्तार भारतीय जाति आधारित समाज व्यवस्था के वर्ण-जाति-स्त्री दासता की संस्कृति के प्रतिरोध में हुआ। वर्चस्व और अधीनता, श्रेष्ठ और कनिष्ठ, दास और मालिक जैसे अन्यायपूर्ण संबंधों और विधि विधान, शास्त्र तथा धर्म से नियंत्रित व्यवस्था को बदलने का इसका संकल्प रहा है।"[2] इसके अंतर्गत ही वह स्त्री-प्रश्न को भी प्रमुखता से शामिल करती हैं।

दलित स्त्रीवाद का प्रश्न :

विमल थोरात भारतीय दलित आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में दलित स्त्री की समस्याओं एवं चुनौतियों के प्रश्न पर विचार करती हैं। विमल थोरात लिखती हैं, "दलित आंदोलन की विशिष्टता पर बात करते समय जरूरी है कि भारतीय समाज

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 147-148

[2] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 9

व्यवस्था की सबसे आखिरी पायदान पर खड़ी दलित स्त्री के रचनात्मक योगदान को रेखांकित किया जाए।"[1]

विमल थोरात दलित आंदोलन की सार्थकता को सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक तीनों ही स्तर पर देखती हैं। उनका मानना है कि दलित मुक्ति की चेतना ने इन तीनों ही स्तर पर समतावादी दृष्टि का विकास किया है। उनके अनुसार दलित स्त्री भी इस आंदोलन से लाभान्वित हुई है एवं अपने ऊपर होने वाले 'तिहरे शोषण' के विरूद्ध अपनी आवाज बुलंद करने लगी हैं। इस संदर्भ में विमल थोरात लिखती हैं, "तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री, दग्ध जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति में जाति, अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी से मुक्ति के लिए तीखा तेवर अपना रही है। ...अपनी रचनाओं में वह दलित स्त्री के प्रति सवर्ण पुरुष की भोगवादी दृष्टि को बदलने का संकल्प भी लेती है और गाँव-देहात, जंगल-वनों, पहाड़ों में रहने वाली श्रमिक दलित स्त्री को आत्म सजग बनाने की पहल कर चुकी है। वह स्त्री-पुरुष संबंधों की समतावादी व्याख्या करने के साथ ही दलित स्त्री के तिहरे शोषण की त्रासदी की अभिव्यक्ति द्वारा दलित स्त्री के प्रति नारी मुक्ति आंदोलन के संकीर्ण मध्यवर्गीय नजरिये को भी कुछ हद तक बदलने में कामयाब हो रही है।"[2]

विमल थोरात के अनुसार दलित स्त्रीवाद शहर से लेकर गाँवों-पहाड़ों तक में रहने वाली श्रमिक महिलाओं के शोषण को स्वर प्रदान कर रहा है। एक तरफ वह महिलाओं पर होने वाले जातिगत, लैंगिक एवं आर्थिक आधार पर होने वाले शोषण का विरोध करता है तो दूसरी तरफ वह स्त्री पुरुष संबंधों की समतावादी व्याख्या भी करता है। वह दलित स्त्रीवाद का प्रमुख उद्देश्य स्त्री मुक्ति आंदोलन की मध्यवर्गीय दृष्टि से मुक्ति में भी देखती हैं। वह स्त्रीवाद के संकीर्ण दृष्टिकोण के दायरे को विस्तृत बनाने के लिए भी दलित स्त्रीवाद को आवश्यक मानती हैं।

विमल थोरात स्त्रीवाद के साथ-साथ दलित विमर्श के विचार-फलक को भी उदार बनाने के लिए, दलित स्त्रीवाद को आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार "दलित स्त्री अब दलित वर्ग के भीतर की पितृसत्ता के खिलाफ भी गोलबंद हो रही है। उसके अस्मिता का संघर्ष दोहरा, तिहरा और मुक्ति की तलाश अधिक जटिल

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 10

[2] वही, पृ. सं. 10

है। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर की वैचारिकी को केंद्र में रखकर उसकी रचनात्मक पहल से निर्मित सोच ऐसे दिगंत की चाहना रखती है, जो असीम और पूरी तरह से खुला हो । गौतम बुद्ध, ज्योतिबा, सावित्रीबाई फुले और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी से प्रेरित दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर समतामूलक समाज रचना के लिए प्रतिबद्ध है।"[1]

दलित स्त्रीवाद की वैचारिकी को वह बुद्ध, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले और अम्बेडकर के विचारों से प्रेरित मानती हैं। समकालीन स्त्रीवाद पर जहाँ पश्चिमी विचारकों का ज्यादा प्रभाव दिखाई देता है वहीं दलित स्त्रीवाद अम्बेडकर के विचारों से मुख्य रूप से प्रेरणा ग्रहण करता है। ऐसा स्पष्ट करते हुए वह समकालीन स्त्रीवाद को सर्वथा अप्रासंगिक नहीं मानती। वह स्त्रीवाद के योगदान को स्वीकार करती हैं, परंतु वह स्त्रीवाद के दलित-स्वर को इसमें शामिल करना जरूरी मानती हैं। उनके अनुसार "नारीवादी आंदोलन में लिंग के आधार पर स्त्री के होने वाले शोषण से मुक्ति का आह्वान करते हुए उनमें सामूहिक चेतना का विकास भी चाहा है। पुरुष सत्ता से अलगाव कर अपनी स्वायत्तता को हासिल करना नारीवाद का दृढ़ संकल्प है।"[2] स्त्रीवाद के महत्त्व को स्वीकार करते हुए वह इसी संदर्भ में आगे लिखती हैं, "मेरी राय में बहनापे की आपसी समझ और समन्वय से ही यह संभव होगा जिसके लिए निरंतर प्रयासों की भी आवश्यकता है। लेकिन जाति-वर्ण के आधार पर उत्पीड़ित स्त्री जो दलित और आदिवासी जन्मना अछूत और परिवेश के आधार पर दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ दी गई है उसके परिवेशगत, संस्कृतिगत और जातिगत शोषण को भी नारीवाद द्वारा रेखांकित करके संघर्ष के मुद्दों में शामिल करना पड़ेगा, तभी तिहरे शोषण की समाप्ति का कोई आसार नज़र आएगा।"[3]

विमल थोरात 'अंतर्राष्ट्रीय बहनापे' की भावना के विकास के साथ दलित स्त्रियों के साथ होने वाले तिहरे शोषण का प्रतिवाद भी स्त्रीवाद के लिए आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार यही दलित स्त्रीवाद की सार्थकता है कि वह लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव के साथ जातिगत और आर्थिक आधार पर किए

---

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 10

[2] वही, पृ. सं. 85

[3] वही, पृ. सं. 85

जाने वाले शोषण को भी प्रस्तुत कर रहा है एवं उसका प्रतिवाद भी कर रहा है। विमल थोरात स्त्रीवाद के 'अंतर्राष्ट्रीय बहनापे' के विचार को दलित महिलाओं तक विस्तृत करने की बात प्रमुखता से रखती हैं। उनके अनुसार "नारीवाद को दलित आदिवासी नारी उत्पीड़न को खत्म करने के लिए इस विमर्श के माध्यम से वृहत्तर बहनापे की संकल्पना करना पड़ेगा अन्यथा मध्यवर्गीय स्त्री की समस्याओं तक इसके सीमित होने का खतरा मोल लेना पड़ सकता है।"[1]

विमल थोरात का स्पष्ट मानना है कि दलित और आदिवासी स्त्री के प्रश्न को समकालीन स्त्रीवाद को यथोचित स्थान प्रदान करना आवश्यक है। इसके अभाव में स्त्रीवाद का वृहत्तर बहनापे की भावना के विकास का लक्ष्य अधूरा रह जायेगा एवं स्त्रीवाद सिर्फ मध्यवर्ग की महिलाओं की चिन्ता तक ही सीमित रह जायेगा। दलित स्त्रीवाद समाज के समस्त शोषित एवं वंचित स्त्री के कल्याण की भावना को केंद्र में रखकर चलना आवश्यक मानता है।

दलित स्त्रीवाद के प्रमुख पहलू :

जाति के आधार पर होने वाले शोषण को दलित स्त्रीवाद सर्वप्रमुख समस्या मानता है। दलित स्त्रीवाद के समर्थक मानते हैं कि एक स्त्री के साथ होने वाले शोषण के पीछे एक प्रमुख वजह उसका स्त्री होने के साथ जाति से दलित होना भी है। विमल थोरात ने लिखा है, "भूमंडलीकरण और निजीकरण के इस दौर में स्त्री-देह को भोगवस्तु के रूप में इस्तेमाल करने और चमकते चाँदी के टुकड़े बटोरने की होड़ में सबसे अधिक हमला हाशिए की स्त्री की देह पर ही होता है।"[2] दलित महिलाओं के असुरक्षित होने के पीछे भी वह प्रमुख वजह जाति को ही मानती हैं। जाति के कारण संपूर्ण स्त्री को एक जाति के रूप में मानने वाली विचारधारा भी निरर्थक साबित हो जाती है। विमल थोरात इस संदर्भ में स्पष्ट लिखती हैं, "दलित महिलाओं को वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं है जो आज सवर्ण महिलाओं को जाति के आधार पर परंपरागत रूप से प्राप्त है।"[3]

---

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 85

[2] वही, पृ. सं. 85

[3] वही, पृ. सं. 92

इसी कारण वह दलित स्त्रीवाद को आवश्यक मानती हैं। उनका मानना है कि सवर्ण स्त्रियों की दृष्टि में आज भी दलित स्त्री हेय ही है। ऐसा पितृसत्ता के साथ जातिगत श्रेष्ठता के विचारों के कारण ही है। वह इसे कई स्त्रीवादियों की सोच की सीमा भी मानती हैं। उनके अनुसार "सवाल संस्कृति के वर्चस्व का है, जिसे छोड़ना बहुत मुश्किल लगता है क्योंकि उस से मिलने वाली सुरक्षाएँ, सुविधाएँ अनगिनत हैं, उन्हें भला कैसे कोई छोड़ दें ? सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि जो जीवन दलित महिलाओं के हिस्से में आया है, उसकी कल्पना भी जिन्हें न हो, उसकी संवेदनाएँ दलित महिलाओं के साथ कैसे जुड़ेंगी ?"[1]

संस्कृति के वर्चस्व एवं जाति के साथ-साथ विमल थोरात यहाँ एक प्रमुख प्रश्न वर्ग का उठाती हैं। दलित महिलाओं एवं सवर्ण महिलाओं के वर्ग में भी अंतर देखती हैं। इसकी वजह से भी दलित महिलाओं के वास्तविक कष्टों एवं पीड़ा को समझना सुसंस्कृत महिला विचारकों के लिए मुश्किल है। विमल थोरात यह स्पष्टतः मानती हैं कि महज दलित होने से ही दलित स्त्रियों को कई सारी ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जो दलितेतर महिलाओं को नहीं करना पड़ता। उनके अनुसार "दलित महिलाओं की कुछ समस्या ऐसी हैं जो आम महिलाओं की समस्याओं से अलग नहीं, किन्तु दूसरी ओर कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो केवल उनकी ही हैं और इसलिए हैं क्योंकि वे दलित हैं। "[2]

इसी संदर्भ में वह दलित महिलाओं के आर्थिक प्रश्न को भी उठाती हैं। उनका मानना है कि दलित महिलाओं का शोषण, उनकी आर्थिक स्थिति का परिणाम है। विमल थोरात लिखती हैं, "भारतीय समाज में आर्थिक रूप से कमजोर तबका शायद दलित महिला का ही है। उनकी आर्थिक स्थिति पर यदि गौर करें तो वह सबसे निचले पायदान पर नज़र आती है। देहातों में सबसे अधिक कामगार मजदूर दलित महिलाएँ ही हैं।"[3]

विमल थोरात के अनुसार दलित महिलाओं की खराब आर्थिक स्थिति के पीछे मुख्य वजह उनका दलित होना है। दलित महिलाओं को ऐसी जगहों पर ज्यादातर काम करना पड़ता है जहाँ सबसे कम मजदूरी मिलती है। साथ ही इसके

---

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 92-93

[2] वही, पृ. सं. 94

[3] वही, पृ. सं. 44

लिए नियमित काम की संभावनाएँ भी बहुत कम होती हैं। इन्हें ज्यादातर मैला ढोने जैसे निष्कृटतम काम भी करने पड़ते हैं। इससे अन्य जगहों पर काम मिलने की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। यह भी इनके आर्थिक स्तर को प्रभावित करता है। विमल थोरात इस समस्या की पहचान करती हुई लिखती हैं, "दलित महिलाओं की एक बड़ी संख्या मैला ढोने के उस पेशे से जुड़ी हैं जिसे इंसानों के करने लायक नहीं माना जा सकता। ऐसे निम्न और घृणित कामों को करके रोजी-रोटी कमाने के कारण दलित महिलाओं को अन्य कोई काम मिलने में कठिनाई तो होती ही है, उन्हें निरंतर सामाजिक संबंधों में भी भेदभाव झेलने को विवश होना पड़ता है।"[1]

विमल थोरात दलित स्त्रियों के साथ होने वाले इस भेदभाव को उनके साथ होने वाले सामाजिक भेदभाव का भी कारण मानती हैं। यह हमारे समय और समाज की एक घृणित सच्चाई है। इससे सामाजिक स्तर पर भेदभाव होने के साथ-साथ दलित महिलाओं के मानसिक स्तर पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जातिगत हीनता का भाव दलित महिलाओं की सोच में शामिल हो जाता है। इससे उबरना जीवन-पर्यंत उनके लिए मुश्किल हो जाता है। दलित स्त्रीवाद उनके मानवीय जीवन के बुनियादी पहलुओं को प्रस्तुत कर उस पर विचार करने की अपेक्षा समस्त समाज से रखता है।

विमल थोरात दलित महिलाओं के शैक्षिक विकास का न होना, दलित महिलाओं की हीन स्थिति का एक बड़ा कारण मानती हैं। उनके अनुसार "दलित महिलाओं का शैक्षिक विकास न होना एक दूसरी समस्या है। सन् 1991 में कुल दलित महिलाओं में केवल 23.7 प्रतिशत शिक्षित थीं। देहाती इलाकों में दलित महिलाओं में शिक्षा का प्रतिशत जहाँ 19.46 प्रतिशत था, सामान्य जनसंख्या में यह प्रतिशत 30.62 प्रतिशत था। इसी तरह का भेदभाव कस्बाई इलाकों में दिखाई पड़ता है। वास्तव में कस्बों में दलित महिलाओं में शिक्षा का प्रतिशत भारतीय समाज के किसी भी समुदाय की तुलना में सबसे कम था।"[2] शिक्षा का समुचित लाभ न मिल सकने के कारण दलित स्त्री, मुक्ति के प्रश्नों से जुड़ नहीं पातीं। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि भेदभाव को भी उन्हें सहज स्वीकार कर लेना पड़ता है। इससे वह सामाजिक स्तर पर पिछड़ती चली जाती हैं तथा साथ गरीब

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं 94 - 95

[2] वही, पृ. सं. 95

बने रहने को अभिशप्त होना पड़ता है। शिक्षा के कम प्रतिशत के अलावा, स्कूलों से पढ़ाई छोड़ने वालों में भी दलित लड़कियों का प्रतिशत बहुत अधिक है। जो न सिर्फ दलित समुदाय के लिए बल्कि समस्त समाज के लिए भी चिन्ता का विषय है।

दलित महिलाओं को लगातार हिंसा एवं नृशंसता का शिकार होना पड़ता है। इन्हें अत्यंत दयनीय जीवन जीने को मजबूर होना पड़ता है। इस संदर्भ में विमल थोरात लिखती हैं, "अधिकांश दलित महिलाएँ खेतिहर मजदूर हैं जो बहुत कम मजदूरी पर कार्य करती हैं। हर रोज बेरोजगारी का सामना करना आम बात है। साक्षरता और शिक्षा के अभाव में जीने के लिए उन्हें मजदूरी करनी पड़ती है। गाँव और कस्बों में दोनों जगह एक-सी स्थिति है। नीची जाति के होने तथा आर्थिक रूप से उच्च जाति के धनवानों पर आश्रित होने के कारण उन्हें बलात्कार और हर तरह की हिंसा का शिकार होना पड़ता है। वे सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाज की भी शिकार बनती हैं।"[1]

विमल थोरात जातिगत भेदभाव के साथ ही आर्थिक एवं शैक्षिक कारणों को दलित महिलाओं के शोषण की प्रमुख वजह मानती हैं। उनके अनुसार शैक्षिक विकास के कार्यक्रम के साथ ही श्रमिक महिलाओं की आर्थिक स्वायत्तता के कार्यक्रमों का होना बहुत जरूरी है। विमल थोरात का स्पष्ट मानना है कि दलित स्त्री की मुक्ति के बिना न ही हमारा समाज आधुनिक हो सकता है और न ही लोकतांत्रिक। समाज का कोई भी तबका जब तक उत्पीड़ित रहेगा तब तक सामाजिक विकास अवरूद्ध ही रहेगा। आधुनिक समाज का सपना देखने वालों का यह दायित्त्व है कि वह समाज के सबसे आखिरी पायदान पर पड़े समुदाय को मानवीय गरिमा प्रदान करें। विमल थोरात इस बात को बहुत दुर्भाग्यपूर्ण मानती हैं कि दलित स्त्री की समस्या अभी तक हमारे सोच का हिस्सा ही नहीं बन पाया है। उनके अनुसार "इक्कीसवीं सदी में पहुँचे आधुनिक समाज की चिन्ता का यह विषय ही नहीं बना कि जिनके श्रम के बूते वह प्रगति पर इतरा रहा है उनका जीवन कैसा है ? किसी भी समुदाय के जेहन में दलित स्त्री के उत्पीड़न और अत्याचार की तस्वीर मानव अधिकारों के हनन और अपमान के रूप में नहीं उभरती। जातिवादी समाज-व्यवस्था में इस दयनीय स्थिति के प्रति किसी प्रकार की संवेदना नहीं

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं 96

जागती आभिजात्यों के अमानवीय रवैयों पर किसी को न तो गुस्सा आता है और न ही जातिगत उत्पीड़न, सांप्रदायिक, सांस्कृतिक दबाव, तनाव को रोकने, खत्म करने का कोई सामूहिक प्रयास दिखाई देता है।"[1]

दलित स्त्रीवाद इन गंभीर सवालों एवं चुनौतियों की तरफ वृहत्तर समाज का ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश कर रहा है । विमल थोरात जातिवादी समाज-व्यवस्था को समाप्त करने के साथ दलित स्त्री के साथ विभिन्न स्तर पर होने वाले शोषण को भी समाप्त करने की समर्थक हैं । उनके अनुसार तभी हमारा समाज बेहतर तरीके से विकास कर सकता है और मानवीय गरिमा को समाज के केंद्र में स्थापित किया जा सकता है।

2.3.2 अनिता भारती

अनिता भारती का नाम उन कुछ प्रमुख आलोचकों में गिना जाता है, जिन्होंने दलित स्त्रीवाद के विभिन्न पहलुओं पर गहनता से विचार किया है । अनिता भारती ने दलित स्त्रीवादी दृष्टि से सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही स्तर पर विचार किया है।

दलित स्त्रीवाद की अवधारणा :

अनिता भारती का मानना है कि हिन्दी का समकालीन स्त्रीवाद स्त्रियों को संपूर्णता में अब तक विश्लेषित नहीं कर पाया है। भारत का स्त्रीवाद सीमित अर्थों में ही विचार करता है। उनके अनुसार "भारत में अब तक नारीवादी आंदोलनों और उनकी वैचारिकी का प्रतिनिधित्व हमेशा आभिजात्य और शिक्षित सवर्ण महिलाओं का ही रहा है। इस वजह से भारतीय नारीवाद यहाँ की स्त्रियों की समस्याओं की पहचान और उन्हें सुलझाने का प्रयास मूलतः पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होकर करता रहा है।"[2]

अनिता भारती भारतीय स्त्रीवाद एवं प्रकारांतर से हिन्दी के स्त्रीवाद की असफलता के पीछे उक्त वजहों को मानती हैं। उनके अनुसार एक तो आंदोलन का

---

[1] विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ. सं. 109

[2] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 8

नेतृत्व आभिजात्य एवं सवर्ण महिलाओं के हाथ में रहा और दूसरा उन्होंने अधिकांशतः पश्चिम के स्त्रीवादी सिद्धांतों के आधार पर भारत में स्त्री की अस्मिता और अस्तित्व के सवाल पर विचार किया। इस कारण भारत का स्त्रीवाद जाति के आधार पर होने वाले स्त्री-शोषण को समझ नहीं पाया। अनिता भारती इस संदर्भ में लिखती हैं, "एक तल्ख हकीकत, जिसे यहाँ के नारीवादी स्वीकारना नहीं चाहते वह है भारत की जाति-व्यवस्था और उसमें बँटी औरतें। वे यहाँ तक तो मानने को तैयार हैं कि औरतें वर्गों में बँटी हैं, पर यह मानने को कतई तैयार नहीं हैं कि औरतें जातियों में बँटी हैं। दलित नारीवाद का मानना है कि भारतीय संदर्भों में सभी औरतें एक मुकम्मल वर्ग के रूप में नहीं हैं, बल्कि वे जातियों में बँटी हैं। इसलिए उनकी समस्याएँ और मुद्दे भी अलग-अलग हैं।"[1]

औरतों के जातियों में विभाजित होने की सच्चाई को वह वर्गों में बँटे होने की सच्चाई से बड़ी मानती हैं। अनिता भारती का मानना है कि दलित स्त्रियाँ वर्ग की परिधि में अपनी मुकम्मल पहचान नहीं बना पातीं। इसलिए दलित स्त्रियों की न सिर्फ समस्याएँ बल्कि संघर्ष के मुद्दे भी अन्य समुदाय की स्त्रियों से अलग हैं। अनिता भारती दलित स्त्रीवाद की चिन्ता को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं, "दलित-नारीवाद मानता है कि दलित स्त्री के प्रति भेदभाव या उसकी हीन स्थिति और उत्पीड़न का कारण उसका दलित व स्त्री होना है। जबकि अन्य स्त्रियों के साथ स्त्री होना ही काफी है। दलित स्त्री होने के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा सामाजिक हिंसा का क्रूरतम रूप उसके खिलाफ निकलकर आता है।"[2]

इस प्रकार दलित स्त्रीवाद की मान्यता है कि दलित स्त्री का शोषण एवं उस पर अत्याचार महज स्त्री होने से ही नहीं होता बल्कि जाति इसमें मुख्य भूमिका निभाती है। दलित वर्ग से आने वाली स्त्रियों को किसी भी तरह का अधिकार प्राप्त नहीं होता। इसलिए उनके अधिकारों का दोहन एवं उन पर सामाजिक एवं शारीरिक अनाचार बहुत ही आसानी से किया जा सकता है। भारतीय स्त्रीवाद औरतों के खिलाफ होने वाले घरेलू हिंसा को बहुत ही मजबूती के साथ उठाता है। घर के अंदर होने वाले अत्याचारों को भारतीय स्त्रीवाद औरतों की सबसे बड़ी समस्या मानता है परंतु वह जाति के आधार पर स्त्रियों के खिलाफ होने वाले

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 9

[2] वही, पृ. सं. 9

सामाजिक हिंसा को उसी मजबूती से स्वर नहीं प्रदान कर पाया है। ऐसे में कई बार 'देह-विमर्श' स्त्रीवादी चिन्ता और चिंतन के केंद्र में आ जाता है। अनिता भारती ने इस संदर्भ में लिखा है, "...धीरे-धीरे पूरा महिला आंदोलन, महिला साहित्य और उसकी सोच सामाजिक पहलू से टकराकर या तो स्त्री के घरेलू और यौन उत्पीड़न के एकांगी दृष्टिकोण में सिमट गई या फिर 'मैं और मेरी मुक्ति' में कैद हो गई। घरेलू हिंसा पर बात करना, खासकर पति का अत्याचार मुख्य विषय बन गया। देह विमर्श के सामाजिक पक्ष की पूर्ण अवहेलना की गई। स्त्री देह का उत्पीड़न और शोषण केवल यौन संदर्भों तक सीमित रहा।"[1]

अनिता भारती स्त्रियों पर होने वाले यौन शोषण की सच्चाई को स्वीकार करती हैं। परंतु उसके सामाजिक पक्ष को स्त्रीवाद द्वारा अनदेखा किए जाने से निराश हैं। यौन शोषण से मुक्ति स्त्री के लिए व्यक्तिगत प्रश्न के साथ सामाजिक प्रश्न भी है। यह तो ज्ञात तथ्य है कि सबसे ज्यादा दैहिक शोषण दलित महिलाओं का ही होता है। दलित महिलाओं के दैहिक शोषण का सवाल 'देह विमर्श' के संकुचित दायरे में नहीं समा सकता। जाति का प्रश्न यहाँ प्रमुख बन जाता है।

अनिता भारती दलित स्त्रीवाद की आवश्यकता इसलिए भी जरूरी समझती हैं ताकि दलित महिलाओं की मजदूरी का सवाल भी ठीक से उठाया जा सके। अनिता भारती के अनुसार "हाशिये पर जीने वाले निचले सामाजिक तबकों में दलित महिला होने के कारण उसके वेतन, मजदूरी आदि कम मिलने या बेगारी करवाने जैसे सवालों की अनदेखी की गई। मजदूरी का सवाल कथित मुख्यधारा से जुड़े संदर्भों तक सीमित रहा।"[2] दलित स्त्री के लिए मजदूरी का सवाल ज्यादा बड़ा सवाल है। दलित तबके की स्त्री होने के कारण एक तो उन्हें सम्मानीय काम नहीं मिलता दूसरे उन्हें पहले से ही बेगार मान लिया जाता है। इस तरह दलित स्त्रियाँ आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो पातीं और उनके शोषण का रास्ता बहुत आसान हो जाता है। दलित स्त्रीवाद दलित स्त्री के इन सारे सवालों को आत्मसात कर, उन पर विचार करने की माँग करता है।

अनिता भारती के अनुसार दलित स्त्रीवाद दलित स्त्री पर होने वाले चौतरफा-शोषण के विरूद्ध आवाज उठाता है। वह लिखती हैं, "समाज में सबसे

---

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 11

[2] वही, पृ. सं. 10

निम्नतर स्थिति में खड़ी दलित स्त्री की लड़ाई आज चौतरफा है, क्योंकि उस पर आक्रमण भी चौतरफा हो रहे हैं। आज भी दलित स्त्री अपनी इंसानी गरिमा और अधिकारों से वंचित हैं। जहाँ एक ओर उसकी लड़ाई अपने सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक और मानवीय अधिकारों को प्राप्त करने की है वहीं दूसरी ओर उसकी लड़ाई अपनी अस्मिता बचाए रखने की भी है।"[1]

दलित स्त्रीवाद दलित विमर्श के अंतर्विरोधों को भी खुलकर सामने रखता है। दलित होने मात्र से ही वह दलित पुरुषों द्वारा किए जाने वाले भेदभाव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। अनिता भारती यह सवाल उठाती हैं कि दलित महिलाएँ सामाजिक हिंसा के साथ-साथ क्या घरेलू हिंसा की शिकार नहीं होतीं ? क्या घरेलू हिंसा की शिकार सिर्फ सवर्ण महिलाएँ ही होती हैं ? वह यह स्वीकार करती हैं कि दलित महिलाएँ ज्यादातर सामाजिक हिंसा की शिकार होती हैं परंतु घरेलू हिंसा भी उन्हें झेलना पड़ता है। दलित पुरुष रचनाकार फिर इस समस्या को अपनी रचनाओं में स्थान क्यों नहीं दे पाते। अनिता भारती के अनुसार दलित पुरुष रचनाकार दलित आंदोलन के बँट जाने का तर्क देकर, इस प्रश्न से मुकर जाते हैं। अनिता भारती इस संदर्भ में लिखती हैं, "एक तो यह कि हमारे साहित्यकार दलित महिला पर अपना कब्जा काबिज रखना चाहते हैं, दूसरे वे नहीं चाहते कि दलित स्त्रियाँ अपनी पीड़ा किसी से बाँट पाएँ। ये दलित महिलाओं के अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष से आँखें मूंदकर उसे अपनी आदर्श अनुगामिनी के रूप में तो अपने साथ रखना चाहते हैं। पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करने के लिए कतई तैयार नहीं हैं।"[2]

दलित स्त्रीवाद, दलित स्त्री के ऊपर आरोपित हर प्रकार के वर्चस्ववादी विचार को चुनौती देता है। दलित-विमर्श की असफलता को भी वह सामने रखता है। पितृसत्ता का विरोध हर रूप में जरूरी है। जितनी आवश्यकता ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के विरोध की है, उतनी ही जरूरत दलित पुरुषों की पितृसत्तात्मक सोच को भी चुनौती देना है। अनिता भारती के अनुसार दलित विमर्श की सार्थकता स्त्री-प्रश्नों के अभाव में अधूरी है। उनका स्पष्ट मानना है कि "इस तरह के संकीर्णतावादी साहित्यकार वास्तविक रूप में न तो अम्बेडकर को मानते हैं और न ही उनकी

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 146

[2] वही, पृ. सं. 147

विचारधारा को ।... ये साहित्यकार दलितों को वापस मनुस्मृति काल में ले जाना चाहते हैं ।"[1]

दलित स्त्रीवाद के प्रमुख प्रश्न :

अनिता भारती दलित स्त्रीवाद के अंतर्गत देह की स्वतंत्रता को अंतिम मुद्दा मानती हैं । उनका मानना है कि आर्थिक प्रश्न दलित स्त्री के लिए ज्यादा महत्त्व रखता है । उन्होंने इस संदर्भ में लिखा है, "दलित स्त्री की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता, उसकी समानता और आर्थिक पक्ष से जुड़ी हुई है । पहला सवाल उसका इंसान होने की गरिमा और रोजी-रोटी का है, देह का मुद्दा उसके लिए अंतिम मुद्दा है । देह का सवाल काफी हद तक व्यक्तिगत है । दलित स्त्रियों के मुद्दे खुद के नहीं, समाज के हैं, क्योंकि पूरा का पूरा दलित स्त्री समाज उत्पीड़न, शोषण और असमानता का शिकार है । खेतों में, खलिहानों में, फैक्ट्रियों, दफ्तरों में, स्कूलों में आर्थिक रूप से मजबूत होने पर भी उसका शोषण बंद नहीं होता, इसलिए 'स्त्री देह मुक्ति' का मुद्दा संभ्रांत व अतिशिक्षित उच्च घरानों की स्त्रियों का 'सेल्फ' की आजादी से जुड़ा है । गरीब दलित औरत के लिए स्त्री देह की स्वतंत्रता से अधिक उसके जल-जंगल, जमीन, इज्जत, रोजगार और आत्मनिर्भरता महत्त्वपूर्ण हैं ।"[2]

दलित स्त्रीवाद स्त्री देह की स्वतंत्रता से ज्यादा महत्त्व दलित स्त्री की समानता एवं आर्थिक आजादी को देता है । यह बात महत्त्वपूर्ण है परंतु अनिता भारती का यह उद्धरण थोड़ा उलझा हुआ प्रतीत होता है । एक तरफ वह आर्थिक आजादी को महत्त्वपूर्ण मानती हैं वहीं दूसरी तरफ वह आर्थिक रूप से मजबूत दलित स्त्री को भी शोषण से मुक्त नहीं मानतीं । देह की आजादी का मुद्दा उनके लिए व्यक्तिगत प्रश्न है परंतु पितृसत्ता और पूँजीवादी व्यवस्था में स्थिति इसके विपरीत है । 'स्त्री-देह' सामंती एवं पूँजीवादी, दोनों ही व्यवस्था में पुरुषवादी सोच की निर्मिति है । इस निर्मिति से टकराना दलित स्त्रीवाद के लिए भी जरूरी है । स्त्रीवाद हो या दलित स्त्रीवाद दोनों के लिए स्त्री का देह मात्र से व्यक्ति में रूपांतरण, स्त्री की गरिमा को स्थापित करने के लिए आवश्यक है । इसके अभाव में समानता का दर्जा मिलना एक स्त्री के लिए मुश्किल है । स्त्री देह का सवाल सबसे अह्म मुद्दा न होकर भी त्याज्य नहीं हो सकता । अनिता भारती ने स्वयं लिखा है, "ब्राह्मणवाद और

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 148

[2] वही, पृ. सं 151

बाजारवाद समाज के उस खोटे सिक्के के दो पहलू हैं, जिनके बीच में फँसकर स्त्री मात्र उपभोग की तुच्छ वस्तु बनकर रह गई है।"[1]

किसी स्त्री का उपभोग की वस्तु मात्र में परिवर्तित हो जाना किस आधार पर संभव है ? निश्चित रूप से वस्तु या कमोडिटी बनने के केंद्र में स्त्री का देह ही होता है। इसलिए एक स्त्री को वस्तु की अवधारणा से मुक्त कर एक व्यक्ति या इंसान के रूप में उसे स्थापित करना भी स्त्रीवाद का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। सम्पूर्ण मुख्यधारा के स्त्री विमर्श को देह विमर्श तक सीमित करके देखना भी एक अतिरंजित दृष्टि है।

यह किंचित सही प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान या हिन्दी का स्त्रीवाद आम स्त्रियों के सवालों से अपेक्षित रूप में नहीं जुड़ पाया है। अनिता भारती भारतीय स्त्रीवाद की असफलता के पीछे इसे एक बड़ा कारण मानती हैं। उनके अनुसार "गरीब दलित वर्ग की महिलाओं और उनके साथ जमीन पर उनके हकों व उनके संघर्ष तथा उनके वास्तविक हालात से सीधा जुड़ाव न होने के कारण हमारी लेखिकाओं व तथाकथित स्त्रीवादी लेखकों के पास देह विमर्श करने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं बचता।"[2] दलित स्त्रीवाद, स्त्रीवादियों से आग्रह रखता है कि वे स्त्रियों एवं दलित स्त्रियों की समस्याओं के साथ जमीनी तौर पर जुड़ें। आज जहाँ साहित्य की जनता से दूरी बढ़ती ही जा रही है, वहाँ साहित्यकारों और विचारकों से यह अपेक्षा रखना, बेहद सराहनीय प्रतीत होता है।

दलित स्त्रीवाद, मुख्यधारा के स्त्रीवादियों के साथ दलित चिंतकों पर भी प्रश्न खड़े करता है। अनिता भारती के अनुसार "आज दलित स्त्रियों पर आक्रमण चौतरफा है तो उसकी लड़ाई भी चौतरफा है। इसलिए दलित महिलाओं की लड़ाई अपने दलित समाज से भी है। आज दलित महिलाएँ दलित समाज में बराबरी के साथ-साथ बाकी समाज से भी बराबरी चाहती हैं।"[3] अनिता भारती यह सवाल बहुत गंभीरता से उठाती हैं कि दलित मुक्ति के प्रश्न में दलित महिलाएँ क्यों पीछे छूट गईं। इस संदर्भ में वह यह सवाल उठाती हैं कि अम्बेडकर के समय दलित महिलाओं का आंदोलन इतना मजबूत होने के बावजूद, बाद में पिछड़ कैसे गया ?

---

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं 249

[2] वही, पृ. सं. 247-248

[3] वही, पृ. सं. 294

अम्बेडकर की प्रेरणा से 1920 से आरंभ हुए दलित आंदोलन में दलित महिलाओं की भागीदारी बढ़ती गई। 25 दिसंबर 1927 को चावदार तालाब के महाड़ सत्याग्रह में ढाई हजार दलित औरतें 'मनुस्मृति दहन' में शामिल थीं। ऐसे ही कई उदाहरण हैं। अनिता भारती इस संदर्भ में लिखती हैं, "अम्बेडकर के समय चला दलित महिला आंदोलन 56 के बाद एकदम रूका क्यों नजर आने लगा ? वह वास्तव में रूका था या दलित आंदोलन की कमी थी जो वह दलित महिलाओं के आंदोलन व उनके मुद्दों को उचित जगह नहीं दे पाया। ...इसमें कोई शक नहीं कि दलित आंदोलनों में भी अन्य आंदोलनों की तरह दलित स्त्री को बराबरी की हिस्सेदारी देने में नाकाम रहा।"[1]

दलित स्त्रीवाद गैर दलित परंपराओं एवं आंदोलनों के साथ-साथ दलित परंपरा और आंदोलनों की समीक्षा भी आवश्यक मानता है। एक तरफ बुद्धकाल का इतिहास है। जब भिक्षुणियों के स्वतंत्र संघ बने। दूसरी तरफ ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले आदि की परंपरा है। इन सबसे प्रेरणा लेकर विचार और सामाजिक धरातल पर स्त्रियों के लिए आंदोलन खड़े करने वाले अम्बेडकर की परंपरा है। इसके साथ अम्बेडकर के बाद चले दलित आंदोलन हैं जहाँ दलित स्त्रियों को पर्याप्त स्थान नहीं मिला। इन सबकी समीक्षा दलित स्त्रीवाद आवश्यक मानता है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता, पूँजीवादी व्यवस्था की चुनौतियाँ भी इसके सामने है।

दलित स्त्रीवाद के सामने खड़ी चुनौतियों की पहचान इसके आलोचकों के सामने स्पष्ट है। अनिता भारती के अनुसार "आज दलित महिलाओं के सामने पितृसत्ता, जातिवाद, निरक्षरता, तंगहाली और पूर्वाग्रह चुनौतियों के समान खड़े हैं। यह पूर्वाग्रह समाज से लेकर साहित्य व आंदोलन से लेकर वैचारिक धरातल पर बिखरे पड़े हैं।"[2] अनिता भारती का मत स्पष्ट है कि लड़ाई जितनी बाहर है उतनी ही अंदर है। 'दलित महिलाओं के सामने दलित पितृसत्ता भी एक गंभीर चुनौती है।'[3] अनिता भारती के अनुसार दलित साहित्यकार एक तरफ आजादी और मुक्ति का स्वप्न साकार करने के लिए प्रयासरत हैं तो वहीं दूसरी तरफ उन्हीं मूल्यों के

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 294

[2] वही, पृ. सं. 294

[3] वही, पृ. सं. 295

खिलाफ दलित स्त्री को परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ना चाहते हैं। इसलिए दलित महिलाओं को दलित पितृसत्ता का भी संगठित रूप में विरोध करना जरूरी है।

अंततः प्रगतिकामी सामाजिक या साहित्यिक आंदोलन का स्वप्न मुक्त एवं बराबरी का समाज बनाने का ही होता है। इसके लिए समाज की अन्य साथी विचारधाराओं एवं संघर्षरत समूहों का भी सहयोग अपेक्षित होता है। दलित स्त्रीवाद भी इसे भली भांति समझता एवं स्वीकार करता है। बकौल अनिता भारती, "चौतरफे शोषण के खिलाफ लड़ने के साथ-साथ उसे अन्य महिला समूहों व विचारधाराओं के अलावा उसको अपने समाज-परिवार की मुक्ति के साथ खुद की मुक्ति और बराबरी की भी लड़ाई लड़नी है। इन सबके बीच वह कैसे इन सब मुद्दों पर अपना तालमेल बैठायेगी, यह भी चिंतन का विषय है।"[1]

इस प्रकार दलित स्त्रीवाद भी संपूर्ण समाज की मुक्ति का समर्थक है। वह कोई खंडित विमर्श न होकर सच्चे मुक्ति का समर्थक है। यह समाज के सबसे नीचले पायदान पर पड़ी दलित महिलाओं की मुक्ति में ही संपूर्ण समाज और राष्ट्र की मुक्ति देखता है। दलित महिलाओं की अनसुनी आवाजों को स्वर प्रदान करना, उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करना एवं अन्य वर्गों की तरह दलित महिलाओं को भी सामाजिक गरिमा प्रदान करना इसका उद्देश्य है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय में किये गए विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रीवाद को सिर्फ स्त्रियों तक सीमित करके नहीं देखा जाना चाहिए। सिर्फ स्त्रियों की समस्याओं और चुनौतियों को ध्यान में रखकर स्त्रीवाद पर विचार करना, गलत निष्कर्षों की तरफ ले जा सकता है। भारत में नवजागरण काल से सुधारवादी दृष्टि से ही सही परन्तु स्त्रियों की समस्याओं पर विचार-विमर्श आरम्भ हो गया था। ऐसा करने वाले अधिकांश समाज-सुधारक पुरुष थे। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि उनके प्रयासों को महज स्त्रियों तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता है। असल में वह पुरुषों के लिए भी एक बेहतर समाज बनाने के आकांक्षी थे। यह तो बहुस्वीकृत है कि कोई भी समाज स्त्री और पुरुष के आपसी सहयोग के बिना न प्रगति कर सकता है और न ही प्रगतिशील बन सकता है।

---

[1] अनिता भारती, समकालीन स्त्रीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ. सं. 296

स्त्रियों के मुद्दों पर तमाम तरीके से विचार होते रहने के बावजूद स्त्रीवाद के महत्त्व को कम करके नहीं देखा जा सकता। स्त्रीवाद ने अपनी उपस्थिति से हिन्दी साहित्य को रचना और आलोचना दोनों ही स्तर पर प्रभावित किया है। दलित विमर्श की ही तरह इसने हिन्दी आलोचना की कसौटियों और भाषा को गहरे तौर पर प्रभावित किया है। इससे हिन्दी अलोचना ज्यादा समावेशी और जिम्मेदार भी हुई है। अंततः हम यह कह सकते हैं कि स्त्रीवाद यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि लैंगिक-भेदभाव किसी भी समाज और उसके साहित्य के सहज विकास को अवरूद्ध करता है। स्त्रीवाद इस अवरुद्धता के विरुद्ध अपनी लोकतांत्रिक भूमिका को गंभीरता से निभाने का प्रयास कर रहा है।

तृतीय अध्याय

3.समकालीन हिन्दी आलोचना और आदिवासी विमर्श

आदिवासी साहित्य, हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्णतः समकालीन घटना है । आदिवासी आधारित लिखित साहित्य अब प्रकाश में आ रहा है । आदिवासियों का साहित्य इतिहास में लिखित रूप से अनुपलब्ध होने के कारण वाचिक परम्परा में ही दिखाई देता है। समकालीन दौर से पहले मौखिक साहित्य के माध्यम से ही आदिवासियों की संस्कृति का परिचय मिल पाता है। आदिवासियों के लोकगीत आदि की रचना जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को लक्ष्य करके रचे जाते थे। इस कारण उनके लोकगीत साहित्य के साथ-साथ इतिहास भी हैं । आदिवासी समाज का सामुदायिक जीवनानुभव ही उनके लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यंजित होता है । इस सन्दर्भ में आदिवासी विचारक रामदयाल मुण्डा लिखते हैं, "आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है, जिसके केंद्र में होते हैं एक साथ रहने वाले समुदाय के सामूहिक जीवन अनुभव । सामुदायिकता के वहन व निर्वहन की इसी विलक्षण क्षमता को ही आदिवासी साहित्य के काव्य-सृजन की रीढ़ कहा जा सकता है।"[1]

समकालीन दौर में आदिवासियों के सामूहिक-जीवन अनुभव को ही समाप्त करने की कोशिश दिखाई पड़ती है । आदिवासियों की संस्कृति ही आज खतरे में नज़र आ रही है। इससे न सिर्फ आदिवासी समुदाय अपने नृत्य और गीतों से दूर हुआ है बल्कि उसके सामुदायिक अनुभव की संस्कृति पर सवाल खड़ा हो गया है । विश्व भर में पूँजीवाद के उत्थान के साथ ही अपने ही जमीन से आदिवासियों की बेदखली की प्रक्रिया भी शुरू हुई। इससे आदिवासियों का जीवन लगातार संकट-ग्रस्त होता गया । इस कारण दुनिया भर में आदिवासियों की समस्याओं एवं चुनौतियों को ध्यान में रख कर साहित्य रचने का प्रयास शुरू हुआ । जिसे अलग-अलग देशों में अलग-अलग नामों से अभिहित किया गया । यूरोप और अमेरिका में इसे नेटिव अमेरिकन लिटरेचर, कलर्ड लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर और अफ्रीकन-अमेरिकन लिटरेचर के नाम से जाना गया । अफ्रीकन देशों में ब्लैक लिटरेचर और

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रामदयाल मुण्डा का लेख - 'अस्तित्व के लिए संघर्ष-आदिवासी साहित्य का मुख्य सरोकार', पृ. सं. 20

ऑस्ट्रेलिया में अबोरिजिनल लिटरेचर नाम दिया गया। अंग्रेजी में इसे इंडीजिनस लिटरेचर या ट्राइबल लिटरेचर कहा गया। भारत में इसे हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में सामान्यतः 'आदिवासी साहित्य' कहा जाता है। हिंदी में आज आदिवासी विमर्श एक सशक्त विमर्श के रूप में उभरा है। आज आदिवासी साहित्य और उस पर आधारित आलोचक हिंदी साहित्य को सुदृढ़ एवं व्यापक बना रहे हैं।

3.1 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है। आदिवासी साहित्य की अवधारणा के आधार पर ही आदिवासी साहित्य की विशिष्टता एवं आवश्यकता को स्पष्ट किया जा सकता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक है कि आदिवासी कौन है ? संयुक्त राष्ट्र ने अपने घोषणा पत्र में आदिवासी राष्ट्र या समुदाय को परिभाषित किया है। इसके अनुसार "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है, जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत अथवा अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने के पहले ही वहाँ रह रहे थे।"[1]

भारत में भी लगभग इसी अवधारणा को स्वीकार किया जाता है। आदिवासियों को यहाँ के मूल निवासी के रूप में स्वीकार किया जाता है। आर्यों के आगमन, ब्रिटिश शासन एवं पूँजीवादी व्यवस्था के प्रसार ने आदिवासियों को लगातार औपनिवेशिक स्थिति में निर्वासित करने का कार्य किया। इस संदर्भ में कुमार सुरेश सिंह का भी मानना है कि आदिवासी भारतीय भूभाग के प्राचीनतम निवासी हैं। उनके अनुसार "भारत के आदिवासी जो देश के विभिन्न दूरवर्ती क्षेत्रों में बसते हैं हमारे सबसे प्राचीन समुदाय हैं। भारतीय समाज एवं भारतीय संस्कृति को उनकी देन कई मायने में आधारभूत है।"[2] रामदयाल मुण्डा भी इस विचार का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार "...आदिवासी से हमारा तात्पर्य उन आर्येतर जातियों से है जिन्हें संस्कृत साहित्य में असुर, निषाद, दस्यु, वानर एवं राक्षस प्रभृत नामों से संबोधित किया गया है। ...आर्य जातियाँ जब भारत भूमि में आईं तो उन्हें

[1] उद्धृत, रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 52

[2] रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रस्तावना पृ. सं. 8

तथाकथित अनार्य जातियाँ यहाँ पहले से ही बसी मिलीं और क्योंकि उनके पहले के भारतीय निवासियों का पता अभी नहीं है, उन्हें ही आदिवासी, प्रथम निवासी कहना उपयुक्त होगा।"[1]

अर्थात् आदिवासी वह समुदाय है जो भारत में सर्वाधिक प्राचीन समुदाय है। सभ्यता के विकास के साथ जिसे समाज और सत्ता से दूर किया जाता रहा। ऐसे में मुख्यधारा से उसका जीवन और साहित्य भी अलग रूप में विकसित होता रहा। ऐसे में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को समझना एवं व्याख्यायित करना आवश्यक हो जाता है। आदिवासी समुदाय को हमेशा संघर्ष में रहना पड़ा है। प्रकृति के साथ-साथ सत्ता के साथ भी उसका संघर्ष अनवरत जारी रहा है। गंगा सहाय मीणा आदिवासी साहित्य को इसी संदर्भ में समझे जाने का निवेदन करते हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं, "आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गये और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के संकटों और उसके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।"[2]

अर्थात् आदिवासी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है जो आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा की भावना से प्रेरित है। गंगा सहाय मीणा आदिवासी साहित्य को परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप मानते हैं। उनके अनुसार आदिवासियों का जीवन संघर्ष ही साहित्य में रचनात्मक रूप से प्रकट हो रहा है। एक तरफ आदिवासी साहित्य जल, जंगल और जमीन को बचाने की मुहिम है तो दूसरी तरफ वह आदिवासियों पर वर्षों से चले आ रहे शोषण का प्रतिकार है। आदिवासी साहित्य मानवीय मूल्यों पर आधारित वह साहित्य है जो आदिवासियों की रक्षा के साथ शेष विश्व की बेहतरी के लिए भी प्रयासरत है।

रमणिका गुप्ता आदिवासी साहित्य को परिभाषित करती हुई लिखती हैं, "आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी-सह-अस्तित्व

---

[1] रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृ. सं. 8,

[2] गंगा सहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, पृ. सं. 9 (भूमिका)

का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेद-भाव, छल-कपट से दूर है। वह जमाखोरी या संपत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है। उसके साहित्य में इन्हीं सबकी अभिव्यक्ति है। जीवन की समस्याएँ और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है।"[1]

यहाँ आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख रमणिका गुप्ता करती हैं। जीवन की समस्याओं और प्रकृति से लगाव को वह आदिवासी साहित्य का आधार मानती हैं। आदिकाल से प्रकृति के साथ सखत्व और संघर्ष के माध्यम से ही आदिवासियों ने अपने जीवन को निर्मित और विकसित किया है। इसलिए आदिवासी जीवन से प्यार करने वाले समुदाय हैं। जीवन को वह एक उत्सव के रूप में स्वीकार करते हैं। अतएव ऊँच-नीच, भेद-भाव, छल-कपट एवं संपत्ति एकत्रित करने जैसी चीजों को वे महत्त्व नहीं देते। वे प्रकृति के साथ ही मानव जीवन का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इसलिए आदिवासी प्रकृति का मुनाफे के लिए दोहन के विरूद्ध होता है। संपत्ति में सबका समान अधिकार स्वीकार करता है। यही सारे विचार उनके साहित्य में भी प्रस्फुटित होते हैं। आदिवासियों का जीवन-दर्शन ही आदिवासी साहित्य का मूल है। वह प्रकृति के साथ मनुष्यों से भी प्यार करने वाले समुदाय हैं। उनका साहित्य भी उनके प्रेम के आदर्श को ही स्थापित करता है।

इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, "प्रेम और प्रकृति। यह वे दो स्थायी भाव है आदिवासी जीवन के जिन पर दो हजार सालों तक निरंतर रचनाएँ होती रहीं। असहमति और रचाव बचाव का जो साहित्य है, वह मात्र हाल के दो ढाई सौ सालों के दौरान रचा गया है।"[2] आदिवासी प्रकृति के साथ लोगों से भी प्रेम किए जाने के समर्थक हैं। प्रकृति के साथ-साथ सामुदायिकता के अभाव में भी आदिवासी, जीवन की कल्पना नहीं करते। इसलिए वंदना टेटे आदिवासी जीवन के इन दोनों बातों को महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित करती हैं। उनके अनुसार असहमति और रचाव बचाव का साहित्य बाद में विकसित हुआ। आदिवासी प्रेम और प्रकृति को संरक्षित करने के प्रयास में ही प्रतिरोध को महत्त्व देते हैं। आदिवासी साहित्य में

---

[1] गंगा सहाय मीणा (संपा.),, आदिवासी साहित्य विमर्श, रमणिका गुप्ता का लेख -'आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना', पृ. सं. 35

[2] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 20

मौजूद प्रतिरोध की प्रवृत्ति अंतत: प्रकृति और प्रेम को निरंतर विकसित करते जाने की ही समर्थक है।

आदिवासी साहित्य के माध्यम से अंकुरित होता आदिवासी विमर्श भी, आदिवासी जीवन-दर्शन से ही अनुप्राणित है। वंदना टेटे इसे स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "आदिवासी ज्ञान परंपरा में विमर्श भी एक उन्मुक्त और सतत चलने वाली, जीवन से जुड़ी हुई प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विशेषज्ञों की बजाय संपूर्ण गाँव-समाज और समुदाय समान रूप से भागीदार होता है। हर आयु वर्ग और अनुभव समूह के आम लोग। विमर्श हमारे लिए प्रतिदिन का व्यवहार है जैसे हम दूसरे दैनिक कार्यों को संपन्न करते हैं।"[1] वंदना टेटे आदिवासी विमर्श की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए अन्य विमर्शों से इसके मूल अंतर को भी उद्घाटित करती हैं। उनके अनुसार अन्य विमर्शों में जहाँ विद्वानों-विशेषज्ञों की भूमिका प्रमुख होती है वहीं आदिवासी विमर्श में सामुदायिक अनुभव की भूमिका प्रमुख होती है। जिसमें बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी शामिल होते हैं। बौद्धिकता की जगह परस्पर विचार-विमर्श एवं समस्त समुदाय के अनुभव को यहाँ विशेष महत्त्व दिया जाता है। वह यह भी रेखांकित करती हैं कि आदिवासी समाज लगातार अनुभवों से सीखता हुआ पल्लवित विकसित होता है। इसलिए विमर्श यहाँ दैनंदिन जीवन का ही एक हिस्सा है जो दैनंदिन व्यवहार एवं कार्य में लगातार जारी रहता है।

वंदना टेटे आदिवासी जीवन-दर्शन के आलोक में ही, आदिवासी विमर्श के महत्त्व को रेखांकित करती हैं। आदिवासी विमर्श के स्वरूप एवं उद्देश्य को स्पष्ट करती हुई, वह लिखती हैं, "इस परिदृश्य में विमर्श की पहली आवश्यकता आदिवासी साहित्य की अवधारणा को मजबूती से रेखांकित करना है जिसमें व्यक्ति की बजाय सामूहिक जीवन-दर्शन को आदिकाल से सर्वोपरि मानने की हमारी परंपरा रही है। हमारे लिए मिथकों और ऐतिहासिक संदर्भों का अर्थ सिर्फ इंसान और उसकी आत्मिक भौतिक आवश्यकताएं कभी नहीं रहीं। पूरी समष्टि, जिसमें प्रकृति भी एक सर्वोच्च नियामक व्यवस्था है, आदिवासी विश्व का दार्शनिक केंद्र रहा है और हमेशा रहेगा। साहित्य भी इस दार्शनिक केन्द्र में कोई स्वतंत्र इकाई

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 6

नहीं है, बल्कि वह भी सभी कला रूपों के साथ ही अविभाज्य रूप से जुड़कर समग्र अभिव्यक्ति का एक भागीदार बनता है।"[1]

वंदना टेटे आदिवासी विमर्शकारों से आदिवासी जीवन-दर्शन को केन्द्र में रखकर आदिवासी विमर्श को विकसित करने का निवेदन करती हैं। ऐसे में व्यक्ति की जगह सामूहिक जीवन-दर्शन एवं प्रकृति की नियामक सत्ता को महत्त्व देना जरूरी है। वह यह भी प्रमुखता से रेखांकित करती हैं कि आदिवासी जीवन में साहित्य की स्वायत्त सत्ता नहीं हो सकती। इसलिए आदिवासी विमर्श का एक दायित्व यह भी है कि वह आदिवासी जीवन एवं उसपर आधारित अन्य कला रूपों से जोड़कर ही साहित्य एवं विचार की परंपरा का विकास करे। जीवन एवं विचार दोनों ही जगह सामूहिकता को केन्द्र में रखना, आदिवासी विमर्श का एक प्रमुख उद्देश्य है।

आदिवासी साहित्य की अवधारणा में सामूहिकता का विशेष महत्त्व है और इस सामूहिकता के केन्द्र में प्रेम और प्रकृति है। आदिवासी साहित्य में प्रेम और प्रकृति के संरक्षण और विकास को व्यापक महत्त्व प्राप्त है परंतु आज प्रतिरोध आदिवासी साहित्य का प्रमुख स्वर है। प्रकृति से विस्थापित होते जाने के कारण आदिवासी समुदाय आज अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रतिरोध करने के लिए मजबूर है। इसलिए उनके साहित्य में भी प्रतिरोध का स्वर सुनाई देता है। आदिवासी साहित्य की इस विशेषता को स्पष्ट करती हुई रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "आदिवासी साहित्य केवल साहित्य ही नहीं है बल्कि यह मुद्दों पर आधारित प्रकृति, स्त्री और कमजोर लोगों के अधिकारों की आवाज उठाने वाला प्रतिबद्ध, परिवर्तनकामी तथा संकल्पबद्ध साहित्य है।"[2]

आदिवासी राज्य के आखिरी एवं दूरस्थ छोर पर निवास करने वाला समुदाय है। इसलिए आदिवासियों का संघर्ष समाज के अंतिम व्यक्ति की लड़ाई है। आदिवासी साहित्य इसी संघर्ष का रचनात्मक हस्तक्षेप है। इसलिए आदिवासी साहित्य प्रकारांतर से उपेक्षित समुदायों के मुद्दों को स्वर देने वाला प्रतिबद्ध साहित्य है। रमणिका गुप्ता के अनुसार यह जितना प्रतिबद्ध है उतना ही परिवर्तनकामी भी है। उनके अनुसार आदिवासी साहित्य साहित्य मात्र न होकर

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 6

[2] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रमणिका गुप्ता का लेख - 'व्यवस्था का षड्यंत्र समझ रहे हैं आदिवासी', पृ. सं. 12

एक सामाजिक हस्तक्षेप है । प्रकृति के साथ स्त्री, दलित, आदिवासी एवं अन्य कमजोर तबकों की चिंताओं को भी स्वर देता है। अंतत: आदिवासी साहित्य जीवन के संरक्षण एवं उत्सव का साहित्य है, जिसमें प्रेम और प्रतिरोध इसके दो प्रमुख तत्व हैं। आदिवासी साहित्य मानव समाज की बेहतरी का साहित्य है।

3.2 आदिवासी साहित्य की कसौटी

आदिवासी साहित्य के चिंतकों का मानना है कि आदिवासी साहित्य की कसौटी, मुख्यधारा के साहित्य से अलग होनी चाहिए । आदिवासी जीवन, मुख्यधारा के जीवन से अलग एवं एक विशिष्ट जीवन शैली पर आधारित होता है। ऐसे में इस पर आधारित साहित्य भी अलग एवं विशिष्ट होगा। रोज केरकेट्टा ने गंगा सहाय मीणा के साथ हुई बातचीत में इस संदर्भ में कहा है कि "जब आप यह मानते हैं कि आदिवासी एक विशिष्ट संस्कृति है, फिर उसके साहित्य को परखने के लिए भी एक विशिष्ट सौंदर्यबोध की जरूरत होगी। इस ओर न हमारे आदिवासी लेखकों का ध्यान है और न ही हिन्दी का । यह समझना होगा कि हिन्दी साहित्य को आदिवासी लेखन समृद्ध कर रहा है तो उसका समुचित मूल्यांकन उसकी विशिष्ट संस्कृति, जीवन शैली और मूल्य से किया जाए । मूल्यांकन की यह नई चुनौती है। हिन्दी की सौंदर्यदृष्टि को इसे स्वीकार करते हुए अपना विस्तार करना ही होगा। हिन्दी के लेखकों, पाठकों को आदिवासी हिन्दी लेखन को स्थान देना पड़ेगा।"[1]

रोज केरकेट्टा विशिष्ट आदिवासी जीवन पर आधारित आदिवासी साहित्य के लिए विशिष्ट सौंदर्यबोधीय दृष्टि की जरूरत पर प्रकाश डालती हैं। साथ ही वह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी उद्घाटित करती हैं। आदिवासी लेखन को वह हिन्दी साहित्य का ही विस्तार मानती हैं। ऐसे में अस्मितावादी साहित्य की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ हिन्दी का आदिवासी लेखन दिखाई पड़ता है । उनके अनुसार हिन्दी का आदिवासी लेखन जब हिन्दी को अपनी विशिष्टता के कारण समृद्ध कर रहा है तब उसका मूल्यांकन भी उसकी विशिष्ट संस्कृति, जीवन शैली एवं मूल्यों के आधार पर किया जाना ही उचित प्रतीत होता है। वह यह स्वीकार करती हैं कि इस दृष्टि की कमी हिन्दी साहित्य के आलोचकों के साथ आदिवासी लेखकों में भी है। इसलिए यह चुनौतीपूर्ण कार्य है परंतु हिन्दी साहित्य को अपनी

[1] गंगा सहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, 'गंगा सहाय मीणा की रोज केरकेट्टा से बातचीत', पृ. सं. 34

सौंदर्यबोधीय दृष्टि का विस्तार करना आवश्यक है। रोज केरकेट्टा के अनुसार हिन्दी में आदिवासी लेखन को समुचित स्थान दिए जाने के लिए हिन्दी साहित्य की सौंदर्यबोधीय दृष्टि का विस्तार एवं विकास अपेक्षित प्रतीत होता है।

वंदना टेटे इस संदर्भ में स्पष्ट मानती हैं कि "आदिवासी साहित्य परंपरा को गैर-आदिवासी विश्व की साहित्यिक परंपरा के तथ्यों और मानदंडों के आधार पर देखा जाना 'व्याख्या का विभ्रम' ही है। क्योंकि साहित्य आदिवासी विश्व में बिल्कुल वही स्थान नहीं रखता जो गैर-आदिवासी समाज में रखता है। ...आदिवासी कला परंपरा में साहित्य एक स्वायत्त इकाई नहीं है। ...यहाँ एक कला रूप का दूसरे के साथ अन्योन्याश्रित संबंध है। सह-अस्तित्व और सहभागिता के बिना किसी भी कला रूप का उद्घाटन संभव नहीं है। इसी कारण परंपरागत रूप से एकल गायकों, वादकों, नर्तकों और रचनाकारों की कोई विशिष्ट दुनिया आदिवासी समाज में स्थापित नहीं है।"[1] वंदना टेटे आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन के लिए आदिवासी समाज की सामूहिकता और सह-अस्तित्व के विचारों को समझना आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार साहित्य का कोई अलग या विशिष्ट स्थान आदिवासी समाज में नहीं होता। आदिवासी समाज में हरेक कला एक दूसरे से प्रभावित होते हुए विकसित होती हैं। जिसमें प्रकृति और सामूहिक जीवन-दर्शन का मुख्य स्थान होता है। यहाँ साहित्य स्वांत: सुखाय न होकर सामूहिक कर्म है। गीत, नृत्य, वादन, साहित्य सभी उनके सामूहिक जीवन के ही एक अंग हैं। इसलिए गैर आदिवासी साहित्यिक परंपराओं के आधार पर आदिवासी साहित्य का मूल्यांकन 'व्याख्या का विभ्रम' ही निर्मित करता है।

वंदना टेटे आदिवासी साहित्य की कसौटी निर्मित करने के संदर्भ में आदिवासी विश्व दृष्टिकोण का विकास आवश्यक मानती हैं। उनके अनुसार "समानता, सह-अस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता और सामूहिता के जीवन मूल्यों के साथ आदिवासी समाज पिछले ढाई सौ सालों से इस कार्रवाई में संलग्न है। धरती, प्रकृति और समाज की सुंदरता को बचाने की यह कार्रवाई बौद्धिक जमातों एवं व्यापक जन समुदायों के सक्रिय सृजनात्मक सहयोग एवं भागीदारी से ही संभव हो पाएगा। इसके लिए जरूरत है कि वे आदिवासी विश्व दृष्टिकोण के साथ अपना अनुकूलन करें।"[2]

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं. 78

वंदना टेटे आदिवासी साहित्य को एक सामाजिक कार्रवाई के तौर पर देखती हैं । उनके अनुसार आदिवासी साहित्य अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन के कारण धरती, प्रकृति और समाज की सुंदरता को बचाने की एक कार्रवाई है । इसलिए वह गैर-आदिवासी बौद्धिक जमातों एवं जन समुदायों के सहयोग को भी अपेक्षित मानती हैं । इस सहयोग के लिए आदिवासी विश्वदृष्टि के विकास को जरूरी मानती हैं । आदिवासी विश्वदृष्टि समानता का व्यापक दृष्टिकोण है जिसमें सभी तबकों की समान भागीदारी अनिवार्य है । आदिवासी जीवन और साहित्य का मूल यही दृष्टिकोण है । ऐसे में इस विश्व दृष्टिकोण को समझे बिना आदिवासी साहित्य का मूल्यांकन संभव नहीं हो सकता । आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी पर विचार करते हुए रामवचन राय लिखते हैं, "अब आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन का निकष क्या हो, यह सवाल है ? आदिवासी साहित्य की कसौटी उसके भीतर से ही निकलेगी । ...आदिवासी साहित्य का यदि कोई निकष तैयार होता है अथवा कोई कसौटी बनती है तो उसकी भाषा और साहित्य की गंध, भंगिमा व तेवर की कसौटी पर ही उसका मूल्यांकन होना चाहिए ।"[1]

रामवचन राय का मानना है कि साहित्य रचना की कसौटी उसके भीतर से ही निकलनी चाहिए । अन्य साहित्य के मापदंडों को आदिवासी साहित्य पर आरोपित नहीं किया जाना चाहिए । इसलिए उनका स्पष्ट मानना है कि आदिवासी साहित्य का निकष या उसकी कसौटी आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के आधार पर ही निर्मित होना चाहिए । आदिवासी साहित्य का मूल्यांकन भी इसी आधार पर होना चाहिए । अर्थात् किसी साहित्य की विशिष्टताओं को समझे एवं रेखांकित किए बिना, उस साहित्य का मूल्यांकन अधूरा साबित होगा । रोज केरकेट्टा एवं वंदना टेटे भी इसी मत का समर्थन करती हैं ।

रमणिका गुप्ता के अनुसार "आदिवासी साहित्य की कसौटी प्रचलित सौंदर्यशास्त्र के आधार पर तय नहीं की जा सकती । दरअसल यह लोक साहित्य है, जिसके लेखक अनाम और अज्ञात होते हैं । आदिवासी साहित्य के केन्द्र में समूह का अनुभव होता है । उसका समकालीन साहित्य भी समूह के प्रति हो रहे अन्याय, बढ़ती उपेक्षा, बढ़ते आक्रोश व बेबसी तथा समूह में पनपती बदलाव की

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रामवचन राय का लेख- 'भाषा को रोटी से जोड़ने की जरूरत', पृ. सं. 25

इच्छा व संकल्प की अभिव्यक्ति ही है। इसलिए आदिवासी साहित्य की कसौटी जो भी हो, वह उसके भीतर की उपज होगी। उस सृजित साहित्य की भंगिमा, तेवर और गंध के आधार पर ही उस साहित्य का मूल्यांकन होगा। वर्तमान प्रचलित सौंदर्यशास्त्र आदिवासी साहित्य के विस्तृत फलक को नाप नहीं सकता, क्योंकि वह व्यक्ति तक सीमित है, जबकि आदिवासी साहित्य अनुभवों से लैस होता है एवं समूह और प्रकृति के आर-पार जाता है।"[1]

रमणिका गुप्ता का भी मानना है कि आदिवासी साहित्य की कसौटी, आदिवासी साहित्य के भीतर से ही उपजेगी। आदिवासी साहित्य में मौजूद भंगिमा, तेवर और गंध आदि ही आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन का आधार होना चाहिए। उनके अनुसार ऐसा इसलिए जरूरी है क्योंकि आदिवासी साहित्य सामूहिक अनुभवों पर आधारित होता है जबकि हिन्दी साहित्य में प्रचलित सौंदर्यशास्त्रीय आधार व्यक्ति मन की उपज हैं। आदिवासी साहित्य में सामूहिकता के साथ प्रकृति की भी केन्द्रीय भूमिका होती है। यहाँ प्रकृति जीवन के साथ साहित्य का भी आधारभूत अंग है। इसलिए आदिवासी साहित्य की कसौटी निर्मित करने की प्रक्रिया में प्रकृति की केन्द्रीय भूमिका अनिवार्य है। अतएव आदिवासी साहित्य के कसौटी के निर्माण में आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों एवं आदिवासी जीवन-दर्शन का संज्ञान अनिवार्य हो जाता है।

3.3 आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का प्रश्न

दलित विमर्श में अस्मिता या पहचान का प्रश्न मुख्य प्रश्न है। अस्तित्व की समस्या उनके यहाँ नहीं है। दलितों का पूरी तरह से अनादर करते हुए भी वर्ण व्यवस्थामूलक समाज ने उनको अपने इर्द गिर्द ही रखा। आदिवासी का मामला इससे अलग है। तथाकथित मुख्यधारा के समाज ने आदिवासियों को हमेशा शंका की ही नजर से देखा। इसलिए 'मुख्यधारा' के समाज और आदिवासी समाज के बीच सीधा संपर्क कभी नहीं रहा। इस तरह आदिवासी समाज को हमेशा हाशिये पर ही रहने को मजबूर होना पड़ा। पूँजीवादी दौड़ और नव-साम्राज्यवादी विस्तारों की वजह से आदिवासियों को उनके जंगल और जमीन से ही उजाड़ा जाने लगा। भारत ही नहीं बल्कि ग्लोबल पूँजी के सामने आदिवासी सबसे बड़ी समस्या बन गये। इसे ही वीर भारत तलवार आदिवासियों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य मानते हैं।

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 87

उन्होंने लिखा, "आदिवासी उन इलाकों में रहते हैं, जहाँ धरती के नीचे बहुमूल्य संपदा है। दुनिया के बड़े महत्त्वपूर्ण खनिज, बड़ी बेशकीमती खदानों उस जमीन के नीचे हैं, जहाँ आदिवासी अपनी छोटी-मोटी झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं । ये बेशकीमती सम्पदा उनके दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण बन गई है। उस सम्पदा को निकालना है और उससे करोड़ों का मुनाफा कमाना है। करोड़ों के मुनाफे के लिए आदिवासियों को उस जमीन से हटाने के लिए दशकों से एक युद्ध चल रहा है। आप खुली आँखों से देख सकते हैं कि उस युद्ध में अकेले हैं आदिवासी, कोई उनके साथ नहीं खड़ा है। यह आदिवासी समाज का दुर्भाग्य है।"[1]

आदिवासियों के लिए एक तरफ लगातार विस्थापन की समस्या है तो दूसरी तरफ उनके अस्तित्व और अस्मिता का सवाल है। आदिवासी साहित्य पर विचार करने वालों ने इस विषय पर गहनता से विचार किया है। कुडुख भाषा के प्रसिद्ध साहित्यकार और जाने माने भाषाविद् निर्मल मिंज इस संदर्भ में केन्द्रीय सत्ता को मुख्य रूप से दोषी मानते हैं। उनका कहना है, "आदिवासी का अस्तित्व जल, जंगल और जमीन से जुड़ा है । वर्तमान विकास-नीति ने भारत के आदिवासियों को विस्थापित कर उनके अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। राज्य और केन्द्रीय सत्ता के नीति-विहीन कार्यक्रमों ने आदिवासी भाषा, संस्कृति और साहित्य को बिखराव और सत्यानाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।"[2] रामदयाल मुण्डा का भी मानना है कि "अस्तित्व के लिए संघर्ष ही आदिवासी जीवन की वर्तमान सच्चाई है।"[3] इसके पीछे के कारणों का उल्लेख करते हुए वह बताते हैं, "अस्तित्व के इस संघर्ष का मुख्य मुद्दा है सरकार व उसके एजेंटों द्वारा विकास एवं राष्ट्रीय हित के नाम पर आदिवासियों के जल-जंगल-जमीन तथा संस्कृति जैसे जीवन स्रोतों एवं संसाधनों का छीना जाना। ...इसका मुख्य कारण है उपेक्षावादी एवं 'बाँटो और राज करो' का संवेदनहीन आंतरिक औपनिवेशवादी सम्मान एवं दृष्टिकोण।"[4]

---

[1] रमेशचन्द मीणा (संपा.), आदिवासी विमर्श, वीर भारत तलवार का लेख -'आदिवासी अस्मिता का सवाल', पृ. सं. 1

[2] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, निर्मल मिंज का लेख -'आदिवासी भाषा, संस्कृति और साहित्य में अस्मिता', पृ. सं. 29

[3] वही, रामदयाल मुण्डा का लेख-'अस्तित्व के लिए संघर्ष-आदिवासी साहित्य का मुख्य सरोकार', पृ. सं. 20

[4] वही, पृ. सं. 20

आदिवासियों को अगर उनके जल-जंगल-जमीन से ही बेदखल कर दिया जाएगा तो उनके संस्कृति का स्रोत सूख ही जाएगा। ऐसे में आदिवासी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। ऐसा हो भी रहा है। रामदयाल मुण्डा का मानना है कि भले ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद का अंत हो गया पर हमारे देश की सरकार भी आदिवासियों के प्रति उसी औपनिवेशिक दृष्टि को अपना रही है। इस कारण आदिवासियों को अपने अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। इसे स्पष्ट करते हुए कुमार सुरेश सिंह लिखते हैं, "औपनिवेशिक युग में आदिवासियों के मूल अधिकारों के हनन एवं उनके संसाधनों का निर्बाध दोहन, सभी जानते हैं। ...खेद की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी अनेक सकारात्मक कार्यक्रमों के बावजूद आदिवासियों का शोषण एवं उनके संसाधनों का दोहन निर्बाध गति से जारी है और आदिवासी अभी भी सबसे अधिक संघर्षरत समुदाय हैं। इन संघर्षों की जड़ में आदिवासी अस्मिता का मूल प्रश्न है जो संस्कृति एवं इतिहास से जुड़ा है।"[1]

औपनिवेशिक काल से लेकर आज के बाजारवादी समय तक आदिवासियों के मूल अधिकारों का हनन जारी है। उनके जल, जंगल, जमीन और संसाधनों का दोहन भी तेज गति से हो रहा है। ऐसे में आदिवासियों को अपने न्यूनतम अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। ऐसे में उनका अस्तित्व और उनकी अस्मिता पर ही खतरा दिखाई दे रहा है। आदिवासियों की संस्कृति को पिछड़ा मानकर अनदेखा किया जाना एवं उनके इतिहास की अनदेखी आदिवासियों के उपेक्षा की मुख्य वजह हैं। जल्द से जल्द आदिवासियों की समस्या को संपूर्णता में समझना आवश्यक है। आदिवासियों की अस्मिता एवं अस्तित्व का प्रश्न हमारे समय और समाज की चिंता का महत्वपूर्ण पहलू होना चाहिए।

रामदयाल मुण्डा आदिवासी अस्मिता के संकट को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "किसी समुदाय की संस्कृति उसके जीवन के पूरे दायरे (देशकाल) में अर्जित मूल्यबोध की पूँजी होती है और उसके लिए पहचान (अस्मिता, आइडेंटिटी) के संकट का सवाल तब आता है, जब वह देखता है कि उस पर आक्रमण हो रहे हैं। जब उसकी पहचान के विघटित होने का भय उसे आतंकित करता है।"[2]

आदिवासी अस्मिता का मूल संकट आदिवासी संस्कृति की उपेक्षा से जुड़ा है। रामदयाल मुण्डा के अनुसार किसी समुदाय की संस्कृति उस समुदाय के पूरे

---

[1] रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृ. सं. 8

[2] वही, पृ. सं. 29

इतिहास से जुड़ी होती है। एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में अर्जित किये गये मूल्यबोध के द्वारा किसी समुदाय की संस्कृति का निर्माण होता है। आदिवासी संस्कृति भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है। ऐसे में जब उसकी संस्कृति के महत्त्व को नकार कर एक दूसरी संस्कृति को उनपर आरोपित किया जाता है, तब पहचान के संकट का प्रश्न अस्तित्व में आता है। पहचान के विघटित हो जाने या लोप हो जाने का भय ही अस्मिता के सवाल का जनक है। आदिवासी अस्मिता का नकार, क्रमश: उसका विघटन और कथित मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षा, आदिवासी अस्मिता के संकट के कारण हैं।

आदिवासी प्रश्नों पर विचार करने वाले बहुत से विद्वान 'जनजाति' शब्द को भी इसी षड्यंत्र का हिस्सा मानते हैं। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "आदिवासी कौन है ? यह उसकी अस्मिता, अस्तित्व और इतिहास का प्रश्न है। इसलिए शुरूआत हमें 'जनजाति' शब्द से ही करनी होगी, क्योंकि यह शब्द उनकी अस्मिता को दिग्भ्रमित ही नहीं करता, बल्कि उनके अस्तित्व पर भी एक सवाल पैदा करता है। आदिवासियों की कोई जाति नहीं होती। फिर वे 'जनजाति' कैसे बना दिए गए ? उन्हें कबीला कहा जा सकता है, लेकिन जाति नहीं।"[1]

आदिवासी समुदाय जाति-व्यवस्था वाले कथित मुख्यधारा के समाज एवं इसकी गतिविधियों से अप्रभावित जीवन जीता रहा है। आदिवासियों को दुर्गम जंगलों-पहाड़ों में रहने को बाध्य किया गया। ऐसे में वह उस जाति व्यवस्था से भी अप्रभावित रहा, जिससे समाज के आखिरी पायदान पर रह रही दलित जातियाँ प्रभावित होती रहीं। इसलिए जनजाति शब्द के प्रयोग पर आदिवासी चिंतक आपत्ति प्रकट करते हैं। इसी संदर्भ में अनुज लुगुन ने लिखा है, "आदिवासी हितों की व्यवस्था करने के बावजूद आदिवासियों को संविधान में उनके इतिहास और सम्मान का सूचक शब्द 'आदिवासी' नहीं मिला। उन्हें संवैधानिक व्यवस्था के तहत 'अनुसूचित जनजाति' का नया नामकरण मिला जिसने एक झटके में आदिवासियों को उनके इतिहास और स्वाभिमान से काट दिया। एक संवैधानिक व्यवस्था के अधीन यह आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकट की शुरूआती सबसे भयावह अवस्था रही है।"[2]

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 51

[2] अनुज लुगुन (संपा.), आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, भूमिका, पृ. सं. 7-8

संवैधानिक रूप से आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को न्यूनीकृत करने की यह प्राथमिक प्रक्रिया रही है। अनुज लुगुन का मानना है कि आदिवासी को 'अनुसूचित जनजाति' कहना आदिवासियों के संपूर्ण इतिहास और उनके स्वाभिमान की अनदेखी है। आदिवासी विषयों पर शोध करने वाले वेरियर एल्विन एवं आदिवासी समस्याओं को सर्वप्रथम उजागर करने वाले राजनेता जयपाल सिंह मुण्डा 'आदिवासी' शब्द का ही प्रयोग करते थे। इसलिए जनजाति कहकर, आदिवासियों के अस्तित्व और अस्मिता को न्यूनीकृत करने का प्रयास किया गया। अनुज लुगुन के अनुसार यह बड़ी चिंता का विषय इसलिए है क्योंकि ऐसा संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत किया गया।

रमणिका गुप्ता इस पहलू को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "दरअसल आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखता है, वहीं उनकी सामाजिक संरचना और जीवन-यापन के साधन जल, जंगल, जमीन से भी जुड़ा है।"[1] आदिवासी शब्द उनके इस भारत-भूमि पर आदि काल यानी शुरूआत से ही यहाँ वास करने को प्रतिबिंबित करता है। आदिवासियों को यहाँ के मूल निवासी होने को प्रकट करता है। रमणिका गुप्ता यह भी मानती हैं कि आदिवासी शब्द से उनकी सामाजिक संरचना का भी स्पष्ट बोध होता है। जनजाति कहने से यह बोध नहीं हो पाता। इसलिए आदिवासी चिंतक 'जनजाति' या 'वनवासी' शब्द को आदिवासियों की अस्मिता को विघटित करने की राजनीति से प्रेरित मानते हैं।

आदिवासी को 'वनवासी' कहने की राजनीति के कारणों को स्पष्ट करती हुई रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "आज भी उन्हें 'आदिवासी' की बजाय 'वनवासी' कहकर तथा 'घर वापसी' के नाम पर धर्मांतरण की साजिश रची जा रही है।"[2] आदिवासी समुदाय को क्रिश्चियन और हिन्दू धर्म की तरफ से दबावों का सामना करना पड़ रहा है। पहले क्रिश्चियन धर्म के प्रतिनिधियों द्वारा उनका धर्म परिवर्तन किया गया और अब पुन: हिन्दू बनाने का प्रयास 'घर-वापसी' के नाम पर किया जा रहा है। ऐसा 'आदिवासी' की जगह उन्हें वनवासी समझे जाने के कारण ही संभव है। वन में वास करने वाला कोई भी व्यक्ति वनवासी हो सकता है परंतु आदिवासी नहीं हो सकता। आदिवासी चिंतकों का मानना है कि आदिवासी समुदाय भारत-

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 50

[2] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 87

भूमि का मूल निवासी है और उसका अपना अलग धर्म है। आदिवासी हिन्दू या क्रिश्चियन नहीं है, जैसा कि आज सामान्य रूप से समझा जाता है।

आज आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर चौतरफा आक्रमण हो रहा है। रमणिका गुप्ता के अनुसार "अस्तित्व, अस्मिता और आत्मसम्मान उनके लिए अनिवार्य हैं। अस्मिता की रक्षा के लिए उनकी भाषा और संस्कृति का जिंदा रहना जरूरी है, तो अस्तित्व के लिए जरूरी है जल, जंगल, जमीन का होना। जल-जंगल-जमीन विहीन आदिवासी की कल्पना करना ही असंभव है।"[1]

आदिवासियों की भाषा का लोप, उनकी संस्कृति से जुड़ा हुआ है। आज कई आदिवासी भाषाएँ लुप्त होने के कगार पर हैं। इससे उनकी संस्कृति पर भी विपरीत असर पड़ रहा है। आदिवासियों की भाषा और संस्कृति की रक्षा आदिवासी अस्मिता से जुड़ा हुआ प्रश्न है। भाषा और संस्कृति के अभाव में कोई भी समुदाय अपनी पहचान को स्थापित या संरक्षित नहीं कर सकता। दूसरी तरफ जल-जंगल-जमीन का दोहन कर आदिवासी समुदाय के अस्तित्व पर ही हमला किया जा रहा है। जीवन यापन के साधनों के छीने जाने से उनका जीवन ही खतरे में है। प्रकृति के अस्तित्व पर ही आदिवासी का संपूर्ण जीवन निर्भर करता है। इस पूँजीवादी युग में प्रकृति सबसे उपेक्षित प्राथमिकता हो गयी है, ऐसे में आदिवासियों के अस्तित्व का प्रश्न भी गैर-जरूरी जैसा हो गया है।

आदिवासी साहित्य और विमर्श आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को संपूर्णता में देखे जाने का समर्थक है। इस सन्दर्भ में हरिराम मीणा लिखते हैं, "जब आदिवासी अस्मिता को परिभाषित किया जाता है तो समग्र संस्कृति को केन्द्र में रखना होगा जिसमें भाषा, धर्म, मिथक, प्रथाएँ, जीवन-शैली, खान-पान, वेशभूषा, गणचिन्ह, सौन्दर्यबोध निषेध, आवास, परम्परागत ज्ञान, मानवेतर प्राणी जगत व प्रकृति तत्वों से सम्बन्ध, स्वायत्तता, जीवनयापन, पर्वोत्सव, किवन्दन्तियाँ, मुहावरे, गल्प, गीत-संगीत, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, परिवार-समाज व बस्तियों की दशा आदि से सम्बंधित बहुत सारी बातें विमर्श के केंद्र में स्थापित होंगी।"[2] अर्थात् आदिवासी अस्मिता पर विचार करते हुए उपरोक्त सभी चीजों पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। इसके अभाव में हम आदिवासी अस्मिता को सम्पूर्णता में नहीं समझ सकते। अनुज लुगुन के अनुसार "यह ध्यान रखना है कि हम आदिवासियों

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 84

[2] हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, पृ. सं.170

के संपूर्ण अस्तित्व संकट पर बात कर रहे हैं । यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि आदिवासी अस्तित्व संकट पर विचार करना केवल आदिवासी समाज के एक पहलू पर विचार करना है, जैसे कि केवल आदिवासियों के आर्थिक पहलू के विचार को आदिवासी समाज पर संपूर्ण विचार मान लिया गया। इस भ्रम ने ही आजादी से अब तक आदिवासी समाज का सबसे गलत विश्लेषण प्रस्तुत किया है । आदिवासी संकट पर विचार करना आदिवासियों के सामाजिक-सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी पहलुओं पर विचार करना है ।"[1] आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर विचार करने के लिए आदिवासी समाज का संपूर्णता में अध्ययन आवश्यक है । अनुज लुगुन के अनुसार आदिवासी संकट के नाम पर सिर्फ उनकी आर्थिक समस्या पर ही मुख्य रूप से विचार किया गया है जो कि सर्वथा अनुपयोगी है । आदिवासियों का संकट सिर्फ आर्थिक न होकर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक भी है । आदिवासी धर्म और दर्शन का भी प्रश्न इसी से जुड़ा हुआ है । अत: आज आदिवासी विमर्श आदिवासी संकट को संपूर्णता में चित्रित करने वाले साहित्य सृजन एवं विचार की परंपरा को प्रोत्साहित कर रहा है । वस्तुत: आदिवासी अस्मिता एवं अस्तित्व का सवाल संपूर्ण मानव समाज के लिए विचारणीय प्रश्न है ।

3.4 विस्थापन की समस्या

आदिवासियों के अस्मिता और अस्तित्व के पीछे सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की है । जल, जंगल और जमीन से बेदखली आज आदिवासी समुदाय को कई प्रकार की समस्याओं के सम्मुख खड़ा करता है । इसलिए विस्थापन की समस्या पर विस्तार से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है । यह समस्या आदिवासी विमर्श के मूल में है । रमणिका गुप्ता ने इस संदर्भ में लिखा, "उसकी समस्या है जमीन से बेदखली, विस्थापन, पलायन । उसकी चाहना है - जमीन की वापसी और पुनर्वास ।"[2] जमीन की बेदखली से उपजी हुई समस्या है विस्थापन, जिसका परिणाम पलायन में होता है । विस्थापन से अस्तित्व का प्रश्न संकट में आ जाता है तो पलायन से अस्मिता पर संकट मंडराने लगता है । इसलिए विस्थापन

[1] अनुज लुगुन (संपा.), आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, भूमिका, पृ. सं. 8-9

[2] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 122

आज आदिवासी दुनिया की एक कठोर सच्चाई होने के साथ सबसे बड़ी समस्या भी है।

आदिवासियों को सदियों से विस्थापित होने का अभिशाप झेलना पड़ा है। इस संदर्भ में कमलेश्वर का मानना है कि "आदिवासियों के जीवन की पूरी त्रासदी उनके विस्थापन में मौजूद है। पहले आर्यों ने फिर उनके पौराणिक साम्राज्यवादी राजाओं, ऋषियों, फिर ब्राह्मणवादी व्यवस्था और उसके पोषक राजाओं ने उन्हें जंगला में खदेड़ा। बाद में मुगल बादशाहों ने भी अपने सूबेदारों के माध्यम से उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप शुरू किया।"[1] कमलेश्वर के अनुसार प्रारंभ से आदिवासी समुदाय को विस्थापन की समस्या का सामना करना पड़ा। सभी तरह की सत्ताओं ने आदिवासियों को विस्थापित होने को मजबूर किया। इस तरह एक जगह से पलायन कर दूसरी जगह पर जाकर जीवन की शुरूआत करना आदिवासी दुनिया का एक अनचाहा सच रहा है। आगे चलकर अंग्रेजों ने अपनी जरूरत के लिए और आजादी के बाद हमारी सरकार ने विकास के नाम पर उनको विस्थापित किया। इस संदर्भ में कमलेश्वर ने लिखा है, "विकास के नाम पर आज भारत सरकार ने भारी संख्या में उनकी जमीन अधिग्रहित की और उन्हें विस्थापित बना दिया। फलत: वे या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दूसरे प्रदेशों में जाने लगे, जहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो जाती है अथवा वे अपने ही घर में विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मजदूर या बंधुआ मजदूर बन जाने पर मजबूर हो जाते हैं।"[2]

पलायन कर रोजगार की तलाश में दूसरे प्रदेश जाना या अपने ही क्षेत्र में विस्थापित होकर मजदूर बन जाना, आदिवासियों की नियति बन गई है। दोनों ही स्थितियाँ विकास के नाम पर सत्ता और बाजार के गठजोड़ से पैदा हुई हैं। विस्थापित आदिवासी अनेक कोशिशों के बावजूद अपनी जड़ों की तरफ वापस नहीं लौट पाता। इसी सन्दर्भ में हरिराम मीणा का मानना है कि "परम्परागत बस्तियों से किसी का भी विस्थापन भारी त्रासदी का कारण बनता है और आदिवासी तो अपना परिवेश किसी भी दृष्टि से नहीं छोड़ना चाहता, चाहे उसे कितने भी प्रलोभन दिए जायें। वह परम्परा और प्रकृति से बँधा हुआ रहता आया

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, कमलेश्वर का लेख - 'आदिवासी, अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य',पृ. सं.16

[2] वही, पृ. सं.17

है ।"[1] असल में विस्थापन का असर कई पीढ़ियों तक रहता है । उसका एक सामाजिक-सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। फिजी, मॉरिशस, सूरीनाम आदि देशों में मजबूरन ले जाए गए गिरमिटिया मजदूरों की सच्चाई से हम अवगत हैं। आज उन गिरमिटिया मजदूरों के प्रति पर्याप्त चिंता सत्ताधारी वर्गों और कथित मुख्यधारा के बुद्धिजीवियों में दिखाई पड़ता है, परंतु अपने ही घर में अजनबी बना दिए जा रहे आदिवासियों की स्थिति पर चिंता कम ही दिखाई पड़ती है।

आजादी के बाद विकास का नारा सबसे ज्यादा प्रभावी हो गया था । भारतीय सरकार जल्द से जल्द भारत को अन्य विकसित देशों के फेहरिस्त में देखना चाहती थी। इसलिए सर्वप्रथम उसने आदिवासी क्षेत्रों में विकास की प्रक्रिया को शुरू किया। रमणिका गुप्ता के अनुसार "भारत सरकार द्वारा आजादी के बाद भी विकास के नाम पर आदिवासियों का विस्थापन जारी रहा । अंग्रेजों की तरह भारतीय सरकार ने जंगल को व्यापारिक वस्तु बनाकर उसमें आदिवासियों का प्रवेश ही बंद कर दिया जिससे उनके जीवन-यापन का साधन छिप गया। गलत औद्योगिक नीति और जंगल को व्यावसायिक वस्तु बनाने की नीति ने उन्हें बेरोजगार और विस्थापित बनाकर पलायन करने को मजबूर कर दिया। फलत: जंगल और जमीन पर गुजर-बसर करने वाला अच्छा भला आदिवासी किसान आज किसान से कोयला चोर बन गया।"[2]

आजाद सरकार से उम्मीद यह थी कि वह अंग्रेजों द्वारा स्थापित अंधे - कानूनों की समीक्षा करके उसे लागू करेगी । कई क्षेत्रों में ऐसा हुआ भी किन्तु आदिवासी एवं आदिवासी क्षेत्रों से सम्बंधित कानूनों की कोई समीक्षा नहीं की गई। उपनिवेशकालीन नीतियों को लागू करते हुए आदिवासियों का जंगल में ही प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया । जीवन-यापन के साधनों से विरत आदिवासिों के पुनर्वास की भी कोई कोशिश नहीं की गई। इसके परिणाम स्वरूप आदिवासियों को पलायन करना पड़ा। विस्थापन की समस्या के कारण वह आदिवासी जो कभी अपने क्षेत्र का वास्तविक अधिकारी था, उसे बंधुआ मजदूर जैसी जिंदगी जीने को मजबूर होना पड़ा।

---

[1] हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया पृ. सं. 141

[2] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रमणिका गुप्ता का लेख- 'व्यवस्था का षड्यंत्र समझ रहे हैं आदिवासी', पृ. सं. 12

विस्थापन का सर्वाधिक बुरा प्रभाव आदिवासी संस्कृति पर पड़ा है । रमणिका गुप्ता के अनुसार "जिन लोगों की संस्कृति खत्म हो जाती है, उनकी पहचान भी खत्म हो जाती है। आज आदिवासियों की शेष पहचान भी खत्म करने की साजिश हो रही है। ...आज आदिवासियों की मुख्य समस्या विस्थापन और पलायन है। ऐसे तो आदिवासी सदियों से खदेड़ा जाता रहा है, पर आज विकास के नाम पर उसे उनके जंगलों से भी खदेड़ा जा रहा है । आदिवासी अपने तीन मूल अधिकारों के प्रति अतिसंवेदनशील है, जिनसे उसकी पहचान ही नहीं, जीविका भी जुड़ी है। वह है जल-जंगल-जमीन...।"[1]

जल, जंगल और जमीन से बेदखल किया गया आदिवासी अपनी अस्मिता के लोप हो जाने की चुनौती से घिरा है। विस्थापन की समस्या ने उसके अस्तित्व को ही प्रश्नों के घेरे में डाल दिया है। विस्थापन के दंश के कारण पलायन करने पर आदिवासी आज अपने आजीविका के लिए बेहद चिंतित है। ऐसे में उनकी भाषा और संस्कृति भी नष्ट हो रही है। विस्थापन के कारण समाज की मुख्यधारा में जीविका का प्रश्न उनकी संस्कृति को विनष्ट कर रही है। संस्कृति के अभाव में आदिवासी समुदाय का अस्तित्व या अस्मिता नगण्य है । रमणिका गुप्ता के अनुसार उसकी अस्मिता और संस्कृति जिन आधारों पर टिकी होती है, आज विकास के नाम पर उसे ही निशाना बनाया जा रहा है।

जिस जमीन पर आदिवासी सदियों से रहते आये हैं, वहाँ से विस्थापन उनके भाषा और संस्कृति के विनाश की मुख्य वजह है। रमणिका गुप्ता के अनुसार "आदिवासियों के विकास, उनकी भाषा-संस्कृति तथा उनकी पहचान की रक्षा के केन्द्र में मुख्यत: जमीन है । झारखंड हो या छत्तीसगढ़ अथवा अन्य आदिवासी बहुल प्रदेश, वहाँ की गरीब जनता के लिए भूमि का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।"[2]

आज भूमि का प्रश्न सिर्फ आदिवासी समुदाय से संबंधित नहीं रहा है । विकास के नाम पर जमीन का अधिग्रहण विगत दशक में तेजी से बढ़ा है । आदिवासियों, दलितों के साथ देश भर के किसान भूमि अधिग्रहण के विरूद्ध प्रतिरोध कर रहे हैं। जमीन के साथ उस पर रहने वाले लोगों की संस्कृति भी जुड़ी होती है। लोक कथाएँ, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज आदि बहुत से अर्थ जमीन से ही संबंधित होते हैं । जमीन-अधिग्रहण के विरूद्ध आदिवासियों के आंदोलन से

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 121-122

[2] रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ. सं. 10-11

एकजुटता अगर दिखाई गई होती तो शायद विरोध आज एक मुकम्मल रूप ले पाता। आज भी ये जरूरत बनी हुई है। ऐसे में गरीब आदिवासियों की भूमि के प्रश्न को कथित मुख्यधारा की चिंता के केन्द्र में लाना बेहद आवश्यक प्रतीत होता है।

आदिवासियों के विस्थापन का एक बड़ा कारण उद्योगों का अनियमित विकास है। आदिवासियों का एक बड़ा वर्ग इससे प्रभावित होता है। गोविन्द गारे इस संदर्भ में लिखते हैं, "फौलाद के कारखाने, बिजली के कारखाने, खान, बड़े औद्योगिक संस्थान, बाँध आदि का निर्माण शुरू होने के कारण जिनको विस्थापित होना पड़ा है, वे इस वर्ग में आते हैं। बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश के आदिवासी इस वर्ग में आते हैं। समाज तथा भौगोलिक परिस्थितियों पर इस विस्थापन का प्रभाव पड़ता है। इसके मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिणाम भी होते रहते हैं। औद्योगिकीकरण के प्रश्नों तथा विस्थापित होने वाले आदिवासी समाज के प्रश्नों पर व्यापक संदर्भ में अभी भी विचार नहीं किया गया है।"[1]

जंगल एवं जमीन से बेदखली के कारण विस्थापित होने के साथ औद्योगिकीकरण से भी विस्थापित होने वाले आदिवासियों की बड़ी संख्या है। गोविंद गारे इस तरह के विस्थापन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनका मानना है कि आदिवासी क्षेत्रों में उद्योगों, बिजली उत्पादन के केन्द्रों एवं बड़े बाँधों के निर्माण के कारण बड़ी संख्या में आदिवासी समुदाय आज विस्थापित हो रहा है। उनके अनुसार औद्योगिकीकरण के प्रश्नों तथा इससे विस्थापित होने वाले आदिवासियों की समस्या पर अभी भी प्रमुखता से विचार नहीं किया गया है। एक तरफ तो इससे आदिवासी अपनी ही जमीन से विस्थापित होते हैं, दूसरी तरफ सस्ते मजदूर के रूप में बदल जाते हैं। अपनी ही जमीन पर अपने ही विस्थापन की प्रक्रिया को सहयोग प्रदान करने को मजबूर हो जाते हैं।

रमेशचंद मीणा भी औद्योगिकीकरण से होने वाले आदिवासियों के विस्थापन का प्रश्न उठाते हैं। वह लिखते हैं, "आदिवासियों के लिए एक बड़ा मुद्दा विस्थापन का रहा है। देश के विकास की जब भी बात होती है तब आदिवासी अपने आप सामने आ जाते हैं। देश के विकास का रास्ता आदिवासी की जमीन से होकर ही गुजरता है। बाँध, चतुर्भुज कॉरिडोर और औद्योगिक परियोजनाओं को मूर्त रूप देना

[1] रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी विकास से विस्थापन, गोविंद गारे का लेख - 'विकास यात्रा और परिवर्तन की दिशा', पृ. सं. 32

हो तो उजड़ना आदिवासी को ही पड़ता है, अपनी जमीन से विस्थापित आदिवासी ही होता है। किसी मूलवासी को उसकी जमीन से उखाड़कर किसी दूसरे नागरिक का विकास करना अलोकतांत्रिक, अव्यावहारिक और अमानवीय ही कहा जाएगा।"[1]

रमेशचंद मीणा विस्थापन को अलोकतांत्रिक, अव्यावहारिक और अमानवीय मानते हैं। लोकतांत्रिक देश में किसी नागरिक के विकास के लिए किसी दूसरे नागरिक को विस्थापित करना, सराहनीय कार्य नहीं हो सकता। यह भी प्रश्न का विषय है कि उद्योगों के विकास के नाम पर आदिवासी समुदाय को ही विस्थापित क्यों होना पड़ता है ? यदि आदिवासी देश के विकास के लिए अपनी जंगल और जमीन देने को तैयार हैं तो क्या सरकार को इसके एवज में आदिवासियों के हितों का ध्यान नहीं रखना चाहिए ?

विकास और आदिवासी के विस्थापन से ही जुड़ा हुआ प्रश्न, आदिवासियों के पुनर्वास का भी है। इस संदर्भ में अनुज लुगुन ने लिखा है, "एक ओर तो जमीन छिन जाने से विस्थापन के बरक्स पुनर्वास की कोई ठोस वैधानिक व्यवस्था नहीं हुई, वहीं दूसरी ओर आदिवासी अर्थव्यवस्था जो कि कृषि और वनोपज से संयुक्त थी वह ध्वस्त हुई। एक ओर जमीन गयी सो गयी वन और वन के उत्पाद भी उनके हाथ से निकल गये। इसने आदिवासियों को सीधे आर्थिक रूप से प्रभावित किया और वे सारे दावे जो उनको विस्थापित करने के दौरान नौकरी और उनके विकास के लिए किये गये थे सब-के सब धरे रह गये।"[2]

जमीन छिन जाने से विस्थापित आदिवासियों के पुनर्वास की कोई व्यवस्था सरकार की तरफ से नहीं की गयी। एक के बाद एक बड़े उद्योग एवं बाँधों का निर्माण होता रहा और आदिवासी विस्थापित होते रहे। विस्थापन से पूर्व पुनर्वास एवं रोजगार के वादों के बावजूद, व्यवहार रूप में यह कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। इस कारण आदिवासी किसान से अप्रशिक्षित मजदूरों में तब्दील होते गये। विकास के साथ पुनर्वास की ठोस नीतियों की आवश्यकता है। विकास जितना मुख्यधारा के लिए आवश्यक है उतना ही आदिवासियों के लिए भी होना चाहिए। ऐसे में पुनर्वास की नीतियों के साथ छेड़-छाड़ नहीं किया जाना चाहिए। विस्थापन किसी भी समुदाय की अस्मिता, अस्तित्व और संस्कृति के लिए नुकसानदेह होता

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तक : विचार परंपरा और साहित्य, पृ. सं. 13

[2] अनुज लुगुन (संपा.), आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, भूमिका, पृ. सं. 9

है । इस संदर्भ में गोविंद गारे ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "आदिवासियों का जबरन किया जा रहा विस्थापन महत्त्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक तथा नैतिक सवाल है ।"[1] लोकतंत्र में किसी भी समुदाय का जबरन विस्थापन निश्चित रूप से स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । लोकतंत्र सहमति और सहयोग पर आधारित व्यवस्था है । इसलिए आदिवासियों की आवाज भी सुनी जानी चाहिए और उनके विस्थापन के प्रश्न पर सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आधारों पर विचार किया जाना चाहिए ।

3.5 आदिवासी और माओवाद की समस्या

माओवाद जिसे उग्र वामपंथ के नाम से भी जाना जाता है, आज आदिवासी समाज की सर्वाधिक बड़ी समस्याओं में से है । सरकारी हिंसा और माओवादी हिंसा के बीच बेकसूर आदिवासी समाज फँसा हुआ नजर आते हैं । आदिवासी समाज की अस्मिता और अस्तित्व ही इससे खतरे में नजर आता है । रमणिका गुप्ता के अनुसार "भारत में आदिवासी की अस्मिता पर संकट तो सदियों से आता-जाता ही रहा है, लेकिन अब तो खतरा उनके अस्तित्व पर ही है । नक्सलवाद के नाम पर अब उसे कानूनी रूप से सरकारी हिंसा का शिकार बनाने की तैयारी हो गई है ।"[2]

उग्र वामपंथ की समस्या से आदिवासी समाज का अस्तित्व ही खतरे में नजर आ रहा है । आदिवासी बहुल क्षेत्रों में कीमती संसाधन पाये जाते हैं । उद्योगों-खदानों का विकास तेजी से आदिवासियों के इलाके में हो रहा है । इससे एक तरफ आदिवासी विस्थापित हो रहे हैं तो दूसरी तरफ अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के लिए एकजुट भी हो रहे हैं । भूमि अधिग्रहण कर सरकार आदिवासी क्षेत्रों को औद्योगिक बस्तियों में परिवर्तित कर देना चाहती है । ऐसा बहुत-सी जगहों पर हुआ भी है परंतु जैसे-जैसे आदिवासी अपने अस्तित्व रक्षा के लिए जागरूक हो रहा है, वह संघर्षरत भी हो रहा है । इसलिए सरकार एवं बड़ी कंपनियों को संगठित विरोध का सामना करना पड़ रहा है । ऐसे में नक्सलवाद के नाम पर उनके आंदोलन को तोड़ने का प्रयास भी किया जा रहा है ।

---

[1] रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी : विकास से विस्थापन, गोविंद गारे का लेख - 'विकास यात्रा और परिवर्तन की दिशा', पृ. सं. 32

[2] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 31

इस संदर्भ में ग्लैडसन डुंगडुंग और सुनील मिंज लिखते हैं, "वर्तमान में सत्ता की समझ यह है कि किसी को नक्सली और माओवादी करार देने और आंदोलन को माओवादियों द्वारा संचालित होने की बात कह देने से उसे आंदोलन को कुचलने का गैर-संवैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाता है ।"[1] आदिवासियों का अधिकांश आंदोलन अहिंसात्मक रहा है । आदिवासी समाज के सामने जब अस्तित्व रक्षा का प्रश्न हो, तब उसका संगठित होना अवश्यंभावी है। ऐसे में जंगल एवं खदानों का अधिग्रहण करना सरकार के लिए मुश्किल हो जाता है । इसलिए प्रत्येक आदिवासी आंदोलन को माओवादियों द्वारा संचालित मान लिया जाता है। ऐसा होने पर आदिवासियों एवं उनके आंदोलन का अतिक्रमण आसान हो जाता है। लेखक-द्वय का यह मानना है कि "पुलिस-प्रशासन का यह चरित्र रहा है कि वह हर जनांदोलन को सत्ता विरोधी मान लेती है और आंदोलनकारी को नक्सली ।"[2]

पुलिस-प्रशासन का यह चरित्र निश्चित रूप से चिंताजनक है परंतु यह भी ज्ञात तथ्य है कि आदिवासी अंचलों में माओवाद का प्रभाव बढ़ा है । माओवादी आदिवासी बहुल ग्रामीण अंचलों में सक्रिय हैं। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "दरअसल नक्सलवाद ग्रामीण क्षेत्र के किसानों से जुड़ा है। आदिवासी मूलत: किसान हैं। जमीन और जंगल के बिना आदिवासी की पहचान ही नहीं होती ।"[3] अपनी बात को वह और स्पष्ट करती हुई, इसी संदर्भ में आगे लिखती हैं, "आदिवासी बसाहटें, प्राय: देश के खनिज और जंगलों से भरे समृद्ध क्षेत्र में ही होती हैं। बाहरी लोगों की घुसपैठ बढ़ने के साथ इन बसाहटों में बरोजगारी, भुखमरी और गरीबी बढ़ी, जिससे असंतोष पनपा । ...समाज और सरकार ने उनका दमन व शोषण करने वाली शक्तियों को और भी अधिक बलवान किया है । ...आदिवासी समझ ही नहीं पाता-किस तरफ जाए, किस तरफ न जाए, क्या करे, क्या न करे ? और जब उसे कोई रास्ता नहीं सूझता, तो वह नक्सलवाद की तरफ जाता है।"[4]

रमणिका गुप्ता का मानना है कि "आदिवासी समाज की दुर्दशापूर्ण स्थिति और स्थानीय प्रशासन और सरकार की उदासीनता के कारण ही आदिवासी माओवाद की तरफ प्रवृत्त होता है। यह सच है कि आदिवासी बहुल इलाकों में आदिवासियों का भीषण शोषण एवं दोहन हुआ है । स्थानीय प्रशासन भी

---

[1] सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, झारखंड में अस्मिता संघर्ष, पृ. सं. 127

[2] वही, पृ. सं. 127

[3] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 31

[4] वही, पृ. सं. 31

आदिवासियों की जगह साहूकारों एवं ठेकेदारों की मदद करती है। भुखमरी और गरीबी से आदिवासियों में असंतोष बढ़ा है। अपने ही क्षेत्र में वह लगातार अजनबी होते जा रहे हैं। इसके बावजूद एक प्रश्न उठता है कि क्या माओवादी हिंसा आदिवासियों की मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करती है ? रमणिका गुप्ता के अनुसार "मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि नक्सलवाद प्रताड़ित एवं शोषित ग्रामीण किसान, खासकर आदिवासी युवा किसानों में पनप रही हताशा और खालीपन को भरता है।"[1] जबकि आदिवासी साहित्यकार हरिराम मीणा का मानना है कि "नक्सलवाद के वर्तमान दौर में माओवादी नेतृत्व द्वारा जो कुछ घटित किया जा रहा, उसका किसानों की भूमि, आदिवासियों के हित आदि से असल संबंध नहीं है। प्रत्युत उनका नाम भर लिया जा रहा है ताकि उन भोले-भाले आदिवासियों को अपने चंगुल में फँसाया जा सके।"[2]

रमणिका गुप्ता मानती हैं कि माओवाद आदिवासियों की हताशा को कुछ दूर तक दूर करने में अवश्य सहायक है जबकि हरिराम मीणा इससे अलग विचार रखते हैं। उनके अनुसार वर्तमान समय में जो माओवादी नेतृत्व आदिवासी अंचलों में कार्यरत हैं, वह आदिवासियों की निश्छलता का फायदा उठा रहे हैं। हताशा में कुछ जगहों पर आदिवासी समुदाय अवश्य माओवाद की तरफ प्रवृत्त हुए हैं परंतु आदिवासी समाज मुख्यतः अहिंसात्मक समाज है। माओवाद के कारण आदिवासियों को नुकसान ही ज्यादा सहना पड़ा है। सुनील मिंज और ग्लैडसन डुंगडुंग के उद्धरणों से यह तथ्य भी सामने आता है कि नक्सलवाद के नाम पर आदिवासियों के ऊपर हमला करना आसान हो गया है।

सरकारी हिंसा आदिवासियों पर बढ़ी है। सरकार की तरफ से होने वाली सैनिक कार्यवाही हो या माओवादियों की तरफ से होने वाली 'जन-कार्यवाही', शिकार आदिवासी समाज ही बनता है। दोनों तरफ से जारी इस युद्ध में झारखंड और छत्तीसगढ़ के कई आदिवासी समूहों को अपना गाँव छोड़ना पड़ा है। इस संदर्भ में रमेशचंद मीणा ने सही लिखा है कि "नक्सलवाद जैसे अतिवादी रवैये को

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 32

[2] रमेशचन्द मीणा (संपा.), आदिवासी विमर्श, हरिराम मीणा का लेख - 'नक्सलवादी हिंसा बनाम आदिवासी अशांति', पृ. सं. 91

न आदिवासी चाहते हैं और न ये चाहते हैं कि उनके क्षेत्र में हिंसक गतिविधियाँ अंजाम दी जाएँ। क्योंकि आदिवासी की फितरत में हिंसा होती ही नहीं।"[1]

यह भी सच है कि आज बहुत सारे आदिवासी अंचलों में माओवादी संगठन सक्रिय हैं। सरकार की तरफ से उन्हें समाप्त करने की कार्रवाई भी हो रही है परन्तु आदिवासी समाज का ध्यान इसमें नहीं रखा जा रहा। सरकार पर आदिवासियों ने जिस कारण विश्वास खोया है उसे सिर्फ माओवादियों के दमन से प्राप्त करना मुश्किल है। आदिवासियों ने अपने शोषण और दमन, अपने प्रति होने वाले अन्याय के साथ सरकारी व्यवहार में अपनेपन की कमी के कारण, सरकार और शासन-व्यवस्था में विश्वास खोया है। इस संदर्भ में अनिल चमड़िया लिखते हैं, "सरकारी मशीनरी की हिंसा ने आदिवासियों के बीच भरोसा खोया है। उसे सैनिक बलों की माओवादियों के खिलाफ कार्रवाइयों के नाम पर हासिल नहीं किया जा सकता है। देश के कई हिस्सों में सत्ता की मशीनरी अपना विश्वास खो रही है। कानून एवं व्यवस्था को बहाल करने के नाम पर सैनिक बलों की कार्रवाइयों ने स्थितियों को और जटिल किया है।"[2]

माओवादी हिंसा के कारण आदिवासियों का अस्तित्व आज खतरे में है जिसे सरकारी हिंसा ने जटिलतम रूप दे दिया है। सरकार को आदिवासी इलाकों में सैनिक कार्रवाइयों की जगह लोकतंत्र को सच्चे रूप में पहुँचाना चाहिए। आदिवासियों के विश्वास को अर्जित करना होगा। विकास की अवधारणा का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। आदिवासी समाज और उसकी संस्कृति के स्वाभाविक विकास के लिए उचित माहौल प्रदान करना होगा। रमणिका गुप्ता आदिवासी अंचलों से माओवाद के समाधान के लिए जो सुझाव देती हैं, वह द्रष्टव्य है, "परियोजना बनने और विस्थापन से पहले उनकी सहमति, उनका समुचित पुनर्वास, प्रस्थापित होने वाले उद्योगों में उनके रोजगार की सुनिश्चित व्यवस्था, आदिवासियों को उनकी जमीन, जल, जंगल और संसाधनों पर पूर्ण अधिकार, रोजगार की गृह राज्य में गारंटी मिले तभी उनका विस्थापन और पलायन रूक सकता है। ...आदिवासी मूलत: किसान है। आदिवासी का अस्तित्व और समृद्धि

[1] रमेशचंद मीणा (संपा.), आदिवासी विमर्श, पृ. सं. 114

[2] वही, अनिल चमड़िया का लेख - 'आदिवासियों के सामने विकल्प क्या है', पृ. सं. 97

जंगल और जमीन से नालबद्ध है। मेरा दृढ़ मत है कि अगर हम बंदूक का विकल्प उनके पास लेकर जाएँ, तो वे जरूर लौटेंगे।"[1]

दोनों तरफ की हिंसा का विकल्प लेकर आदिवासी के पास जाना होगा। सरकारी नीतियों की अवहेलना की वजह से आदिवासी अंचलों में माओवाद का प्रभाव बढ़ा है। सरकारी नीतियों का बेहतर ढंग से कार्यान्वयन आदिवासियों के समक्ष बेहतर विकल्प का रास्ता तैयार कर सकता है क्योंकि माओवादी होने की जगह, आदिवासी होना ही, आदिवासियों को सर्वाधिक प्रिय होता है।

3.7 आदिवासी और दलित प्रश्न

आदिवासी और दलित दोनों समुदायों को भारत की जाति-व्यवस्था आधारित समाज में निम्न-कोटि का समझा गया। इन्हें बराबर रूप से उपेक्षित एवं वंचित होना पड़ा है। इसके बावजूद आदिवासी और दलित समुदायों की समस्याएँ पूरी तरह एक नहीं मानी जा सकतीं। दलित जहाँ मुख्यधारा की समाज में शामिल होते हुए भी लांछित और वंचित होते रहने को अभिशप्त रहा, वहाँ आदिवासी वर्ण-व्यवस्था आधारित समाज का कभी हिस्सा ही नहीं माना गया। स्वयं अम्बेडकर भी इसे स्वीकार करते थे। वह भी आदिवासियों को असभ्य एवं जंगली रूप में ही स्वीकार करते थे। यह बात सच है कि वह आदिवासियों की स्थिति को लेकर चिंतित थे। अम्बेडकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जाति-प्रथा-उन्मूलन' में लिखते हैं, "... हालाँकि हमारा देश इस बात पर गर्व करता है कि हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है, ये मूल आदिम जातियां इसी पुरानी असभ्य स्थिति में रह रही हैं। न केवल वे असभ्य स्थिति में हैं बल्कि कुछ जातियों के काम-धंधे भी इसी प्रकार के हैं कि उन सबको आपराधिक जातियों में वर्गीकृत कर दिया गया है। इस तरह हमारी आज की भरी-पूरी सभ्यता की अवस्था में भी एक करोड़ तीस लाख आदमी अभी भी जंगलियों की तरह रह रहे हैं। और वंश-परंपरागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं। लेकिन हिन्दुओं को इसमें कभी कोई शर्म महसूस नहीं हुई।"[2]

अम्बेडकर यह स्वीकार करते हैं कि आदिवासियों के साथ सदियों से अन्याय होता रहा है और इसका कारण वह हिन्दुओं की जाति व्यवस्था पर आधारित समाज को मानते हैं जबकि वह खुद स्वीकार करते हैं कि कथित

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 44

[2] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, संपूर्ण वांडमय, खंड 1, पृ. सं. 72

मुख्यधारा के समाज से दूर आदिवासी जंगलों में निवास करते हैं । अम्बेडकर आदिवासियों को 'मूल जन-जाति', 'असभ्य' या 'जंगली' कहकर ही संबोधित करते हैं। अम्बेडकर भी आदिवासियों की सभ्यता की विशेषता का विश्लेषण न कर, उन्हें असभ्य घोषित करते हैं और उन्हें सभ्य बनाये जाने पर सर्वाधिक जोर देते हैं।

इसी संदर्भ में अम्बेडकर आगे लिखते हैं, "इसलिए जाति ही वह मुख्य स्पष्टीकरण है, जिसके कारण हिन्दुओं ने स्वयं सभ्य हो जाने के बावजूद जंगली जातियों को जंगली ही बने रहने दिया है और इसमें उन्हें तो लज्जा का अनुभव होता है, न ही बुरा लगता है और न कोई पश्चाताप होता है। हिन्दू यह नहीं समझ पाए हैं कि इन मूल निवासियों से उन्हें कभी भी खतरा हो सकता है । अगर ये जंगली लोग जंगली ही बने रहे, तो शायद उनसे हिन्दुओं को कोई खतरा न हो । लेकिन अगर गैर-हिन्दू उन्हें अपना लें और अपने धर्म में उनका धर्म-परिवर्तन कर लें तो हिन्दुओं के शत्रुओं की संख्या बढ़ जाएगी। अगर ऐसा हुआ तो उसका कारण स्वयं हिन्दू लोग और उनकी जाति-प्रथा होगी।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि अम्बेडकर आदिवासियों को सभ्य बनाये जाने को लेकर चिंतित थे। आदिवासियों के 'जंगली' बने रहने का कारण भी वह जाति-व्यवस्था को ही मानते थे। उनके अनुसार जातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण ही उच्च कही जाने वाली हिन्दू जातियों ने स्वयं को सिर्फ सभ्य बनाने पर ध्यान दिया और मूल निवासियों को 'जंगली' ही रहने दिया। वह आदिवासियों के सभ्य बनने का दूसरा रास्ता धर्म परिवर्तन में ही देखते थे।

आदिवासी सभ्य हैं या असभ्य ? इस प्रश्न का एक जवाब वेरियर एल्विन की पुस्तक 'ए फिलोसफी फॉर नेफा' में दिखाई पड़ता है। वेरियर एल्विन की इस पुस्तक की प्रस्तावना उस समय के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था। उस प्रस्तावना में जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं, "स्वयं मुझे ही यह निश्चित रूप से मालूम नहीं है कि रहन-सहन का कौन-सा ढंग सबसे अधिक अच्छा है । कुछ मामलों में मुझे यकीन है कि उनकी जीवन-शैली बेहतर है। इसलिए स्वयं में उच्चता का भाव लेकर उनके पास जाना या उनसे कुछ करने या न करने को कहना भारी

[1] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, संपूर्ण वांडमय, खंड 1, पृ. सं. 73

भूल है । उनसे अपनी नकल करवाने में मुझे कोई दलील या तर्क नहीं दिखाई पड़ता।"[1]

आदिवासियों को असभ्य समझकर उन्हें सभ्य बनाने का प्रयास एवं उन्हें मुख्यधारा से जोड़ने का प्रश्न ही अम्बडकर के यहाँ प्रमुख है जबकि आदिवासियों की अपनी विशिष्ट संस्कृति रही है। अधिकांश दलित चिंतक आदिवासी प्रश्न पर विचार करते हुए इसी दृष्टिकोण से प्रभावित रहते हैं। कई आदिवासी चिंतक दलित चिंतकों द्वारा आदिवासी समस्या पर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण उनकी आलोचना करते हैं। गंगा सहाय मीणा के साथ हुई बातचीत में रोज केरकेट्टा कहती हैं, "दलित साहित्य को ही लीजिए, दलित साहित्य सिर्फ दलितों की बात करता है । उसने अभिव्यक्ति की धार और प्रेरणा 'ब्लैक लिटरेचर और पालिटिक्स' से ग्रहण की जो पश्चिमी देशों के आदिवासियों का आंदोलन है। परंतु अपने ही देश के आदिवासियों से सीखना तो दूर, उससे जुड़ने के लिए भी दलित तैयार नहीं हैं।"[2]

रोज केरकेट्टा के अनुसार दलित विमर्श आदिवासी साहित्य से प्रेरणा लेकर भी आदिवासी प्रश्नों पर विशेष ध्यान नहीं देता । दलित विमर्श एक संगठित आंदोलन के रूप में हिन्दी साहित्य में उपस्थित हुआ। ऐसे में वह न सिर्फ दलितों का आंदोलन है बल्कि संपूर्ण वंचित एवं शोषितों का भी आंदोलन है । ऐसे में आदिवासी समुदाय की समस्याओं और चुनौतियों को स्वर न दे पाना एक चिंतनीय पहलू है। यह भी ध्यातव्य है कि दलित और आदिवासी का अब भी कोई साझा मंच नहीं बन पाया है। आदिवासी विमर्शकार रमेशचंद मीणा दोनों को एक विमर्श मानना अस्वीकार करते हैं।

इस संदर्भ में रमेशचंद मीणा लिखते हैं, "आदिवासी और दलित विमर्श को कई लोग एक ही मानकर भ्रम बनाने में लगे रहे हैं जबकि दलित साहित्य रचने वाले आदिवासी की बात नहीं करते ओर न ही करना चाहते हैं । जो दलित और आदिवासी को एक ही विमर्श मानकर चलते हैं, उनको यह जान लेना जरूरी है कि दोनों में तात्विक और रूपगत भेद है। इसलिए ये दोनों महाशोषित कभी भी एक

---

[1] Verrier Elwin, A Philosphy for Nepha, Forewordpage- 01 ("*I am not at all sure which is the better way of living, the tribal or own. In some respects I am quite certain theirs is better. Therefore, it is grossly presumptuous on our part to approach them with an air of superiority, to tell them how to behave or what to do and what not todo. There is no point in trying to make of them a second-rate copy of Ourselves.*")

[2] गंगा सहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगा सहाय मीणा की रोज केरकेट्टा से बातचीत, पृ. सं. 33

मंच पर मुस्तैदी से एक साथ खड़े नहीं हो सकते हैं । ...दलित साहित्य में वर्ण व्यवस्था के दंश, छुआछूत और अपमान को चित्रित-वर्णित किया गया है । आदिवासी साहित्य में वर्ण व्यवस्था और उससे उपजी समस्या से इतर जंगल, विस्थापन और बाहरी लोगों के घुसपैठ मुख्य विषय रहे हैं।"[1]

रमेशचंद मीणा के अनुसार दलित और आदिवासी-विमर्श को एक मानना, भ्रम का प्रचार करना है। उनके अनुसार दोनों विमर्शों में विषयगत के साथ रूपगत भेद भी है। इसी कारण आज तक आदिवासी और दलित सर्वाधिक शोषित वर्ग होते हुए भी एक मंच पर खड़े नहीं हो पाए हैं । रमेशचंद मीणा इसके लिए दलित विमर्शकारों को दोष देते हैं। उनके अनुसार दलित एकता को तथाकथित रूप से अक्षुण्ण बनाये रखने की वजह से ही ऐसा होता आया है । वह आदिवासी और दलित की समस्या को भी संपूर्णत: अलग मानते हैं। दलित विमर्श के केन्द्र में जाति एवं इसके आधार पर हुए अन्याय हैं तो आदिवासी-विमर्श के केन्द्र में जल-जंगल-जमीन और इसके आधार पर उत्पन्न समस्याएँ हैं ।

रमणिका गुप्ता का मानना है कि पहले-पहल अम्बेडकर ने आदिवासी समस्या की तरफ सबका ध्यान खींचा था । बाद में दलित नेतृत्व द्वारा अवश्य आदिवासी प्रश्नों की अवहेलना की गई। इस संदर्भ में वह लिखती हैं, "ऐसे तो बाबा साहेब अम्बेडकर ने ही आदिवासी समस्याओं पर सबका ध्यान खींचा और फिर संविधान बनाते समय इनके संरक्षण व आरक्षण का प्रावधान किया। उनकी मृत्यु के बाद चूँकि दलित नेतृत्व ने आदिवासी मुद्दे, जो दलितों से काफी हद तक भिन्न थे, पर ध्यान नहीं दिया। इसलिए महाराष्ट्र में स्वतंत्र आदिवासी संगठनों की शुरूआत हुई और आंदोलन भी भीतर ही भीतर सुगबुगाने लगा।"[2]

अम्बेडकर के बाद के दलित नेतृत्व की अवहेलना ने पृथक आदिवासी साहित्य एवं विमर्श का रास्ता प्रशस्त किया। आदिवासी चिंतक अम्बेडकर का इस बात के लिए आभार मानते हैं कि उन्होंने संविधान में आदिवासियों के संरक्षण व आरक्षण का प्रावधान किया। इससे आदिवासी समुदाय को काफी सहायता मिली। रमणिका गुप्ता, अम्बेडकर के योगदान को रेखांकित करती हैं । साथ ही यह भी रेखांकित करती हैं कि दलित चिंतकों ने दलितों से भिन्न आदिवासी मुद्दे को

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तक : विचार परंपरा और साहित्य, पृ. सं. 11-12

[2] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 19

समझने का प्रयास नहीं किया । महाराष्ट्र में आदिवासी संगठनों के उद्भव के उदाहरण से वह इसे प्रमाणित भी करती हैं।

कई स्तर पर दलित एवं आदिवासी प्रश्न एक होते हुए भी अलग-अलग हैं। इसे स्पष्ट रूप में समझा जाना आवश्यक है। रमणिका गुप्ता के अनुसार "दोनों इस मायने में समान हैं कि इनका साहित्य जीवन, यथार्थ, श्रम उत्पीड़न, शोषण, अभाव, उपेक्षा और अन्याय से जुड़ा है। दलित साहित्य हो या आदिवासी साहित्य, दोनों ही प्रतिरोध का साहित्य है। दोनों का साहित्य आनंद नहीं देता, सीधे मन पर चोट करता है ...यह प्रतिबद्ध साहित्य है, अपनी विचारधारा, सोच, सिद्धांत व जीवन मूल्यों व शैली के प्रति। इन दोनों के जीवन और अभिव्यक्ति के ढंग में फर्क है। इनके स्रोत, सामाजिक ढांचा, संस्कृति, भौगोलिक स्थितियाँ, प्रतीक, मिथक, शैली, भाषा, जीवन शैली सभी भिन्न हैं। एक को सभ्यता के बाहर कर जंगलों में खदेड़ दिया गया तो दूसरे को मनुष्यता से ही बाहर कर अपने ही गाँवों की सीमा पर पशुतुल्य जीवन जीने को मजबूर कर दिया गया। ...दोनों को ही समाज, इतिहास व साहित्य ने अनदेखा किया है।"[1]

रमणिका गुप्ता आदिवासी और दलितों प्रश्नों के साम्य और अंतर को स्पष्ट करती हैं। दोनों ही समुदायों को सामाजिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक रूप से अन्याय का सामना करना पड़ा है। देश की आजादी और इसके विकास में अपार योगदान देने के बावजूद दलित और आदिवासी दोनों ही समुदायों को उपेक्षित ही समझा गया। दोनों समुदायों के ऊपर भीषण शोषण और अन्याय हुआ है। इस आधार पर आदिवासी और दलित दोनों ही समान रूप से लांछित, वंचित और उपेक्षित समुदाय हैं। इसके बावजूद इनके प्रति हुए शोषण और अन्याय के आधार अलग हैं। दलित समुदाय जहाँ जाति के आधार पर शोषित होता रहा वहीं आदिवासी समुदाय को तथाकथित विकास के नाम पर जंगलों-बीहड़ों में वास करने को मजबूर किया गया। इसलिए इन दोनों समुदायों के जीवन जीने और अभिव्यक्ति के तरीके में पर्याप्त अंतर है। प्रतिरोध का साहित्य होते हुए भी दोनों के प्रतिरोध के मुद्दे अलग हैं। रमणिका गुप्ता ने इस संदर्भ में लिखा है, "आदिवासी और दलित साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए हमें उनके जीवन, जीवन शैली,

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 111-112

इतिहास, यहाँ तक कि भूगोल का अध्ययन करना भी जरूरी होगा और साथ ही जरूरी होगा इनकी समानताओं और भिन्नताओं की खोज एवं परख करना।"[1]

दोनों समुदायों का जीवन, जीवन-शैली, इतिहास अलग-अलग है। इस कारण दोनों समुदायों के आदर्श भी अलग-अलग हैं और समस्याएँ भी। इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है दोनों समुदायों के भौगोलिक पक्ष का अध्ययन। दलितों के संदर्भ में भूगोल का विशेष महत्व नहीं है जबकि आदिवासी प्रश्न के संदर्भ में भूगोल का प्रश्न उनके इतिहास और जीवन से जुड़ा हुआ है। दोनों ही समुदाय का लक्ष्य मानवीय गरिमा को पाना है। एक समुदाय को पशु तुल्य जीवन जीने को मजबूर किया गया तो दूसरे समुदाय को पशुवत् ही समझा गया। इसी कारण जीवन-शैली में भी पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। दलित जहाँ गाँव के छोर पर जाति-दंश को झेलते हुए जीते रहे वहीं आदिवासी समुदाय, मुख्यधारा के समाज से दूर प्रकृति को केन्द्र में रखकर जीवन-यापन करता रहा। इसलिए "आज जहाँ दलित अपनी पशु तुल्य जिंदगी को छोड़कर मनुष्य का दर्जा पाने के लिए अपनी पहचान की लड़ाई लड़ रहा है, वहीं आदिवासी को 'वनवासी' कहकर उसके अस्तित्व को ही मिटा देने की साजिश चल रही है। इसलिए दोनों का साहित्य पहचान बनाने व उसे बरकरार रखने, आत्मसम्मान, स्वाभिमान निर्मित करने के लिए प्रतिश्रुत है। दलित परजीवी की संज्ञा से मुक्त होकर स्वावलंबन की ओर उन्मुख है। आदिवासी ने सभ्यता से बहिष्कृत होने के बावजूद अपनी संस्कृति, भाषा, सामूहिक जीवन शैली बचाए रखी। वह समानता, भाईचारा व आजादी को अपने जीवन में बरकरार रख, अपने ढंग से जीने का आकांक्षी है।"[2]

दलितों के लिए जहाँ अस्मिता का प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है वहीं आदिवासियों के लिए अस्तित्व का प्रश्न। दलित पशुवत् जिंदगी छोड़ मनुष्य होने का दर्जा पाना चाहता है। जबकि आदिवासी स्वयं को मनुष्य माने जाने की लड़ाई लड़ रहा है। आदिवासी को 'वनवासी' कहकर उसके अब तक के इतिहास को दरकिनार करने का प्रयास हो रहा है, जिससे उनका जीवन, जीवन-शैली, इतिहास, संस्कृति आदि सब कुछ खतरे में दिखाई पड़ता है। आदिवासी की सामूहिक जीवन शैली आज बाजारवाद के लिए बड़ी चुनौती है। इसलिए उसे उसके ही जमीन से विस्थापित किया जा रहा है। प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व में विश्वास करने वाले

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 111

[2] वही, पृ. सं. 112

समुदाय को प्रकृति से विरत कर दिया जा रहा है। उसकी भाषा और संस्कृति नष्ट की जा रही है। अत: आदिवासी के लिए पहचान के साथ अस्तित्व का प्रश्न भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । यह सच है कि दलित और आदिवासी-विमर्श दोनों ही स्वाभिमान और आत्मसम्मान की भावना से पूरित हैं । दोनों का ही उद्देश्य समानता, भाईचारा और स्वतंत्रता पर आधारित समाज का निर्माण करना है।

दलित और आदिवासी-विमर्श में एक प्रमुख प्रश्न ब्राह्मणवाद के विरोध का भी उठाया जाता है। दलितों की तरह आदिवासी भी जहाँ-जहाँ मुख्यधारा के संपर्क में आये हैं अस्पृश्यता के शिकार हुए हैं । ऐसे में आदिवासी समुदाय के लिए भी ब्राह्मणवाद का विरोध आवश्यक प्रतीत होता है । इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "आदिवासी जाति से मुक्त हैं, फिर भी उन्हें संविधान में 'जनजाति' की संज्ञा दी गयी। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में दलित की तरह आदिवासी को भी शूद्र की ही श्रेणी में गिना जाता है। ...वह ब्राह्मणवाद का विरोध इसलिए भी कर रहा है कि वह न तो उनकी जाति प्रथा में जाना जाता है न अपने पुरखों व बोंगा, ठाकुर या देव अथवा अच्छी-बुरी स्पिरिट्स को हिन्दू-देवी देवताओं के नाम देना चाहता है, जैसा कि किया जा रहा है।"[1]

अर्थात् आदिवासी का ब्राह्मणवाद विरोध दलितों से भिन्न है। दलित जहाँ सदियों से जाति प्रथा से प्रताड़ित होने के कारण ब्राह्मणवाद का विरोध करते हैं वहीं आदिवासी जबरन ब्राह्मणवादी व्यवस्था में शामिल किये जा रहे षड्यंत्र के खिलाफ संघर्षरत हैं । आदिवासी समुदाय, जाति व्यवस्था से सर्वथा अप्रभावित रहा है । धर्मांतरण के नाम पर उसका ईसाईकरण या हिन्दुकरण हाल-फिलहाल की घटना है। धीरे-धीरे इस षड्यंत्र को वह समझ रहा है। प्रकृति पूजक, पुरखों की आत्माओं में विश्वास करने वाला आदिवासी समुदाय अपनी जीवन शैली और मान्यताओं के विकृतिकरण और ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा उसके आत्मसात करने की प्रक्रिया के विरूद्ध संघर्षरत है । वह ब्राह्मणवाद का विरोध, आदिवासी धर्म एवं परंपरा में ब्राह्मणवाद द्वारा किये जा रहे अतिक्रमण के कारण कर रहा है । जाति से मुक्त आदिवासी समुदाय 'जनजाति' या 'वनवासी' बनाए जाने की राजनीति के विरोध स्वरूप ब्राह्मणवाद का विरोध करता है। अंतत: दलित और आदिवासी का संघर्ष जाति से मुक्ति का ही है। दलित जाति से मुक्त होना चाहता है तो आदिवासी जाति से मुक्त बना रहना चाहता है।

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 112

ऐसे में सवाल यह उठता है कि दलित और आदिवासी एक मंच से अपना संघर्ष चला सकते हैं या नहीं ? ऐसे ही एक प्रश्न का जवाब देते हुए रामदयाल मुण्डा ने कहा था, "यह बात सच है कि ये दोनों समुदाय ऐतिहासिक रूप में एक ही मूल से आते हैं किन्तु इतिहास की गति ने दलित को हिन्दू समाज के साथ बँधे रहने के लिए विवश किया और आदिवासी जंगलों पहाड़ों पर जा बसा। ये दोनों समुदाय ही अपने अधिकार से वंचित रहे हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ इनकी लड़ाई के मुद्दे एक हैं वहाँ-वहाँ ये एक साथ मिलकर लड़ सकते हैं।"[1]

रामदयाल मुण्डा दलित और आदिवासी के बीच के मूल अंतर को रेखांकित करते हुए भी साझा मंच की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जहाँ-जहाँ दोनों समुदाय के संघर्ष के मुद्दे एक समान हैं वहाँ दोनों को मिलकर संघर्ष करना चाहिए। अर्थात् भिन्नताओं को स्वीकार करते हुए दोनों समुदायों एवं विमर्शों को एक दूसरे का सहयोगी बनने का प्रयास करना चाहिए।

3.7 आदिवासी और स्त्री प्रश्न

आदिवासी स्त्री के बारे में सामान्य धारणा स्वाभिमानी, आत्मनिर्भर, कर्मठ और स्वाधीन होने की होती है। सामान्य एवं दलित महिलाओं से अलग उन्हें पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्त माना जाता है। यह बहुत हद तक सच है कि गैर आदिवासी महिलाओं की तुलना में आदिवासी महिलाएँ ज्यादा स्वतंत्र होती हैं। रोज केरकेट्टा इस संदर्भ में लिखती हैं, "आदिवासियों की अति प्राचीन संस्कृति को लोक साहित्य में देखें तो पाएंगे कि स्त्री आदिम युग में अपने आप में संपूर्ण थी।"[2] आगे चलकर जब आदिवासियों में गोत्र का विभाजन हुआ तब परिवार-संस्था में होते हुए भी आदिवासी स्त्रियाँ पति या पुरुष पर निर्भर नहीं थीं। रोज केरकेट्टा के अनुसार "जब तक आदिवासी समाज में गोत्र का बँटवारा हुआ, तब तक परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी के रूप में प्रतिष्ठित थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी ।"[3] इसका अर्थ यह है कि अब तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विकास

---

[1] रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी अस्मिता के पड़ताल करते साक्षात्कार, रामदयाल मुण्डा से श्रीधरम की बातचीत, पृ. सं. 47

[2] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रोज केरकेट्टा का लेख - 'आदिवासी परंपरा में औरत', पृ. सं. 89

[3] वही, पृ. सं. 89

आदिवासी समाज में नहीं हुआ था। रोज केरकेट्टा मानती हैं कि "आगे चलकर अन्य जातियों के संपर्क में आने के बाद लोक मूल्य बदले होंगे। लोक-कथाओं में राजा-रानी की कहानी का समावेश इन बदलते मूल्यों का उदाहरण है।"[1] इस तरह आदिवासी समाज जो राजा-रानी की अवधारणा को नहीं मानता था, परिविर्तत होता हुआ दिखता है। आम जीवन के संघर्षों की जगह लोक-कथाओं में राजा-रानी की कथाएँ चलने लगीं। धीरे-धीरे पुरुष शक्ति और शौर्य का प्रतीक बन गया और स्त्री परावलम्बी और कोमल मानी जाने लगी।

लोक साहित्य से शिष्ट साहित्य तक आते-आते स्त्रियों का स्वरूप काफी बदल गया। रोज केरकेट्टा इस संदर्भ में लिखती हैं, "आदिवासी शिष्ट साहित्य में स्त्री श्रम, सहिष्णु तथा ममत्व से पूर्ण तो मिलती है लेकिन अपने लिए और परिवार के लिए निर्णय लेती हुई कम दिखाई देती है। वह जीने के लिए कठिन परिश्रम करती है, देस-परदेस जाती है, सेवा करती है पर ये सब वह अपने लिए नहीं, दूसरों को प्रसन्न रखने के लिए करती है।"[2] आदिवासी स्त्रियों की अवस्था में यह अंतर साहित्य के साथ जीवन में भी आया। गैर आदिवासी परंपरा के संपर्क में आने के बाद आदिवासी परंपरा में परिवर्तन हुआ। एक तरफ गैर आदिवासी परंपराओं की स्त्री विरोधी मान्यताएँ तो दूसरी तरफ समाज की पुरानी रूढ़ियाँ और मजबूत होने लगीं। श्रम करने की स्वतंत्रता होने के बावजूद उसके श्रम का अधिकांश लाभ पुरुष को मिलने लगा। पहले आदिवासी स्त्री पारिवारिक एवं सामाजिक मामलों में निर्णय लेने व सलाह देने की अधिकारिणी थी। बाद में पितृसत्तात्मक सत्ता प्रभावी होती गई और आदिवासी स्त्री का जीवन भी कमोबेश गैर आदिवासी स्त्रियों की तरह होता गया।

बिटिया मुर्मू इस संदर्भ में लिखती हैं, "भारत की संस्कृति में महिलाओं की जो स्थिति है, आदिवासी संस्कृति में महिलाओं की स्थिति उससे बहुत भिन्न नहीं है। आम धारणा है कि आदिवासी महिलाएँ अधिकार संपन्न तथा बराबर की हकदार हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारत के अन्य समाजों की तरह आदिवासी समाज में भी बच्चे के जन्म के साथ-साथ लड़का-लड़की में अंतर शुरू हो जाता

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रोज केरकेट्टा का लेख - 'आदिवासी परंपरा में औरत', पृ. सं. 89, पृ.

[2] वही, पृ. सं. 89

है ।"[1] बिटिया मुर्मू खुलकर आदिवासी समाज के अंतर्विरोधों को प्रकट करती हैं। यह किसी भी विमर्श या साहित्य के लिए आवश्यक भी है। आत्मलोचन के अभाव में कोई भी विमर्श विकास नहीं कर सकता । इसलिए वह उस आम धारणा का खंडन करती हैं जो आदिवासी स्त्रियों के शोषण को छिपाने का काम करता है । आदिवासी संस्कृति की श्रेष्ठता के नाम पर आदिवासी समाज के अंतर्विरोध को नकारा नहीं जाना चाहिए । बिटिया मुर्मू आदिवासी संस्कृति की श्रेष्ठता को भी स्वीकार करती हैं। विधवा एवं परित्यक्ता स्त्रियों के मामले में आदिवासी समाज आज भी गैर आदिवासी समाज से ज्यादा उदार है। "आदिवासी समाज में विधवा एवं परित्यक्ता भी दुबारा शादी कर सकती है। वह पुन: अपना परिवार बसा सकती है ... ।"[2] कथित मुख्यधारा के समाज में तमाम आधुनिक विचारों के प्रचार-प्रसार के बाद भी विधवा या परित्यक्त स्त्री के लिए जीवन आसान नहीं होता।

बिटिया मुर्मू भी यह स्वीकार करती हैं कि गैर आदिवासी संस्कृति का प्रभाव तेजी से आदिवासी समाज को अपनी गिरफ्त में ले रहा है। इस संदर्भ में वह दहेज की समस्या का उल्लेख करती हैं। यह ज्ञात है कि आदिवासी समाज में दहेज की परंपरा कभी नहीं रही है परंतु कथित मुख्यधारा के संपर्क में आने के बाद यह समस्या उनमें तेजी से बढ़ रही है। आदिवासी समाज में 'पौन' की प्रथा थी। अर्थात् लड़के वाले को ही सामान्य उपहार लड़की के परिवार वालों को देना होता था । यहाँ तक कि जब तक शादी की रस्म लड़की के घर में संपन्न होती थी, बारातियों के खाने की व्यवस्था वर पक्ष वाले ही करते थे। अब भी अधिकांश आदिवासी क्षेत्रों में यह पंरपरा मौजूद है परन्तु कथित मुख्यधारा में आ चुके आदिवासी समाज में यह परंपरा क्षीण होती जा रही है । बिटिया मुर्मू के अनुसार "अब समय के साथ-साथ परिवर्तन आ रहा है। आदिवासी समाज पर भी हिन्दू समाज का प्रभाव बढ़ा है। आदिवासियों में दहेज का प्रचलन प्रारंभ हो रहा है। जितने लोग शिक्षित हो रहे हैं, दहेज खोज रहे हैं । जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति मजबूत होती जा रही है लोग बाहरी दुनिया से परिचित हो रहे हैं। उसी हिसाब से लोगों में दहेज की माँग बढ़ रही

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, बिटिया मुर्मू का लेख -'आदिवासी संस्कृति और स्त्री', पृ. सं. 90

[2] वही, पृ. सं. 90

है। यह चिंतनीय है कि यह स्थिति आदिवासी समाज में एक भयानक समस्या के रूप में उभर रही है।"[1]

दहेज समस्या आज भी हिन्दू समाज में एक भयावह सच्चाई है। तमाम आंदोलनों और कानून के बावजूद इस पर रोक नहीं लगाया जा सका है। आदिवासी समाज के संदर्भ में यह ज्यादा भयावह इसलिए हो जाता है कि इससे बचा हुआ एक समाज इस बुरी परंपरा का शिकार हो रहा है। अब तक आदिवासी समाज में दहेज के कारण हुई हत्या या आत्महत्या की खबरें नहीं आतीं। आदिवासी समाज ज्यादातर गरीब और श्रमशील समाज है। ऐसे में दहेज प्रथा वहाँ ज्यादा भयावह रूप ले सकती है। आदिवासी चिंतकों को इस चुनौती के सम्मुख होना पड़ेगा। इस रूढ़िवादी हिंदू परंपरा के बरक्स आदिवासियों की प्रगतिशील परंपरा को पुनर्जीवित करने का प्रयास करना होगा। यह आदिवासी समाज के साथ गैर आदिवासी समाज के लिए भी बेहद जरूरी हस्तक्षेप होगा।

आदिवासी संस्कृति श्रम पर आधारित संस्कृति है। श्रम का सर्वाधिक सम्मान आदिवासी समाज करता है परंतु यहाँ भी लैंगिक आधार पर भेदभाव दिखाई पड़ता है। बिटिया मुर्मू के अनुसार "हमारे समाज में महिलाओं के लिए कई कामों को करने पर मनाही है, जैसे वह छप्पर नहीं छा सकती है, हल नहीं चला सकती, तीर-धनुष नहीं छू सकती है। यानी स्त्री हमेशा पुरुष की आश्रित बनकर ही रहेगी ताकि वह स्वयं अपने बल पर कुछ नहीं कर सके।"[2]

आदिवासी समाज में इससे महिलाएँ पुरुष पर निर्भर रहती हैं। इससे आदिवासी स्त्री के चरित्र का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। छप्पर ठीक करने, हल चलाने या तीर-धनुष का व्यवहार करने पर कठोर दंड का विधान है। झारखंड की सजोनी किस्कू को (जिसका जिक्र निर्मला पुतुल की कविता में भी आता है) हल चलाने की कठोर सजा मिली थी। बिटिया मुर्मू के अनुसार उसे बैल की जगह हल में जोता गया, भूसा खाने पर मजबूर किया गया और पाँच हजार रुपये आर्थिक दण्ड भी दिया गया। इस संदर्भ में रोज केरकेट्टा लिखती हैं कि आदिवासी समाज में ऐसे कामों के लिए दण्ड का विधान सख्त से सख्त होता जा रहा है। उनके अनुसार "महिलाओं के विकास में सबसे बड़ी बाधा यहाँ की अंध परंपरा है। पिछले तीस

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, बिटिया मुर्मू का लेख-'आदिवासी संस्कृति और स्त्री', पृ. सं. 91

[2] वही, पृ. सं. 91

वर्षों से परंपरा की दुहाई देते हुए स्त्रियों को हल जोतने या हल छूने के कारण दंडित किया जा रहा है। दंड देने की प्रक्रिया कठोर तो हो ही रही है, साथ में संख्या में भी वृद्धि हो रही है। आरंभ के दिनों में यदि किसी स्त्री ने हल को भूल से छू लिया तो उसके समुदाय के लोगों ने उसे आर्थिक दंड दिया जो उसकी सामर्थ्य के अंतर्गत होता था। समय गुजरने के साथ ही सामुदायिक जीवन जटिलताओं से घिर गया, लोग स्त्री को अधिकाधिक कमजोर बनाने और उसके सामाजिक सहयोग का अवमूल्यन करने में लग गये।"[1]

आदिवासी प्रथागत नियमों का अंधानुकरण आदिवासी महिलाओं को परनिर्भर बनाने वाला साबित हो रहा है। आदिवासी महिलाओं की अवस्था में होने वाला अवमूल्यन अंतत: आदिवासी समाज के लिए नुकसानदेह साबित होगा। रोज केरकेट्टा के अनुसार असल में यह घटित हो रहा है । कोई भी समाज अपनी सामुदायिक समस्या को स्त्री के बिना नहीं सुलझा सकता । आदिवासी समाज, जहाँ स्त्रियाँ सर्वाधिक स्वतंत्र मानी जाती हैं, वहाँ इस तरह की परंपराओं का निषेध आवश्यक है। आदिवासी महिलाएँ इसके खिलाफ आवाज उठा भी रही हैं। यह एक अच्छा संकेत है । आदिवासी समाज स्त्रियों की समानता का समर्थक है । कुछ रूढ़िवादी परंपराओं के नाम पर स्त्री-पुरुष समानता में विभेद पैदा करना, संपूर्ण समाज के लिए हानिकारक है।

ऐसी ही एक रूढ़िवादी परंपरा औरत को डायन साबित करने की है । आदिवासी समाज में अक्सर औरतों पर डायन होने का आरोप लगता रहता है । रोज केरकेट्टा डायन की समस्या को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "ठीक इसी तरह लगभग पिछले तीन दशकों से स्त्री पर 'डायन' होने का आरोप लगाया जाना निरंतर बढ़ रहा है। कमजोर पारिवारिक पृष्ठभूमि और जमीन का स्वामित्व न होना इसके पीछे कारण हैं । परंतु महिलाओं की मानसिक और आर्थिक स्थिति जो उनके व्यक्तित्व को निखारती है, भी पुरुषों को चुनौती लगती है। अत: उसे पीछे खींचने के लिए भी 'डायन' होने का आरोप लगाया जाता रहा है।"[2]

रोज केरकेट्टा हल छूने, छत ठीक करने वाली समस्या की तरह 'डायन' की समस्या के संदर्भ में समय का रेखांकन प्रमुखता से करती हैं । उनके अनुसार आदिवासी समाज में यह सारी कुप्रथाएँ पिछले तीन दशकों में उभरी और विकसित

[1] रोज केरकेट्टा, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, पृ. सं. 34

[2] वही, पृ. सं. 35

हुई हैं । आदिवासी समाज की मूल परंपरा में ये सारी कुप्रथाएँ नहीं थी । अपने पूर्वजों की आत्मा तक को, उत्सवों में आह्वान करने वाला समाज जीवित स्त्री को डायन कैसे मानने लगा ? रोज केरकेट्टा का मानना है कि ये सारे अन्धविश्वास आदिवासी परम्परा के नाम पर पिछले तीस वर्षों से फैलाया जा रहा है । आदिवासी समाज का कथित मुख्यधारा के समाज के संपर्क में आना इसकी प्रमुख वजह है । इसलिए सामुदायिक संपत्ति की अवधारणा में विश्वास करने वाला समाज, संपत्ति में स्त्री के अधिकार को ख़ारिज करने के उद्देश्य से उसे डायन घोषित कर देता है । रमणिका गुप्ता डायन-प्रथा के कारणों को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "आदिवासियों में डायन होने की प्रथा बहुत ही शर्मनाक स्थिति तक पहुँची हुई है । ...दरअसल इस प्रथा का विस्तार हाल ही में अधिक हुआ है । जब आदिवासी सामूहिक खेती की बजाय रैयत बन गया, तो संपत्ति के बँटवारे का सवाल भी उठा । औरतों को संपत्ति से अलग रखने के लिए डायन प्रथा एक हथियार बन गई ।"[1]

व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा आदिवासी समाज में आयातित अवधारणा है । साथ ही विकास के नाम पर आदिवासियों की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विनष्ट किया जाना भी एक प्रमुख वजह है । एक तरफ आदिवासियों की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था टूटी तो दूसरी तरफ कथित मुख्यधारा की पितृसत्ता का प्रभाव आदिवासी समाज पर बढ़ता गया । परिणामस्वरूप स्त्रियों को बराबरी का अधिकार देने वाला समाज, हर संभव स्त्रियों को नीचा दिखाने में संलग्न हो गया । पुरुष-अहं की रक्षा में स्त्रियों को पुरुष-निर्भर बनाने की प्रक्रिया आदिवासी समाज में हावी होती गयी । रोज केरकेट्टा के अनुसार "महिलाओं को पुरुष की कृपा पर ही जीना है । यदि ऐसा नहीं होता है तो पुरुषों के अहं को चुनौती मिलती है । अत: 'डायन' पितृसत्ता की ही उपज है ।"[2]

विस्थापन आदिवासी स्त्रियों के लिए बड़ी समस्या है । विस्थापन और उससे पलायन की समस्या का ज्यादातर दंश आदिवासी महिलाओं को ही सहना होता है । इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, "विस्थापन, पलायन और औद्योगिकीकरण की सबसे ज्यादा मार आदिवासी महिलाओं को ही झेलनी पड़ी है । खदान क्षेत्रों और औद्योगिक शहरों के विकास के साथ ही आदिवासी महिलाएँ पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित हुई हैं । इन जगहों पर चाहे वह आदिवासी समाज

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 138

[2] रोज केरकेट्टा, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, पृ. सं. 36

की महिला हो या गैर-आदिवासी समाज की, दिहाड़ी मजदूर 'रेजा' हो या फिर किसी सरकारी अथवा गैर-सरकारी विभाग में कार्यरत मध्यवर्गीय महिला, दोनों ही समान रूप से उत्पीड़ित हैं।"[1]

औद्योगिकीकरण के विकास के साथ आदिवासी समाज के परंपरागत ढाँचे में बदलाव आता गया। स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया। खनिज बहुल इलाकों की आदिवासी स्त्रियों को हमेशा शोषण का सामना करना पड़ा है। उद्योगों के विस्तार के कारण विस्थापित होने की मजबूरी ने उनके जीवन को ही संकट में डाल दिया। आदिवासी औरतें अपने समाज संस्कृति से कटकर ज्यादा असुरक्षित हो गईं। इस संदर्भ में कमलेश्वर ने सही लिखा है कि "कुल मिलाकर देखा जाए तो स्त्री के आर्थिक अधिकार और सत्तात्मक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है और विस्थापन के बाद तो उसका हाल बहुत ही शोचनीय है। विस्थापन का दंश तो स्त्री ही सहती है। उसका रहन-सहन ही नहीं, रहने की सारी शर्तें, काम-धाम की निरंतरता और उसकी भाषा-संस्कृति की कड़ियाँ टूट जाती हैं।"[2]

आदिवासी संस्कृति को बनाये रखने में स्त्रियों का सर्वाधिक योगदान है। विस्थापित होने की मजबूरी में आदिवासी स्त्रियाँ अपनी भाषा और संस्कृति से दूर होती जा रही हैं। इससे आदिवासी समाज को बहुत नुकसान हो रहा है। विस्थापन आज समूचे आदिवासी समाज के लिए ही एक बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। आदिवासी स्त्रियों के लिए तो यह एक अभिशाप की तरह है। विस्थापित आदिवासी स्त्रियों को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक, तीनों स्तर पर अत्याचार सहना पड़ता है। ऐसे में उनका वापस लौटना भी लगभग असंभव हो जाता है। वे अपने आप ही अपने घर, समाज और संस्कृति से निर्वासित हो जाती हैं। चिर विस्थापन उनकी जिंदगी का अंतिम सत्य बन जाता है।

आदिवासी स्त्रियों का शारीरिक शोषण भी आदिवासी समाज की एक बड़ी सच्चाई है। आदिवासी क्षेत्र में खान, खदान, उद्योगों की बहुतायत के कारण आदिवासी स्त्रियाँ हमेशा से असुरक्षित रही हैं। विस्थापन और पलायन ने उन्हें बाजार के सम्मुख ही खड़ा कर दिया है। इन सबके अलावा गैर आदिवासी दृष्टिकोण में आदिवासी औरतें व्यक्ति कम और शरीर ज्यादा होती हैं। वंदना टेटे

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन, पृ. सं. 75

[2] युद्धरत आम आदमी,दिसम्बर 2005, कमलेश्वर का लेख- 'आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य', पृ. सं. 18-19

आदिवासी स्त्रियों के शारीरिक शोषण के लिए गैर आदिवासी समाज की पुरुषवादी दृष्टि को सर्वाधिक दोषी मानती हैं। उन्होंने लिखा, "मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि चाहे एंथ्रोपोलोजिकल स्टडी हो, सोशियोलॉजिकल स्टडी हो या फिर साहित्यिक सृजन, सभी विषयों एवं विधाओं में आदिवासी स्त्रियों को लेकर 'घोटुल' दृष्टि और उत्सुकता ही प्रमुख रही है। यह लगभग स्थापित कर दिया जा चुका है कि आदिवासी स्त्रियाँ हर वक्त, हर किसी के साथ सहवास के लिए तत्पर रहती हैं क्योंकि उनका समाज यौन वर्जना से मुक्त समाज है।"[1]

यह कथित मुख्यधारा के समाज की वैसी ही समझ है, जो उनमें पश्चिमी राष्ट्रों की स्त्रियों के बारे में सामान्यत: पाई जाती है। घोटुल, यौन क्रियाओं को महत्व देने वाली प्रथा नहीं थी। बल्कि इस पारंपरिक शिक्षा केन्द्र में आदिवासी स्त्री-पुरुषों की समुचित शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था होती थी। इसे आदिवासियों का वाचिक विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। जहाँ पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को अपना अनुभव और ज्ञान हस्तांतरित करती थी। यह सच है कि इस व्यवस्था में स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते थे। यौन वर्जनाओं से भी यह मुक्त था। इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी स्त्री को उपभोग मात्र की वस्तु समझा जाए।

आदिवासी स्त्रियाँ बलात्कार की भी शिकार होती हैं परंतु कथित मुख्य धारा के समाज की तरह 'इज्जत' की अवधारणा आदिवासी समाज में प्रचलित नहीं है। गैर आदिवासी समुदाय में बलत्कृत स्त्री, समाज से बहिष्कृत कर दी जाती है। 'इज्जत' लुट जाने के नाम पर उस स्त्री को पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से बेदखल कर दिया जाता है। आदिवासी समाज में ऐसा नहीं है। इसे स्पष्ट करती हुई वंदना टेटे लिखती हैं, "आदिवासी समाज में स्त्रियाँ सिर्फ इज्जत की वस्तु नहीं हैं बल्कि वे पुरुषों की तरह ही संपूर्ण इंसान हैं। इसलिए इज्जत को लेकर उनकी अवधारणा पितृसत्तात्मक समाज से बिल्कुल भिन्न है। हमारे लिए बलात्कार इंसानी गरिमा के साथ किये जाने वाले दूसरे बर्बर व्यवहारों की तरह ही एक क्रूर और अमानवीय व्यवहार है।"[2]

विकास की राजनीति से प्रभावित आदिवासी समाज अपनी तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद स्त्रियों को अब भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। आदिवासी

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 72

[2] वही, पृ. सं. 74

समाज में स्त्रियों को इज्जत की वस्तु न समझा जाना इसका बहुत बड़ा प्रमाण है। कथित मुख्यधारा की पितृसत्तात्मक समाज की इस निर्मिति से स्त्रीवादी आंदोलन लगातार संघर्षरत है। स्त्रीवादी आंदोलन लगातार यह माँग करता रहा है कि बलात्कार को स्त्री के इज्जत की अवधारणा से अलग करके देखा जाना चाहिए। बलात्कार को क्रूर अमानवीय व्यवहार माना जाना चाहिए। आदिवासी समाज स्वाभाविक रूप से स्त्रियों की इंसानी गरिमा में विश्वास करने वाला समाज है। तभी तो बिना किसी कथित प्रगतिशील, आधुनिक या नारीवादी आंदोलन के वह यह समझता है कि जबरन किया गया शारीरिक संबंध का औरत की मान-सम्मान से कोई रिश्ता नहीं होता। इज्जत की अवधारणा का न होना, आदिवासी समाज की प्रगतिशीलता और क्रांतिकारिता का प्रमाण है।

इस संदर्भ में रणेन्द्र का यह कहना उचित प्रतीत होता है, "श्रम आधारित जीवन-शैली ने स्त्रियों के प्रति सहज समता-सम्मान भाव का संस्कार दिया है। मुख्यधारा का 'जनाना-जनानी' और आदिवासी समाज का 'सियानी' शब्द की व्याख्या इस गहरे फर्क को स्पष्ट करती है। जहाँ आदिवासी समाज अपनी स्त्रियों की बुद्धिमत्ता मस्तिष्क के सौन्दर्य, सियानेपन को 'सियानी' कहकर रेखांकित करता है। वहीं वर्चस्वशाली समुदाय स्त्री के गर्भ-त्वचा के स्तर पर ठिठका हुआ है। जबकि नारीवाद की धाराएँ इसी मस्तिष्क के सौंदर्य को रेखांकित किए जाने की माँग तो दशकों से कर रही हैं।"[1]

नारीवाद की दशकों की माँग को आदिवासी समाज सदियों से जी रहा है। श्रम और मस्तिष्क के सौंदर्य को आदिवासी समाज सर्वाधिक महत्व देता है। श्रम की संस्कृति स्वभावत: समता भाव की समर्थक होती है। यह आदिवासी समाज की स्त्री दृष्टि में भी परिलक्षित होता है। आदिवासी समाज में पिछले कुछ दशकों में तेजी से ढाँचागत परिवर्तन आया है। इसलिए बहुत सारी कुप्रथाओं का भी समावेश आदिवासी संस्कृति में हुआ है। इसलिए यह आवश्यक है कि आदिवासी समाज अपनी कमजोरियों एवं अंतर्विरोधों की पहचान कर व्यवहार में आ रही कुप्रथाओं को समाप्त करने की कोशिश करे। आदिवासी स्त्रियों के साथ आदिवासी समाज भी इस ओर सजग हो रहा है। निर्मला पुतुल की बात यहाँ उल्लेखनीय प्रतीत होती है, "परम्परागत चीजों और रीति रिवाजों को लेकर मेरी धारणा यह रही है, जिसे मैं

[1] अनुज लुगुन (संपा.), आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, रणेन्द्र का लेख-'हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिन्तन ;संघर्ष,सपने चुनौतियां और 21वीं सदी', पृ. सं. 89

अक्सर अपने लोगों के बीच शिद्दत से रखती रही हूँ कि वैसी चीजें जो हमारी पहचान और अस्मिता को बनाये रखने में सहायक हैं, उन्हें हर कीमत पर बचाये रखने के लिए संघर्ष करना चाहिए और जो हमारे विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहे हों उन रीति-रिवाजों और परंपराओं का मोह छोड़कर पूरी शक्ति से उसका सामूहिक विरोध करना चाहिए।"[1]

यह आदिवासी समाज के विकास और बने रहने के लिए अत्यंत आवश्यक है कि वह अपने अंतर्विरोधों से यथाशीघ्र निजात पाने के लिए संघर्ष करे। निर्मला पुतुल का यह कहना उचित प्रतीत होता है कि आदिवासी समाज द्वारा प्रगतिशील परम्पराओं का संरक्षण और समाज विरोधी मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों का त्याग करना चाहिए। आदिवासी समाज और संस्कृति के लिए यह बेहद जरूरी है कि उभरकर आई स्त्री विरोधी प्रथाओं का जल्द से जल्द त्याग करे और स्त्री-पुरुष की समरसता वाली अपनी संस्कृति को पुन: पूरी शक्ति से विकसित करे।

3.8 आदिवासी भाषाओं का प्रश्न

भाषा का प्रश्न किसी भी समुदाय के अस्तित्व और अस्मिता से जुड़ा हुआ होता है। भाषा के साथ संस्कृति का प्रश्न भी सन्निहित होता है। एक के नष्ट होने पर दूसरे का नष्ट होना भी अवश्यंभावी है। संस्कृति के अभाव में कोई भी समुदाय अपनी अस्मिता को सुरक्षित नहीं रख सकता। ऐसे में उस समुदाय का अस्तित्व या तो समाप्त हो जाता है अथवा किसी अन्य समुदाय में समाहित हो जाता है। आदिवासी समुदाय के संदर्भ में यह अत्यधिक रूप से प्रांसगिक है। बहुत सारे आदिवासी समुदाय भाषा और संस्कृति के विनाश के कारण लुप्त होने के कगार पर पहुँच गये हैं। इसलिए भाषा का प्रश्न सीधे तौर पर आदिवासियों के अस्तित्व के सवाल से जुड़ा हुआ है। आदिवासी की भाषा पर संकट उपनिवेशकाल से शुरू होता है। ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक नीति आदिवासियों के विरूद्ध आजादी के बाद भी जारी रही। आदिवासी क्षेत्र आज भी आंतरिक उपनिवेश की ही तरह हैं। उपनिवेशवादी शक्तियों के षड्यंत्र को न्यूगी वा थ्योंगो स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "उपनिवेशवाद का वास्तविक उद्देश्य जनता की संपत्ति पर नियंत्रण रखना था। ...बिना मानसिक नियंत्रण के आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण न तो कभी पूरा हो

[1] रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, निर्मला पुतुल से प्रोमिला की बातचीत, पृ. सं. 89

सकता है और न कारगर। ...उपनिवेशवादियों की इस प्रक्रिया में दो पहलू निहित थे, जन संस्कृति का विध्वंस अर्थात् जनता की कला, नृत्य, धर्म, इतिहास, भूगोल, शिक्षा, मौलिक साहित्य और लिखित साहित्य का विध्वंस अथवा जान-बूझकर जन संस्कृति के महत्त्व को कम करके आँकना। इसका दूसरा पहलू था उपनिवेशवादियों की भाषा को सचेत ढंग से काफी विकसित भाषा के रूप में प्रस्तुत करना। गुलाम देशों की जनता के मानसिक जगत पर प्रभुत्व कायम करने के लिए यह बुनियादी शर्त थी कि जनता की भाषा पर उपनिवेशवादी देशों की भाषा का प्रभुत्व हो।"[1]

न्यूगी वा थ्योंगो इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि कैसे शोषित समुदायों को मानसिक रूप से गुलाम बनाये जाने की कोशिश की जाती है। आदिवासियों की जन संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास ब्रिटिश काल से ही चल रहा। आज भी वह अनवरत रूप में जारी है। आदिवासी की भाषा पर भी प्रभुत्व जमाने की कोशिशें चल रही हैं। नव उपनिवेशवाद और बाजारवादी ताकतों के प्रभुत्व के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासी अपनी भाषा का त्याग कर कथित मुख्यधारा की भाषा को स्वीकार कर लें। आदिवासी समाज की प्रतिरोधी चेतना को नष्ट करने के लिए उनका सांस्कृतिक रूप से पराजित होना आवश्यक है।

अंग्रेजों ने भी इस देश में आने के बाद सर्वप्रथम भारतीयों को सांस्कृतिक रूप से पराजित किया। अपनी भाषा और संस्कृति को श्रेष्ठतर रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। वीर भारत तलवार के अनुसार "वास्तव में हर विजेता जाति यह साबित करने की कोशिश करती है कि उसकी संस्कृति, भाषा-साहित्य, धर्म तथा मूल्य अधिक श्रेष्ठ हैं...हर विजेता जाति ने विजित जाति को बर्बर कहा है, असभ्य कहा है, राक्षस कहा है।"[2] आदिवासियों को असभ्य बताकर, उन पर शासन करने का प्रयास अब भी जारी है। आज यह ज्यादा आक्रामक तौर पर हो रहा है क्योंकि वे तथाकथित विकास के लिए बाधक सिद्ध हो रहे हैं। इसलिए उनकी भाषा भी संकट की चपेट में है क्योंकि आज हमले का स्वरूप दोतरफा है।

निर्मल मिंज के अनुसार "भाषा, संस्कृति और साहित्य आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता के मुद्दे हैं। ...आज से पचास वर्षों के बाद मेरा कुड़ुख भाषी उराँव समाज एक मृतप्राय स्थिति में जाने की राह पर है। समाज के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न खड़ा होता जा रहा है तो उसकी भाषा, संस्कृति और साहित्य की दशा कैसे

[1] न्युगी वा थ्योंगो, भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. सं. 26-27

[2] वीर भारत तलवार, झारखंड के आदिवासियों के बीच, पृ. सं. 226

अच्छी हो सकती है ? ...जिस समाज की भाषा संस्कृति और साहित्य मिट जाएंगे उस समाज का अस्तित्व और अस्मिता कहाँ रह पाएगी ।"[1]

कुडुख भाषी उराँव समाज के माध्यम से निर्मल मिंज आदिवासियों पर हो रहे दोतरफा हमले को स्पष्ट करते हैं । एक तरफ आदिवासियों के अस्मिता एवं अस्तित्व को नष्ट करके आदिवासी भाषा और संस्कृति को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है तो दूसरी तरफ आदिवासियों की भाषा एवं संस्कृति को भी नष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है । किसी भी समुदाय के जीवित एवं क्रियाशील रहने के लिए उसकी संस्कृति का बचा रहना आवश्यक है। संस्कृति का अस्तित्व अनिवार्यत: भाषा पर आधारित होता है । ऐसे में उराँव समाज के अस्तित्व, अस्मिता और संस्कृति को बनाए रखने के लिए कुडुख भाषा का बचा रहना अत्यंत आवश्यक है।

आदिवासी चिंतक भाषायी संकट के लिए भूमंडलीकरण के साथ-साथ भारत सरकार की नीतियों को भी दोषी मानते हैं । भारत में पूर्वोत्तर राज्यों को छोड़कर लगभग पचहत्तर आदिवासी समूह निवास करते हैं । इनमें से कुछ प्रमुख आदिवासी समूहों को छोड़कर अधिकांश अपनी भाषा खो चुके हैं या खोने के कगार पर हैं अथवा बहुसंख्यक समुदाय में घुल मिल गई हैं। आदिवासी भाषाओं के पास लिपि का न होना भी इनके लुप्त होने की एक मुख्य वजह है । अब बहुत सारे आदिवासी समुदाय इस ओर जाग्रत हो रहे हैं। अपनी अस्मिता और अस्तित्व रक्षा के लिए भाषा का संरक्षण उन्हें जरूरी प्रतीत होने लगा है। इसलिए वे अपनी लिपि विकसित करने पर भी जोर दे रहे हैं। उराँव और संथाली भाषाओं में लिपि निर्माण का प्रयास उनकी चिंता को प्रदर्शित करता है।

इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, "भाषाएँ परंपराओं का सबसे प्रामाणिक दस्तावेजीकरण है । सहज और बेहद सरल । गैर आदिवासी विश्व और उसकी शासन व्यवस्था पहला सुनियोजित प्रहार भाषाओं पर ही करती हैं। ताकि समुदाय विशेष को कुंद और लुप्त किया जा सके । चूँकि ऐतिहासिक चेतना और ज्ञान की परंपरा भाषा के जरिये ही सक्रिय रहती है इसलिए उसके खात्मे के लिए समूची शिक्षा प्रणाली मालिक की भाषा में विकसित की और थोपी जाती है । फिर आजीविका, पद-प्रतिष्ठा नहीं देने वाली निष्क्रिय और अकर्मण्य भाषा के रूप में

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, निर्मल मिंज का लेख - 'आदिवासी भाषा, संस्कृति और साहित्य में अस्मिता', पृ. सं. 29

उसे लगातार टारगेट किया जाता है। अनुपयोगी और अप्रासंगिक बताते हुए उसे मृत भी घोषित कर दिया जाता है।"[1]

आदिवासी समुदाय की तरह उनकी भाषा भी सत्ता वर्ग के निशाने पर रही है। वंदना टेटे आदिवासी साहित्य एवं आदिवासी समाज की प्रासंगिकता इसके विश्व दृष्टिकोण में मानती हैं। आदिवासी विश्व-दृष्टिकोण सामूहिकता और सह-अस्तित्व में विश्वास करता है। वह अन्य समुदाय के प्रति भी प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता का भाव नहीं रखता। इस विश्व-दृष्टिकोण के बने रहने और विकसित होने के लिए आदिवासी भाषा का बचा रहना आवश्यक है क्योंकि किसी भी समुदाय की ऐतिहासिक चेतना और ज्ञान की परंपरा भाषा में ही निवास करती है। आदिवासी विश्व-दृष्टिकोण आज तथाकथित विकास की अवधारणा को चुनौती दे रहा है, इसलिए सत्ता और बाजार की तरफ से उनकी भाषाओं पर सुनियोजित तरीके से आक्रमण हो रहा है। हरिराम मीणा भी भाषा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उनका इस सन्दर्भ में मानना है कि "भाषा एक मानसकिता का प्रतिनिधित्व करती है और भाषा के विलुप्त होने के साथ उस मानसिकता, दृष्टिकोण एवं संस्कृति का नष्ट होना निश्चित है।"[2]

आदिवासी भाषाओं को अक्सर अनुपयोगी और अप्रासंगिक सिद्ध करने का भी प्रयास होता रहा है। भाषा के प्रश्न को आजीविका के प्रश्न से जोड़कर देखा जाता है। आजीविका प्रदान करने के अभाव में भाषा को अकर्मण्य घोषित कर दिया जाता है। वंदना टेटे के अनुसार ऐसे में भाषाओं को मृत भी घोषित कर दिया जाता है। जबकि न्यूगी वा थ्योंगो का इस संबंध में मानना है कि "भाषाएँ न तो कभी बूढ़ी होती हैं और न मरती हैं। वे अपनी संरचना में किसी तात्विक दोष के कारण 'आधुनिक युग' के लिए अप्रासंगिक भी नहीं होती। वे तभी गुम होती है जब समाज के प्रभुत्वकारी वर्ग के पास उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।"[3]

भारत के प्रभुत्व वर्ग के लिए आदिवासी भाषाओं की कोई जरूरत आज नहीं बची है, बल्कि ये बाधक ही ज्यादा हैं। हिन्दी भाषा को भी कई बार ऐसे ही कारणों से प्रासंगिकता के प्रश्नों से उलझना पड़ता है। हिन्दी भाषा एवं साहित्य की प्रासंगिकता का प्रश्न चर्चा में आता रहता है। ऐसे में हिन्दी भाषी लोगों का भी

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 21

[2] हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, पृ. सं. 132

[3] न्यूगी वा थ्योंगो, औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति, पृ. सं. 7

दायित्त्व बनता है कि वे आदिवासी भाषा-भाषी लोगों के साथ एकता प्रदर्शित करें। प्रभुत्व वर्ग जहाँ अपने हितों को साधने के लिए भाषा का प्रयोग करता है वहीं आम जनता वह आदिवासी हो या गैर-आदिवासी, जीवन व्यवहार के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। विभिन्न भाषाओं का अस्तित्व व्यापक समाज के लिए भी आवश्यक है क्योंकि विभिन्न संस्कृतियों से मिलकर ही कोई राष्ट्र संपूर्ण होता है।

निर्मला पुतुल के अनुसार "दरअसल भाषा की मौत व्यक्ति की मौत से बड़ी परिघटना है। भाषा एक सामाजिक संपत्ति है, सामूहिक विरासत है। इसलिए किसी भी भाषा की मौत का अर्थ है एक जाति, एक समुदाय, एक समूह के पूरे वजूद की समाप्ति। भाषा की मौत के साथ ही उस जाति, समुदाय, समूह का इतिहास, भूगोल, सांस्कृतिक मूल्य सौंदर्य चेतना का अंत हो जाता है जिसका निर्माण सदियों-सदियों में बड़ी मुश्किल से होता है।"[1] निर्मला पुतुल इस बात को रेखांकित करने का प्रयास करती हैं कि भाषा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक निधि होती है। भाषा में सामाजिक विरासत समाहित रहती है जिससे उसके बोलने वालों का अस्तित्व जुड़ा रहता है। किसी एक भाषा का निर्माण एक दिन की परिघटना नहीं होती बल्कि वर्षों का जीवनानुभव उसमें शामिल रहता है। पीढ़ी दर पीढ़ी भाषा विकसित होती जाती है। ऐसे में किसी भी भाषा का संरक्षण बेहद जरूरी हो जाता है, विशेषकर आदिवासी भाषाओं का। एक भरा पूरा अनुभव का संसार, आदिवासी भाषा के लुप्त होते ही नष्ट हो जाएगा। प्रकृति के अनेक राज, पृथ्वी को बचाकर रखने का तरीका सब लुप्त हो जाएगा। बाजारवाद के इस दौर में जहाँ मुनाफा ही अंतिम सत्य है। वहाँ आदिवासी भाषाओं को बचाना मनुष्यता को बचाने से संबंधित है।

इसलिए "आदिवासी विमर्श में आदिवासी भाषाओं को बचाने का सवाल बुनियादी चिंताओं में शामिल है। जिन तत्वों से आदिवासी अस्मिता प्रभावित होती है उनमें आदिवासियों की भाषा भी एक प्रमुख तत्व है।"[2] आदिवासी मातृभाषाओं के प्रति बेहद संवेदनशील होते हैं। दलित विमर्श में जहाँ भाषाओं को बचाने की चिंता न्यूनतम रूप में पाई जाती हैं। वहीं आदिवासी विमर्श मातृभाषाओं के प्रश्न को अपने अस्तित्व और अस्मिता से जोड़कर देखता है। आदिवासी समुदाय की

---

[1] गंगा सहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, निर्मला पुतुल का लेख - 'वैश्वीकरण के भँवर में आदिवासी भाषा-साहित्य', पृ. सं. 65

[2] गंगा सहाय मीणा (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादकीय, पृ. सं. 11

सामजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अस्मिता के अक्षुण्ण बने रहने के लिए आदिवासी भाषाओं का भी अक्षुण्ण बने रहना अत्यंत आवश्यक है।

3.9 आदिवासी साहित्य का महत्त्व

साहित्य के क्षेत्र में जब कोई नया स्वर उभरकर आता है, उसकी प्रासंगिकता से संबंधित प्रश्न पूछे जाने लगते हैं। आदिवासी साहित्य क्यों ? यह प्रश्न भी इस क्रम का हिस्सा है। अपने समय की जरूरतों के कारण ही किसी साहित्य का जन्म होता है। ऐसे में आदिवासी साहित्य की आवश्यकता को भी परखा जाना आवश्यक है।

आदिवासी साहित्य क्यों ? का जवाब देते हुए महादेव टोप्पो लिखते हैं, "सभ्य या शिष्ट कहा जाने वाला साहित्य आदिवासी जीवन एवं उसकी समस्याओं को अंतरंगता एवं आत्मीयता से देख नहीं पाता क्योंकि वह उनके परिवेश से परिचित नहीं होता। ...ऐसे में समय आ चुका है कि आदिवासी साहित्यकार अपने संसार और सभ्य कहे जाने वाले संसार को देखे और समझे। साहित्य सृजन का ऐसा एक प्रयास एक नया आविष्कार करने जैसा ही होगा।"[1]

आदिवासी जगत का जीवन, तथाकथित मुख्यधारा के जीवन से अलग होता है। महादेव टोप्पो का मानना है कि इसी कारण शिष्ट कहा जाने वाला साहित्य आदिवासी एवं उनके जीवन को संपूर्णता में देख-समझ नहीं पाता। मुख्यधारा का समाज पूर्वाग्रहों से युक्त होकर आदिवासी समाज को देखता है। इसलिए यह जरूरी है कि आदिवासी साहित्यकार स्वयं साहित्य सृजन करे। महादेव टोप्पो का मानना है कि आदिवासी साहित्यकारों पर यह महती जिम्मेदारी है कि वह आदिवासी जीवन को संपूर्णता में सभ्य कहे जाने वाले समाज के सामने प्रस्तुत करें। उनके अनुसार आदिवासियों द्वारा साहित्य सृजन का यह प्रयास किसी आविष्कार जैसा ही चौंकाने वाला साबित हो सकता है।

आदिवासी समुदाय इस देश का एक अविच्छन्न हिस्सा है परंतु लगातार उसे विकास के नाम पर हाशिये पर धकेला जाता रहा है। इसलिए मुख्यधारा के साहित्य में भी उसकी स्पष्ट तस्वीर नहीं दिखाई देती। महादेव टोप्पो के अनुसार "आज आदिवासी यह देखता है कि साहित्य के दर्पण में उसकी तस्वीर है ही नहीं।

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, महादेव टोप्पो का लेख - आदिवासी साहित्य का विकास, पृ. सं. 108

अगर कहीं पर है तो उसे उसकी एक धुंधली आकृति भर नजर आती है। अगर साहित्य के दर्पण में वह अपनी पूरी झलक देखना चाहता है तो...अपने आपको विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, भाषिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थितियों में देखे कि वह कहाँ है, कैसे है और क्यों है ? संक्षेप में कहें तो इन्हीं प्रश्नों से जूझना आदिवासी साहित्य का भविष्य है।"[1]

अर्थात् आदिवासी साहित्य का एक लक्ष्य साहित्य के दर्पण में आदिवासियों की स्पष्ट छवि को अंकित करना है। महादेव टोप्पो के अनुसार यह आसान बिल्कुल नहीं है। उनके अनुसार साहित्य की दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज करने के लिए साहित्यकारों को कई सारे प्रश्नों से जूझना होगा। आदिवासियों को इतिहास, भूगोल, संस्कृति, राजनीति, भाषा आदि के स्तर पर गंभीरता से अपनी पड़ताल करनी होगी । साथ ही उन कारणों को भी रेखांकित करना होगा जिससे आदिवासियों को हमेशा उपेक्षित होना पड़ा है। महादेव टोप्पो के अनुसार इन्हीं प्रश्नों के लिए किए जाने वाले संघर्ष में ही, आदिवासी साहित्य का भविष्य निहित है । महादेव टोप्पो आदिवासी साहित्य की आवश्यकता एवं महत्त्व को सिर्फ आदिवासी समाज तक ही सीमित नहीं मानते। उनके अनुसार "आदिवासी साहित्य अपनी व्यापकता में अपनी जीवन-शैली की सीमा से परे, उन हर मानवीय पक्षों, संघर्षों एवं संवेदनाओं को जगाता है, झिंझोड़ता है, ललकारता है जो किसी कारणवश जबरन सुला दिये गये हैं। इसमें हर अमानवीय और असंवैधानिक पहलुओं के प्रति स्वत: स्फूर्त विरोध है।"[2]

आदिवासी साहित्य निश्चित रूप से आदिवासियों की समस्याओं, चिंताओं और चुनौतियों को स्वर देने वाला साहित्य है। आदिवासी साहित्य का यह मुख्य लक्ष्य होते हुए भी वह इतने तक में ही सीमित नहीं है। महादेव टोप्पो के अनुसार इसमें हर अमानवीय और असंवैधानिक पहलुओं के प्रति स्वत: स्फूर्त विरोध निहित है। अर्थात् मानवीय शोषण की सामाजिक एवं असंवैधानिक कृत्यों के प्रति संघर्ष करना आदिवासी साहित्य का लक्ष्य है। आदिवासी समुदाय जैसे सिर्फ स्व को महत्त्व न देकर व्यापक समाज को महत्त्वपूर्ण मानता है, वैसे ही आदिवासी समुदाय

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, महादेव टोप्पो का लेख - आदिवासी साहित्य का विकास, पृ. सं. 108

[2] वही, पृ. सं. 108

भी सिर्फ आदिवासी जीवन-शैली से अनुप्राणित साहित्य नहीं है । वस्तुत: इस साहित्य में समाज, देश और दुनिया को बेहतर बनाने की आकांक्षा है ।"[1]

आदिवासी विमर्श विकास की राजनीति का प्रत्युत्तर भी है । विकास की अवधारणा, उद्देश्य और प्रासंगिकता को सही अर्थों में परिभाषित करने का प्रयास आज का आदिवासी साहित्य कर रहा है । इस संदर्भ में रमेशचंद मीणा लिखते हैं, "जो विकास देश के लिए जरूरी बताया जा रहा है, वही उनके लिए संकटकारी साबित हो रहा है । ...आदिवासी का संकट आमजन की चिंता न होना गलत सोच का नतीजा है । जिन बातों से इलीट वर्ग विकास कर रहा है वह किसान, दलित और आदिवासी की कीमत पर संभव हो रहा है । आदिवासी विमर्श मानवता को बचाने के लिए जरूरी उपक्रम है ।"[2]

महादेव टोप्पो की तरह रमेशचंद मीणा भी आदिवासी साहित्य एवं विमर्श को मानवता को बचाने वाला मानते हैं । विकास के नाम पर सिर्फ आदिवासियों का अस्तित्व ही खतरे में नहीं है बल्कि संपूर्ण समाज पर इसका विपरीत असर हो रहा है । किसान, दलित, स्त्री, आदिवासी सभी वर्ग इससे प्रभावित हो रहे हैं । ऐसे में आदिवासी विमर्श विकास के नाम पर होने वाले पर्यावरण के संकट पर भी चिंता प्रकट करता है । पर्यावरण किसी एक समुदाय के लिए जरूरी न होकर संपूर्ण मानव जाति की अनिवार्य जरूरत है । रमेशचंद मीणा लिखते हैं, "सवाल यहाँ केवल आदिवासी अस्मिता का नहीं है इसे हम भारत के भविष्य के पर्यावरण की दृष्टि से देख सकते हैं । अगर हम आज आदिवासी के सवाल पर उचित तरह से विचार करेंगे तो हम भावी मानवता के लिए शुद्ध पर्यावरण छोड़कर जाएंगे । आपका विकास आने वाली पीढ़ी के लिए हरियाली विहीनता, सूखे कुएँ, सूखी नदियाँ छोड़कर जाने वाला है । इसलिए आज आदिवासी नष्ट हो रहा है तो कल सभी का जीवन अंधकारमय हो सकता है ।"[3]

आदिवासी साहित्य की जरूरत पर्यावरण के संरक्षण के लिए अत्यंत आवश्यक है । यह तो ज्ञात बात है कि सारी दुनिया में विकास के नाम पर पर्यावरण को नष्ट किया जा रहा है । यह सच है कि इससे सबसे ज्यादा प्रभावित जंगलों-पहाड़ों में निवास करने वाला आदिवासी समुदाय ही हो रहा है । इसके बावजूद

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, महादेव टोप्पो का लेख - आदिवासी साहित्य का विकास, पृ. सं. 108

[2] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तक : विचार परंपरा और साहित्य, पृ. सं. 5

[3] वही, पृ. सं. 7

पर्यावरण का संकट सिर्फ आदिवासी समुदाय से ही संबंधित नहीं है वरन् समस्त मानव जाति ही इससे संकट की स्थिति में आ गई है । विकास के नाम पर बाजारवादी शक्तियों के विनाशकारी षड्यंत्रों का प्रतिकार आदिवासी विमर्श में सन्निहित है। आदिवासी विमर्श का प्राथमिक लक्ष्य आदिवासी समुदाय होते हुए भी इसके व्यापक लक्ष्यों में संपूर्ण मानता के कल्याण का स्वर निहित है।

आदिवासी साहित्य की विश्वदृष्टि आज संपूर्ण मानवता के लिए वांछनीय है। मुख्यधारा के साहित्य एवं विचार परंपरा की उपेक्षा से आदिवासी विमर्श का उद्भव हुआ है। आदिवासियों की समस्या को गौण मानते हुए, न ही उनसे संबंधित साहित्य रचा गया और न ही उनपर प्रमुखता से विचार किया गया । ऐसे में आदिवासी-विमर्श का साहित्य एवं विमर्श की धरातल पर उपस्थित होना अपरिहार्य हो गया। इस संदर्भ में आदिवासी साहित्य की जरूरत को स्पष्ट करते हुए वंदना टेटे लिखती हैं, "आदिवासी साहित्य की अपनी भावभूमि, सौंदर्यबोध और विश्वदृष्टि है। वह सामूहिक मूल्यों और सह-अस्तित्व में यकीन करता है और इसलिए वहाँ व्यक्तिवादी नायक नहीं है । सदियों से उपेक्षित, वंचित और प्रताड़ना झेल रहे आदिवासी समाज और साहित्य को अब और ज्यादा दिनों तक हाशिये पर नहीं रखा जा सकता। वे आ रहे हैं और रच रहे हैं मानवीय गरिमा से युक्त एक ऐसी नई दुनिया, जिसकी आकांक्षा पूरी दुनिया करती रही है।"[1]

आदिवासी साहित्य का लक्ष्य आदिवासी विश्वदृष्टि को विकसित करनाहै। इस विश्वदृष्टि के अनुसार व्यक्ति अकेला न होकर एक समुदाय होता है। प्रकृति मात्र पेड़, जंगल या पहाड़ नहीं होती बल्कि मनुष्य के अस्तित्व की पूरक होती है। वंदना टेटे के अनुसार आदिवासी सामूहिक मूल्यों और सह-अस्तित्व में आस्था रखते हैं। इसी कारण मानवीय गरिमा का विकास, आदिवासी विश्वदृष्टि का मुख्य लक्ष्य होता है। आज के व्यक्तिवादी और बाजारवादी समय में आदिवासी विमर्श उपभोक्तावादी विश्वदृष्टि का विकल्प प्रस्तुत कर रहा है । वंदना टेटे के अनुसार पूरी दुनिया जिस मानवीय गरिमा से रहने की आकांक्षी है, आदिवासी विमर्श उसे स्वर देने वाला साहित्य प्रस्तुत कर रहा है। ऐसे में आदिवासी साहित्य और विमर्श संपूर्ण मानवता के संरक्षण एवं विकास के लिए वांछनीय प्रतीत होता है।

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 57

3.10 निष्कर्ष

जाति प्रश्न और स्त्री पक्ष पर विचार करने की एक पूरी परम्परा हमारे यहाँ मौजूद है पर उस अनुपात में आदिवासियों पर विचार बहुत कम हुआ है। आदिवासियों की उपस्थिति कथित मुख्यधारा के समाज के साथ उसके साहित्य में भी नगण्य रही है। इस अध्याय में हुए विश्लेषण से पता चलता है कि आदिवासी हमारे व्यापक समाज के ही अभिन्न अंग हैं और उनके अस्तित्व के बिना समाज का स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। इसलिए आदिवासी विमर्श की उपस्थिति ने साहित्य के साथ-साथ समाज को भी प्रभावित किया है। रचना और आलोचना की सामाजिकता पर पुनर्विचार की जरूरत को इस विमर्श ने गंभीरता से हमारे सामने रखा है।

विश्व के आदिवासियों के साथ हमारे देश के आदिवासी समुदाय भी अस्तित्व संकट का सामना कर रहे हैं। कई आदिवासी समुदायों की भाषा और संस्कृति लुप्त होने के कगार पर है। कोई भी देश अपनी विविधता में ही सर्वश्रेष्ठ तरीके से जीवित रह सकता है। एक देश के तौर पर हमारे दायित्त्व का गंभीर तरीके से बोध कराने का काम आदिवासी विमर्श कर रहा है। आदिवासी साहित्य और आलोचना आदिवासियों के वैकल्पिक जीवन पद्धति और संस्कृति से परिचय कराते हुए, कथित मुख्यधारा के समाज और संस्कृति के लोकतांत्रिक स्वरूप को ही मजबूत करने का प्रयास कर रहा है।

चतुर्थ अध्याय

4. समकालीन हिन्दी आलोचना और मुस्लिम विमर्श

इस अध्याय में मुस्लिम लेखन की समस्याओं और चुनौतियों पर विचार किया जाएगा। मुसलमानों की समस्या एवं चुनौतियों के संदर्भ में साहित्य लगातार लिखा जाता रहा है परंतु आलोचना के स्तर पर उनकी उपस्थिति बहुत कम है। मुस्लिम प्रश्न पर विचार अवश्य हुए हैं, पत्रिकाओं के विशेषांक भी निकले हैं परंतु स्त्री या दलित विमर्श की भांति इसका संगठित रूप अभी दिखाई नहीं देता है। इसके बावजूद हिन्दी आलोचना के अंतर्गत यह एक विचारणीय पहलू है।

मुस्लिम प्रश्न पर विचार अब तक उस गंभीरता से नहीं हुआ है, जिस तरह से होना चाहिए था। इस संदर्भ में राजकिशोर ने लिखा है, "भारत में मुसलमान सबसे बड़ा अल्पसंख्यक वर्ग है - पूरी आबादी का लगभग 12 प्रतिशत। उनकी बहुत बड़ी आबादी हिन्दी बोलने वालों की है। यह और बात है कि जनगणना करने वाले कर्मचारी मुसलमान देखते ही उसकी भाषा उर्दू लिख देते हैं। किन्तु खेद की बात है कि हिन्दी में मुसलमानों की समस्याओं पर वस्तुपरकता के साथ विचार करने वाली पुस्तकें बहुत कम हैं। कह सकते हैं, नहीं के बराबर।"[1]

अल्पसंख्यक प्रश्न पर विचार करने एवं उसकी समस्याओं को समझने की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए असगर वजाहत लिखते हैं, "बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों के बीच का रिश्ता किसी भी समाज को समझने की एक महत्त्वपूर्ण कुँजी है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में यह स्वस्थ और बराबरी का होता है, एकाधिकारी और फासीवादी समाजों में यह रिश्ता घृणा तथा हिंसा से भरा होता है। ...निश्चित रूप ये यह रिश्ता उस समय तक मित्रता, बराबरी और सहयोग का रिश्ता नहीं बनेगा, जब तक देश में लोकतंत्र स्थापित नहीं होगा और धर्म तथा जाति की राजनीति का बोलबाला रहेगा।"[2]

असगर वजाहत के अनुसार एक तरफ तो अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक समुदाय का सम्बन्ध किसी समाज को समझने का आधार होता है तो दूसरी तरफ वह लोकतंत्र की स्थिति का भी सूचक होता है। असगर वजाहत मानते हैं कि

---

[1] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, पृ. सं. 7 (भूमिका)

[2] हंस, अगस्त 2003, असगर वजाहत का लेख -'भारतीय मुस्लमान : वर्तमान और भविष्य' पृ. सं. 5

पिछले कुछ वर्षों से इन दोनों समुदायों के बीच दूरी आई है और यह लोकतांत्रिक व्यवस्था में आई कमजोरी की वजह से है। उनके अनुसार देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित करने के लिए इन दोनों समुदायों के बीच स्वस्थ सम्बन्ध का होना आवश्यक है। धर्म और जाति की राजनीति को वह इस संदर्भ में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। अर्थात् अल्पसंख्यक प्रश्न का सम्बन्ध जितना साहित्य की दुनिया से है उससे ज्यादा हमारे समाज से है। इसलिए इस अध्याय में मुस्लिम प्रश्न के प्रमुख पहलुओं पर विचार अपेक्षित है।

4.1 अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का द्वंद्व

असगर वजाहत का मानना है कि हिंदू एवं मुसलमानों के बीच की संवादहीनता इस द्वंद्व का एक बड़ा कारण है। उन्होंने लिखा है, "मुस्लिम विरोध या मुसलमानों के प्रति घृणा का एक कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संवादहीनता या एक-दूसरे को न समझना भी है। कई शताब्दियों से मुसलमान इस देश में रह रहे हैं, फिर भी उनके और हिन्दुओं के बीच अविश्वास तथा एक-दूसरे पर शक करने या एक-दूसरे के बारे में फैलाए गए भ्रम और आरोपों ने हमारे सोच को बड़ी हद तक जड़ बना दिया है।"[1]

असगर वजाहत के अनुसार संवादहीनता के कारण दोनों ही समुदाय के बीच बहुत सारे भ्रम निर्मित एवं विकसित होते रहे हैं। दोनों ही समुदाय इस कारण एक दूसरे के प्रति सशंकित रहते हैं। परिणाम स्वरूप हमारी सोच ही प्रतिक्रियावादी होती चली गई है। इसलिए इन दोनों समुदायों के बीच वास्तविक एकता नहीं बन पाती है। राजेन्द्र यादव मुसलमानों को अल्पसंख्यक-ग्रंथि का शिकार बनाये जाने की प्रक्रिया को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं, "दरअसल पिछले पचास सालों में संख्या पर आधारित लोकतंत्र ने जहाँ दबे-कुचले तबकों और हाशिये पर पड़े क्षेत्रों को सामने आने का अवसर दिया वहीं मुसलमानों को अल्पसंख्यक ग्रंथि का शिकार भी बना दिया। इसके पीछे हिन्दुओं का बहुसंख्यक अहंकार, उन्हें सिर्फ वोट-बैंक के रूप में देखना और अपनी धार्मिक आक्रामकता भी है।"[2]

---

[1] हंस, अगस्त 2003, असगर वजाहत का लेख -'भारतीय मुस्लमान : वर्तमान और भविष्य' पृ. सं. 6

[2] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 40

राजेन्द्र यादव के अनुसार हिन्दुओं का बहुसंख्यक होने का अहंकार एवं मुस्लिम समुदाय का मात्र वोट बैंक तक ही सीमित हो जाना, उन्हें अल्पसंख्यक-ग्रंथि का शिकार बनाता है। ऐसे में मुस्लिम समुदाय अपने अल्पसंख्यक होने की भावना पर ज्यादा बल देने लगता है। राजेन्द्र यादव बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के साथ मुस्लिम समुदाय को भी इस संदर्भ में दोषी मानते हैं। उनके अनुसार "साम्प्रदायिक दंगे, बाबरी ध्वंस और गुजरात नरसंहार जैसी घटनाएँ उन्हें गहरी असुरक्षा और खतरे की खाइयों में धकेलती हैं। बाहरी देशों के इस्लाम की तरफ देखते हुए वे अपने में सिमटे, अधिक से अधिक कट्टर, जड़ और सुधार विरोधी होते चले गये हैं। उर्दू हो या पर्सनल-लॉ, मदरसे हों या मस्जिद की अजानें, सब कुछ उन्हें अपनी पहचान का हिस्सा ही नजर आता है। बहुसंख्यकों पर संदेह और अपने पर कभी भी हमला होने का डर उनका स्थायी भाव बन गया है। रहना चूंकि इन्हीं स्थितियों में और बहुसंख्यक दुश्मन के बीच है, इसलिए जिस दूसरी मानसिकता का विकास हुआ, वह है सामुदायिक घुन्नापन – यानी अपनी बात को सिर्फ अपने तक रखने की चालाकी।"[1]

राजेन्द्र यादव के अनुसार मुस्लिम समुदाय गहरी असुरक्षा की भावना का शिकार हो गया है। इस सामाजिक असुरक्षा ने ही उसे अल्पसंख्यक-ग्रंथि का शिकार बनाया एवं अपने समुदाय तक ही उन्हें सीमित कर दिया है। राजेन्द्र यादव का मानना है कि अल्पसंख्यक होने की ग्रंथि ने उन्हें ज्यादा रूढ़िवादी और धार्मिक बनाया है। हर वह चीज जो इस्लाम का प्रतीक है उन्हें ज्यादा अपना लगने लगा है। इससे इस समुदाय में आलोचनात्मक-विवेक का प्रयोग वर्जित हो गया। राजेन्द्र यादव के अनुसार हर हिंदू उन्हें बहुसंख्यक और विरोधी लगने लगता है। इससे उनकी दैनंदिन, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी भी सीमित हुई है।

राजेन्द्र यादव अल्पसंख्यकवाद की इस भावना के विकास और प्रोत्साहन के पीछे छद्म सेकुलर बौद्धिकों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट लिखा, "धर्मनिरपेक्ष या बौद्धिक सेकुलर लोगों ने भी स्थिति को सही दृष्टि से नहीं देखा। उनकी समझ थी कि हर कहीं अल्पसंख्यक अपनी पहचान और सुरक्षा 'घेटो' (घेराबंद) जीवन का सोच और जीवन में देखते हैं, उनकी साम्प्रदायिकता ही उनका बचाव और विद्रोह है। विदेशों में बसे भारतीय अपने बीच

[1] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 41

लगभग जड़ और कट्टर हिन्दू, मुसलमान या सिख होकर रहते हैं। ... सच्चाई यह है कि वे जीवन धर्म और संबंधों में अपनों तक ही सीमित हैं। अल्पसंख्यकों की इन कमजोरियों के प्रति सहानुभूति रखने वालों सेकुलरों ने मुसलमानों की हर जड़ता और रूढ़िवादिता का समर्थन किया।"[1]

राजेन्द्र यादव मुस्लिम समुदाय का एक घेटो में बँध जाने को एक बड़ी समस्या मानते हैं। उनका मानना है कि घेटो में बँधने से सम्प्रदाय-आधारित सोच का विकास होता है, जिससे उस समुदाय के लोगों का नुकसान होता है। इस तरह की भावना के प्रोत्साहन में वह तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बौद्धिकों की भूमिका के दोहरेपन को भी रेखांकित करते हैं। बौद्धिक समुदाय का कार्य किसी समुदाय विशेष को उसकी कमजोरियों के प्रति जागरूक करना होता है, न कि आसक्त बनाना। इन कथाकथित बौद्धिकों ने उनके घेटो में बँधे होने को उनके विद्रोह के रूप में परिभाषित किया, जिससे बहुसंख्यक हिन्दू वर्ग आप ही अल्पसंख्यक विरोधी होता गया। मुसलमानों की जड़ता और रूढ़िवादिता का समर्थन अंतत: उन्हें असुरक्षित और अल्पसंख्यक ग्रंथि का ही शिकार बनाता है।

इम्तियाज अहमद ने 'भारतीय मुसलमानों की समस्याएँ' नामक अपने लेख में मुसलमानों को एक समुदाय मानने से ही इंकार किया है। उनका मानना है कि मुसलमान अल्पसंख्यक-समुदाय मात्र नहीं हैं, बल्कि यह कई जातियों एवं वर्गों का एक सम्मिलित समुदाय है। उन्होंने लिखा है, "अनेक भारतीय मुसलमानों का यह नजरिया है कि गैर-मुस्लिम भारत में सभी सामाजिक स्तरों के मुसलमानों को एक भारतीय धार्मिक अल्पसंख्यक के रूप में प्रबलतया सरकार की भेदभावपूर्ण नीतियों और शत्रुता के रूख का सामना करना पड़ता है। यह सच नहीं है। ...प्रत्येक सामाजिक स्तर पर ये प्रभाव भिन्न-भिन्न हैं और स्वतंत्रता के बाद हुए सामाजिक परिवर्तनों और विकास और समकालीन भारतीय समाज द्वारा दिये गए नये अवसरों की संरचना पर निर्भर करते हैं।"[2]

इम्तियाज अहमद मुसलमान या अल्पसंख्यक समुदाय के सामान्यीकरण के विरूद्ध हैं। मुसलमान होने मात्र से ही हर स्तर पर अन्याय का शिकार होने की बात को वह नकारते हैं। उनका मानना है कि हरेक सामाजिक स्तर पर ये प्रभाव भिन्न

---

[1] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 41

[2] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, इम्तियाज अहमद का लेख- 'भारतीय मुसलमानों की समस्या', पृ. सं. 26

हैं। मुसलमानों के अंदर भी कई सामाजिक स्तर हैं, जिसका अध्ययन वे आवश्यक मानते हैं। वह चाहते हैं कि सर्वप्रथम मुसलमान अपने आपको अल्पसंख्यक या मुसलमान होने के कारण प्रताड़ित होने वाली सोच से बाहर आएँ। इम्तियाज अहमद सामाजिक परिवर्तनों और विकास की भूमिका को विशेष महत्त्व देते हैं।

इस संदर्भ में अजेय कुमार का मानना है कि मुस्लिम-समुदाय का 'मुस्लिम घेटो' की मानसिकता से बाहर आना आज के समय में बेहद आवश्यक है। उन्होंने लिखा है, "मुस्लिम समाज के अंदर जो लोग सुधार चाहते हैं, उन्हें मुस्लिम घेटो मानसिकता से बाहर निकलकर सर्वव्यापी जनवादी आंदोलन का हिस्सा बनकर ही रास्ता तलाश करना होगा। गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी के सवाल केवल एक धर्म विशेष तक सीमित नहीं है।"[1] अजेय कुमार का मानना है कि मुस्लिम समुदाय को अल्पसंख्यक होने की ग्रंथि से बाहर निकलने की कोशिश करनी पड़ेगी। उनके अनुसार असली सवाल गरीबी, भूख, अशिक्षा ओर बेरोजगारी का है और इस समस्या का हल जनवादी आंदोलनों में हिस्सेदारी से ही संभव है। उनका मानना है कि मुस्लिम समुदाय भी व्यापक तौर पर इन्हीं समस्याओं से जूझ रहा है। इन समस्याओं के समाधान में ही मुस्लिम समुदाय की वास्तविक मुक्ति निहित है।

4.2 साम्प्रदायिकता की समस्या

मुस्लिम समुदाय के लिए साम्प्रदायिकता एक बड़ी समस्या है। साम्प्रदायिक-सद्भाव के अभाव में हिन्दू एवं मुस्लिम या अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदाय के बीच दूरियां बढ़ती जाती हैं। इससे न सिर्फ हिंसा को बढ़ावा मिलता है बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय की अर्थव्यवस्था और सामाजिक विकास को भी नुकसान पहुँचता है। साम्प्रदायिकता की भावना समकालीन अवधारणा नहीं है। नामवर सिंह इसे राष्ट्रवाद की अवधारणा के निर्माण और विकास से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार "हमारे इतिहास में राष्ट्रवाद और सम्प्रदायवाद दोनों एक ही साथ पैदा हुए हैं। कहीं ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू तो नहीं हैं, इसकी भी जाँच की जानी चाहिए। ...क्योंकि राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ इस देश में पहली बार धर्म के आधार पर दो बड़े धर्मों को मानने वाले जनसमूहों को एक नाम दिया गया। दोनों को ही अपनी पहचान बनाने की चिन्ता

[1] हंस, अगस्त 2003, अजेय कुमार का लेख-'मुसलमान और वाम दृष्टि' पृ. सं. 64

हुई - हिन्दू आइडेंटिटी और मुस्लिम आइडेंटिटी । हम जिसे उन्नीसवीं सदी का नवजागरण कहते हैं, उस नवजागरण में हिन्दू नवजागरण और मुस्लिम नवजागरण, ये दोनों साथ-साथ घटित हुए।"[1]

नामवर सिंह के अनुसार हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही तरह की अस्मिता वास्तविक न होकर एक निर्मिति हैं। यह धर्म के आधार पर निर्मित की गई एक अवधारणा है, जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। नामवर सिंह के अनुसार औपनिवेशिक काल में प्राच्यवादी चिंतकों ने राष्ट्रवाद के साथ इस साम्प्रदायिक अवधारणा का भी विकास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों समुदायों के बीच अविश्वास की भावना का सैद्धांतिकीकरण होता चला गया। 1931 में हुए कानपुर दंगों की जाँच के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (कराची अधिवेशन 1931) द्वारा नियुक्त समिति की रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार भी किया गया है। उस रिपोर्ट के अनुसार "इस वक्त सोच है कि इस रूप में हिन्दू-मुस्लिम समस्या वर्षों पुरानी है और अपने अलग-अलग धर्मों और संस्कृतियों के कारण दोनों समुदायों में कभी समाप्त न होने वाला और जड़ से हटाए जाने योग्य वैर का स्रोत है। जिसने शुरूआत से ही उनके आपसी संबंधों को कड़वा, अविश्वसनीय और विपरीत बना दिया है।"[2]

लोगों की सोच की पद्धति ही अंतत: साम्प्रदायिक या सम्प्रदाय विशेष तक सीमित हो जाती है। ऐसे में टकराव की स्थिति का पैदा होना अनिवार्य हो जाता है। इस तरह की सोच, यह बताती है कि हर समुदाय की अलग सामूहिक चेतना और उनमें अलग सामूहिक साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की उपस्थिति होती है जो एक दूसरे के खिलाफ क्रिया और प्रतिक्रिया कर सकती है। "भारत में साम्प्रदायिकता भारतीय राष्ट्रीयता की सहयोगी के तौर पर उभरती है और कुछ नहीं, बस राष्ट्रीयता धार्मिक स्रोतों से बहाई जाती है।"[3]

अर्थात् राष्ट्रीयता की भावना के तथाकथित विकास के लिए साम्प्रदायिकता की भावना का विकास भी अनिवार्य हो जाता है। नामवर सिंह के अनुसार "राष्ट्रवाद की हिमायत करने वाला शासक दल जिस साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लिए राष्ट्रवाद की मदद ले रहा है, वह साम्प्रदायिकता तो स्वयं

---

[1] नामवर सिंह, जमाने से दो दो हाथ, पृ. सं. 21

[2] सांप्रदायिक समस्या, कानपुर दंगा जाँच समिति की रिपोर्ट, पृ. सं. 15

[3] वही, पृ. सं. 16

उसी राष्ट्रवाद में अंतर्निहित है, क्योंकि राष्ट्रवाद की कोई भी परिभाषा आकर गिरती है, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक पर। मेनस्ट्रीम और गैर मेनस्ट्रीम और अंतत: राष्ट्रवाद बहुसंख्यक धर्म के हिमायतियों का राष्ट्रवाद बनकर रह जाता है।"[1]

नामवर सिंह के अनुसार राष्ट्रवाद को परिभाषित या व्याख्यायित करने के लिए राष्ट्र का अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वर्ग में बँटवारा जरूरी होता है। इसके अभाव में राष्ट्रवाद की व्याख्या संभव नहीं है। नामवर सिंह यह भी मानते हैं कि ऐसे में राष्ट्रवाद बहुसंख्यक धर्म के हिमायतियों का राष्ट्रवाद बनकर रह जाता है। ऐसे में अल्पसंख्यक समुदाय के सामने कई सारी चुनौतियाँ खड़ी हो जाती हैं। पहली तो यह कि अल्पसंख्यक-समुदाय का राष्ट्रवाद, अप्रासंगिक हो जाता है। परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक समुदाय में अविश्वास के साथ असुरक्षा की भावना का भी विकास होता है। "इसलिए राष्ट्रवाद की प्रकृति में ही ऐसा कुछ निहित है कि वह सम्प्रदायवाद का विरोध कर ही नहीं सकता। उन्नीसवीं सदी से हम यह देखते आ रहे हैं कि सम्प्रदायवाद उसमें अंतर्निहित है।"[2] इसी संदर्भ में वह सम्प्रदायवाद को मिथ्या चेतना के रूप में भी देखने का निवेदन करते हैं। उनके अनुसार "अगर सम्प्रदायवाद एक मिथ्या चेतना है तो मैं कहूँगा कि राष्ट्रवाद उससे कम मिथ्या-चेतना नहीं है। मिथ्या चेतना के रूप में दोनों विचारधाराएँ हैं, क्योंकि दोनों जुड़वाँ हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए सम्प्रदायवाद के विरूद्ध राष्ट्रवाद को खड़ा करना एक मिथ्या विचारधारा के विरूद्ध दूसरी मिथ्या विचारधारा को रखना है।"[3]

नामवर सिंह के अनुसार सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद दोनों ही जनता में मिथ्या चेतना का विकास करने वाली विचारधाराएँ हैं। ऐसे में सम्प्रदायवाद का अंत राष्ट्रवाद के माध्यम से करने का प्रयास अर्थहीन प्रतीत होता है। राष्ट्रवाद की विचारधारा सम्प्रदायवाद द्वारा ही संपोषित होती है और साम्प्रदायिकता की भावना का संपोषण भी करती है। इसलिए इनकी जगह जनता की वास्तविक समस्याओं को केन्द्र में रखकर, साम्प्रदायिकता का हल खोजा जाना चाहिए।

---

[1] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 25

[2] वही, पृ. सं. 25

[3] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 25

विपिन चन्द्रा के अनुसार "साम्प्रदायिकता का आधार ही यह धारणा है कि भारतीय समाज कई ऐसे सम्प्रदाय में बँटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ अलग हैं बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं।"[1] साथ ही विपिन चन्द्रा साम्प्रदायिकता की विचारधारा के विकास के पीछे के सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार "साम्प्रदायिकता को भारत की सामाजिक और आर्थिक दशाओं का भी कम सहारा नहीं है। भारत की अर्थव्यवस्था को जिस रफ्तार से पनपना चाहिए था वह पनपी नहीं और इससे बेरोजगारी और असमानता बढ़ी। नतीजा सामाजिक हताशा और बेचैनी में निकला।"[2]

विपिन चन्द्रा के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था की असफलता ने सामाजिक एवं सामुदायिक समस्याओं को बढ़ावा दिया। आर्थिक विकास की असफलता से समाज में बेरोजगारी और असमानता एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आईं। विपिन चन्द्रा का मानना है कि इससे पैदा हुए हताश युवकों की भीड़ का साम्प्रदायिक ताकतों ने अपने हित में उपयोग किया।

नामवर सिंह इस संदर्भ में अर्थव्यवस्थागत दूसरे पहलू को सामने रखते हैं। उनके अनुसार "हम सोचते थे कि आर्थिक परिवर्तन होगा, औद्योगिकीकरण होगा तो साम्प्रदायिकता अपने आप खत्म हो जाएगी। ...लेकिन हमने देखा कि जैसे-जैसे औद्योगिकीकरण बढ़ रहा है, जैसे-जैसे तेजी से पूँजीवाद विकसित हो रहा है, वैसे-वैसे देश में उसके समानांतर साम्प्रदायिकता भी बढ़ रही है। ...इसलिए यह बात तो तय है कि साम्प्रदायिकता और धर्म कोई सुपरस्ट्रक्चर नहीं है कि आधार बदल देंगे तो बदल जाएगा। आज आर्थिक परिवर्तनों के द्वारा औद्योगिकीकरण के द्वारा, साम्प्रदायिकता अपने आप खत्म नहीं हो सकती।"[3]

नामवर सिंह का मानना है कि पूँजीवाद के विकास के साथ साम्प्रदायिकता की विचारधारा भी मजबूत हुई है। इसलिए समुचित आर्थिक विकास से भी हम साम्प्रदायिकता की समस्या को हल नहीं कर सकते। नामवर सिंह आधार के बदलने पर ही अधिरचना बदलने की बात का यहाँ समर्थन नहीं करते हैं। वह साम्प्रदायिकता को आर्थिक आधार का सुपरस्ट्रक्चर भी स्वीकार नहीं करते। वह धर्म की सामाजिक भूमिका को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह मार्क्सवादी

---

[1] विपिन चन्द्रा, सांप्रदायिकता : एक प्रवेशिका, पृ. सं. 3

[2] वही, पृ. सं. 5

[3] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 28

विचारकों की इस सोच का खंडन करते हैं कि आर्थिक परिवर्तन के साथ साम्प्रदायिकता की समस्या भी स्वत: ही समाप्त हो जाएगी । वह धर्म और साम्प्रदायिकता को अधिरचनात्मक रूप में न देखकर इनकी सामाजिक भूमिका को समझने पर ज्यादा जोर देते हैं। उनका मानना है कि धर्म की सामाजिक भूमिका की पहचान तथा अलग-अलग सामाजिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ में धर्म के समस्त आयामों को समझकर ही साम्प्रदायिकता की समस्या का कोई हल निकाला जा सकता है।

4.3 उर्दू भाषा और फारसी-लिपि का प्रश्न

उर्दू भाषा को आज सिर्फ मुसलमानों से जोड़कर देखा जाता है जबकि हमेशा से ऐसा नहीं रहा है। इस संदर्भ में अतहर फारूकी 'उर्दू का भविष्य' शीर्षक अपने लेख में लिखते हैं, "उर्दू वालों से आशय क्या है ? उर्दू का प्रत्येक लेखक इस प्रश्न से दामन बचाता रहा है । स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में मुसलमानों के अतिरिक्त कोई ऐसा वर्ग पैदा नहीं हुआ जो उर्दू को अपनी भाषा या मातृभाषा कहता हो। राजनीतिक परिस्थितियों ने इस सीधी-सी बात को कि नये परिप्रेक्ष्य में उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा है, और अधिक उलझा दिया। ...यह बात कितनी ही कड़वी क्यों न हो, मगर आज सत्य यही है कि उर्दू व्यावहारिक स्तर पर केवल मुसलमानों की भाषा है।"[1]

अतहर फारूकी के अनुसार स्वतंत्रता के पूर्व बहुत सारे अन्य समुदाय भी उर्दू भाषा का प्रयोग करते थे परंतु आजादी के बाद यह भाषा एक समुदाय विशेष तक ही सिमटकर रह गई। उनके अनुसार भारत विभाजन की त्रासदी के बाद कोई भी उर्दू को अपनी भाषा नहीं कहना चाहता था और बाद में चलकर साम्प्रदायिकता की समस्या ने उर्दू भाषा का भी राजनीतिकरण करते हुए इसे सिर्फ मुसलमानों तक सीमित कर दिया। फारूकी के अनुसार इसी कारण उर्दू मुसलमानों की भाषा होकर रह गई।

इम्तियाज अहमद उर्दू भाषा की समस्या को सभी मुसलमानों की समस्या से जोड़कर देखने का विरोध करते हैं । इस संदर्भ में वह लिखते हैं, "हम इस शिकायत पर विचार करें कि मुसलमानों की भाषा को सरकार का प्रोत्साहन और

---

[1] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, अतहर फारूकी का लेख- 'उर्दू का भविष्य', पृ. सं. 114

समर्थन नहीं मिल रहा है। यदि यह मान भी लिया जाए कि उर्दू को सार्वजनिक समर्थन और प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है ; तब भी क्या यह कहना सच होगा कि उर्दू सब भारतीय मुसलमानों की भाषा है या सभी मुसलमान यह महसूस करते हैं कि उसके लोप का भय है?"[1]

इम्तियाज अहमद के अनुसार मुसलमान विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक क्षेत्र में फैले हुए हैं। ऐसे में सभी मुसलमान सिर्फ उर्दू भाषा का प्रयोग नहीं करते। वह विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करते हुए अलग-अलग भाषा का व्यवहार करते हैं। उर्दू सभी भारतीय मुसलमानों की भाषा नहीं है और न ही सभी मुसलमान उर्दू की समस्या को अपनी समस्या मानते हैं । इम्तियाज अहमद उर्दू को हिन्दुस्तानी भाषी क्षेत्र में निवास करने वाले अभिजात मुसलमानों की भाषा मानते हैं । उन्होंने लिखा, "...उर्दू अभिजात वर्ग के मुसलमानों की भाषा है, सब मुसलमानों की नहीं। इसलिए उर्दू के सम्बन्ध में सरकारी नीति चाहे जो भी हो, मुद्दा यही है कि उर्दू के साथ जो सलूक हो रहा है, वह सब मुसलमानों की समस्या नहीं है।"[2]

प्रकारांतर से इम्तियाज अहमद उस तथाकथित सोच का विरोध करते हैं जो उर्दू को सभी मुसलमानों की भाषा स्वीकार करती है । वह भाषा के साम्प्रदायीकरण का विरोध करते हुए अभिजात मुसलमान-वर्ग की समस्याओं के सामान्यीकरण का भी विरोध करते हैं। वह जोरदार ढंग से भाषा के नाम पर हो रहे साम्प्रदायिक राजनीति का प्रत्याख्यान करते हैं।

उर्दू भाषा का प्रश्न आते ही इसकी लिपि का मुद्दा प्रमुख हो जाता है। हिन्दी साहित्य में यह बहस आजादी के बाद से ही शुरू हो गई कि उर्दू-भाषा की लिपि क्या हो ? फारसी या देवनागरी ? इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव का मानना है कि "वास्तविक समस्या उर्दू नहीं, फारसी लिपि है, जो आज अलगाववाद का हथियार नहीं, स्वयं उर्दू के अपने विकास में सबसे बड़ी बाधा है।"[3]

राजेन्द्र यादव के अनुसार आज उर्दू को धर्म और मुसलमानी पहचान के साथ अनिवार्यत: जोड़ दिया गया है। फलस्वरूप उर्दू के बारे में किसी तरह का

---

[1] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, इम्तियाज अहमद का लेख- 'भारतीय मुसलमानों की समस्या', पृ. सं. 26

[2] वही, पृ. सं. 26

[3] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 39

विचार करना या सुझाव देना चुनौतीपूर्ण बन गया है। उनका स्पष्ट मानना है कि लिपि, भाषा नहीं बनाती। देवनागरी लिपि भी खरोष्टी और कैथी को छोड़कर विकसित हुई है। इसलिए फारसी लिपि का व्यामोह उर्दू भाषा को बरतने वालों एवं उसके शुभचिंतकों को छोड़ देना चाहिए। वह स्पष्ट लिखते हैं, "मेरा आकलन यह भी है कि उर्दू के संदर्भ में फारसी लिपि की समस्या मूलत: अब प्राध्यापकों, पुराने अभ्यासग्रस्त मुसलमानों या हर धार्मिक उदाहरण के लिए पाकिस्तान को रोल-मॉडल मानने वालों की अपनी समस्या बनकर रह गई है और वे धर्म की तर्ज पर ही इसे बचाने में लगे हैं। उधर मुसलमानों की नई पीढ़ी नागरी लिपि में उर्दू पढ़ने को अधिक सहज पाती है। उर्दू शायरी, उपन्यास, कहानी और पत्रकारिता आज फारसी लिपि के मुकाबले नागरी में सबसे अधिक मकबूल और लोकप्रिय है। लगता है कि इक्कीसवीं सदी का उर्दू-साहित्य देवनागरी में ही लिखा और पढ़ा जाएगा – बिना अपनी स्वतंत्र पहचान खोये।"[1]

राजेन्द्र यादव भाषा को धर्म से जोड़कर देखने के विरोधी हैं। उनका मानना है कि धर्म की तरह उर्दू भाषा को भी अलगाववादी नजरिए से नहीं देखा जाना चाहिए। ऐसा हो पाया तो लिपि का प्रश्न गौण हो जाएगा। फारसी लिपि को वह इस्लामिक प्रतीक के रूप में पेश किए जाने के विरोधी हैं। वह इस बात के लिए उर्दू भाषा के युवा पीढ़ी से बेहद आश्वस्त हैं कि वह लिपि के प्रश्न को ज्यादा महत्त्व न देते हुए नागरी के साथ अपनी सम्बद्धता स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लेगी। वह उर्दू भाषा की स्वतंत्र अस्मिता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए नागरी लिपि के प्रयोग के समर्थक हैं।

राजेन्द्र यादव की तरह नामवर सिंह भी यह मानते हैं कि फारसी लिपि के प्रति विशेष आग्रह भाषा और मजहब को एक ही दृष्टि से देखने और मानने का परिणाम है। नामवर सिंह के अनुसार "इस बीच उर्दू के हक की माँग करने वालों की दलील में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। पहले उर्दू के धर्मनिरपेक्ष आधार और स्वरूप पर बल रहता था। कहा जाता था कि इसे बोलने वालों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों हैं ...अब सीधे-सीधे मुस्लिम अल्पसंख्यकों की भाषा की हैसियत से उर्दू के हक की माँग की जा रही है। एक समय भाषा को धर्म से अलग करके देखने की बात की जाती थी, अब भाषा मजहब के साथ इस तरह गड्डमड्ड हो गई है कि भाषा

[1] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 40

खुद मजहब बन गई है - इसका प्रमाण है उर्दू रस्मुल - खत यानी लिपि के प्रति अतिरिक्त आग्रह।"[1]

नामवर सिंह उर्दू के धर्मनिरपेक्ष आधार को समाप्त किये जाने से बेहद चिंतित हैं। उनके अनुसार उर्दू कभी किसी एक धर्म-विशेष या वाले समुदाय-विशेष की भाषा नहीं रही है। प्रमाण के तौर पर वह कवियों एवं लेखकों के नाम को प्रस्तुत करते हैं। वह आज के संदर्भ में मुस्लिम समुदाय एवं उनके मजहब से उर्दू को जोड़ने जाने को गलत कदम मानते हैं। मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हक के रूप में आज उर्दू भाषा का सवाल उठाया जाता है। इस तरह भाषा और मजहब के बीच का अंतर ही मिटा दिया गया। नामवर सिंह के अनुसार इस गड्डमड्डता ने भाषा को भी मजहब की तरह ही बना दिया। वह मानते हैं कि फारसी-लिपि के प्रति अतिरिक्त आग्रह मजहबी भाषिक - दृष्टि का प्रमाण है।

नामवर सिंह यह मानते हैं कि उर्दू भाषा के सामने आज अस्मिता का संकट है परन्तु वह इस प्रश्न को मुख्यधारा से अलग करके देखे जाने का विरोध करते हैं। उनके अनुसार "उर्दू की अस्मिता का संकट समझ में आता है; किन्तु अस्मिता की प्राप्ति मुख्यधारा से अलगाव में नहीं, लगाव में है। समाज से कटकर यदि कोई व्यक्ति अपनी अस्मिता को प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर कोई भाषा या साहित्य भी अलगाव से घाटे में ही रहेगा।"[2]

नामवर सिंह का मानना है कि समाज से अलगाव की जगह, उर्दू भाषा के प्रश्न को व्यापक समाज के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। अस्मितावादी आधार पर पहल करने की जगह सामाजिक भूमिका पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार कोई व्यक्ति, समुदाय या भाषा समाज से कटकर नहीं उससे जुड़कर ही अपनी अस्मिता को मजबूत और स्थापित कर सकती है। इसलिए वह लिपि के प्रश्न को गौण मानते हुए, भाषा के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार "भविष्य जाने कितने अप्रत्याशित विकल्पों से भरा है। इस भविष्य की चुनौतियाँ समाज की जिन शक्तियों को एकजुट होने के लिए ललकार रही हैं उनसे जुड़कर बढ़ने में यदि भाषा या लिपि भी दीवार बनती है तो उसे तोड़ने का साहस होना चाहिए। यह बात उर्दू के लिए उतनी ही सच है, जितनी हिन्दी के लिए। आत्मरक्षा

[1] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 101

[2] वही, पृ. सं. 102

रक्षात्मक लड़ाई में नहीं, उस साहसिक अभियान में है जिसका लक्ष्य भविष्य की विजय है।"[1]

नामवर सिंह भाषा या लिपि के प्रश्न को सामाजिक संघर्ष के साथ जोड़कर देखने का निवेदन करते हैं। उनके अनुसार आज के पूँजीवादी युग में जहाँ सामंतवादी शक्तियाँ भी मौजूद हैं, असली लड़ाई इनके खिलाफ है। आज जनता को एकजुट होकर, इन शोषणकारी शक्तियों के खिलाफ एकताबद्ध ढंग से संघर्ष करना होगा। जाति, लिपि या भाषा का सवाल अगर इसमें बाधा उत्पन्न करता है तो उसे दरकिनार करना पड़ेगा। उर्दू भाषा या लिपि को सिर्फ मुसलमानों से जोड़कर देखा जा रहा हो और इससे समाज में साम्प्रदायिकता को हवा दिया जा रहा हो तब इस प्रश्न को बेहतर ढंग से हल करने का प्रयास करना चाहिए। हिन्दी या उर्दू भाषा के आधार पर समुदायों के बीच अगर दीवार खड़ा करने का प्रयास हो रहा हो, एक बेहतर भविष्य के निर्माण में भाषा समस्या बन रही हो, तब उस भाषा की सामाजिकता पर गंभीर रूप से विचार होना चाहिए। नामवर सिंह भाषा की भूमिका को एक सामाजिक भूमिका के रूप में ही महत्त्व देते हैं।

"बहरहाल, उर्दू की समस्या यह है कि कोई निश्चित क्षेत्रीय आधार न होने के कारण वह अपनी माँग मनवाने के लिए 'संस्कृति' का ही सहारा लेने के लिए विवश है और कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'संस्कृति' काफी अस्पष्ट और विवादास्पद-सी चीज है जिससे कभी-कभी मजहब और धर्म का भी भ्रम हो जाता है। भाषावार राज्यों के निर्माण के बाद उर्दू की यह समस्या और भी पेचीदा हो गई। अब सांस्कृतिक अल्पसंख्यक लोगों की भाषा के रूप में ही उर्दू की माँगें प्रस्तुत की जा सकती हैं। ...लेकिन अल्पसंख्यकों की भाषा के रूप में उर्दू अकेली भाषा नहीं है। भारत वस्तुत: भाषायी अल्पसंख्यकों का राष्ट्र है। कोई ऐसा राज्य नहीं जिनमें एक से अधिक अल्पसंख्यक भाषाएँ न हों।"[2]

नामवर सिंह के अनुसार उर्दू के पास क्षेत्रीय आधार न होने के कारण उसे अल्पसंख्यक-भाषा के रूप में ही अपनी लड़ाई लड़नी पड़ेगी। यह ध्यान भी रखना होगा कि उर्दू की अस्मिता का प्रश्न मजहबी न प्रतीत हो। नामवर सिंह यह भी स्पष्ट करते हैं कि उर्दू भारत की एकमात्र अल्पसंख्यक भाषा नहीं है। बहुत सारी अल्पसंख्यक भाषाएँ इस देश में हैं। समय-समय पर उनकी अस्मिता का प्रश्न भी

---

[1] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 102-103

[2] वही, पृ. सं. 111

उठता रहता है। ऐसे में उर्दू की अस्मिता का प्रश्न उठाने वालों को, अन्य अल्पसंख्यक भाषाओं के संघर्ष से स्वयं को जोड़ना भी अनिवार्य प्रतीत होता है। नामवर सिंह यहाँ लिपि के प्रश्न को गौण मानते हुए अल्पसंख्यक भाषाओं के संघर्ष की बात को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

अतहर फारूकी लिपि और भाषा के स्तर पर उर्दू की समस्या को एक अलग दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है, "स्वतंत्रता के बाद से आज तक दूसरा महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक भावनात्मक मुद्दा उर्दू की फारसी लिपि के परिवर्तन का रहा है। इस संदर्भ में मेरी राय यह है कि उर्दू भाषा के परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता के बाद उर्दू प्रेमियों और गैर-उर्दू भाषियों दोनों ही के द्वारा उर्दू के लिपि परिवर्तन को 'गैर-जरूरी' तौर पर महत्त्व दिया गया, जिसका कोई सम्बन्ध वास्तविक समस्या यानी एक भाषा के रूप में उर्दू के उत्थान या पतन से नहीं था।"[1]

अतहर फारूकी के अनुसार सवाल किसी भाषा के उत्थान और विकास का होना चाहिए परन्तु उर्दू के सम्बन्ध में लिपि के प्रश्न को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। उनके अनुसार सभी विचार करने वालों का जोर फारसी लिपि के प्रयोग के पक्ष और विपक्ष पर ही रहा। उर्दू भाषा के उत्थान और उसे प्रोत्साहित करने के तरीकों के बारे में या उर्दू भाषा के क्रमश: पतन के बारे में किसी ने भी तार्किक ढंग से विचार नहीं किया। "लिपि के सम्बन्ध में लिखे जाने वाले अधिकतर लेखों में एक ही तर्क होता है कि उर्दू वालों को विदेशी फारसी लिपि छोड़ देनी चाहिए। दूसरी ओर फारसी लिपि के समर्थकों का रवैया भी पूर्णतया पॉपुलिस्ट और अनर्गल तर्कों पर आधारित होता है।"[2]

असल सवाल किसी भाषा के विकास के बारे में विचार करना है। अतहर फारूकी विशेषकर स्वतंत्रता के बाद उर्दू भाषा के रवैये में प्रत्येक स्तर पर आये परिवर्तनों की बात भी स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है, "यह बात बहुत हद तक सच है कि स्वाधीनता के पश्चात् उर्दू हिन्दी के बहुत निकट आयी है। जिस तीव्रता से और जितनी बड़ी संख्या में स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी शब्दों ने उर्दू शब्द कोश और उर्दू वालों के व्यावहारिक जीवन में अपनी जगह बनायी है, वह अभूतपूर्व है। ...हिन्दी भाषी क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा को अगर देवनगारी

---

[1] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, अतहर फारूकी का लेख -'उर्दू का भविष्य' पृ. सं. 115

[2] वही, पृ. सं. 115

लिपि में लिख दें तो वह हिन्दी है और अगर अरबी या फारसी लिपि में लिख दें तो वह उर्दू हो जाती है। हालाँकि साहित्यिक स्तर पर स्थिति भिन्न है...।"[1]

अतहर फारूकी के अनुसार व्यावहारिक दुनिया में हिन्दी और उर्दू भाषा के बीच विशेष फर्क नहीं है परंतु साहित्यिक स्तर पर ये दोनों भाषाएँ अलग-अलग हो जाती हैं। यह हिन्दी-उर्दू के बीच की सबसे बड़ी विडम्बना ही कही जाएगी। फारूकी का प्रकारांतर से इशारा इस समस्या के हल की तरफ है। अगर हम उर्दू या हिन्दी भाषा को किसी समुदाय विशेष से जोड़कर देखने का अभ्यास छोड़ दें तो दोनों भाषाएँ स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे के करीब रह सकती हैं।

यह सच है कि आज उर्दू भाषा अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत है परन्तु यह भी एक बड़ी सच्चाई है कि उर्दू भाषा हमारी साझी संस्कृति की पहचान से जुड़ी हुई है। हिन्दुस्तानी भाषा और भाषियों का इतिहास उर्दू भाषा के बिना मुकम्मल नहीं हो सकता। इसलिए उर्दू भाषा को संरक्षित करने और विकसित करने का संघर्ष भी साझा ही होना चाहिए। इस संदर्भ में पंकज चतुर्वेदी लिखते हैं, "उर्दू देश की सबसे बड़ी 'अल्पसंख्यक भाषा' बनती जा रही है। अपने अतीत, संस्कृति और साहित्य के संरक्षण के लिए कृतकल्पित लोगों के लिए उर्दू भी एक संरक्षण योग्य भाषा होनी चाहिए। यह तो बाजार की हवा है - आज इसमें उर्दू फँसी हुई है, कल और किसी भाषा के अस्त होने की बारी होगी। यदि सरकारी या अन्य किसी माध्यम से उर्दू के विकास की बात होती है, भले ही उसे मुसलमानों के जरिये बचाने के प्रयास होते हैं तो यह किसी भी दिशा में मुसलमानों का तुष्टिकरण तो नहीं लगता है। यह सिंधी, मैथिली या डोगरी के साथ भी हो सकता है, आखिरकार उर्दू भाषा और उसके जानकार इसी देश के ही तो हैं।"[2]

नामवर सिंह भी यह मानते हैं कि " ...उर्दू भाषियों के संघर्ष में सहयोग देने का अर्थ है जनवाद की रक्षा। लेकिन इसके साथ ही उर्दू भाषियों से यह कहना अनुचित न होगा कि अलगाववादी ताकतों से सावधान रहें क्योंकि अलगाववाद खुद उर्दू के लिए नुकसानदेह है।"[3]

---

[1] राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, अतहर फारूकी का लेख -'उर्दू का भविष्य, पृ. सं. 115

[2] पंकज चतुर्वेदी, क्या मुसलमान ऐसे ही होते हैं, पृ. सं. 79

[3] नामवर सिंह, जमाने से दो-दो हाथ, पृ. सं. 112

नामवर सिंह के अनुसार उर्दू भाषियों पर यह महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है कि वह उर्दू को सिर्फ इस्लाम या मुसलमान से जोड़कर देखने वाली सोच को निरस्त करें। किसी भी भाषा पर किसी खास समुदाय या धर्म का अधिकार नहीं होता। उर्दू का सवाल साझी विरासत का सवाल है। इसलिए इसके संरक्षण और प्रोत्साहन से जनवादी सोच का ही विकास होगा।

4.4 मुस्लिम समुदाय और वर्ग एवं जाति का प्रश्न

मुस्लिम समुदाय को अक्सर जाति एवं वर्ग से मुक्त माना जाता है। यहाँ मुसलमान का अर्थ दलित मुसलमान या गरीब मुसलमान नहीं होता है जबकि सच्चाई इससे अलग है। "भारत के मुसलमानों की स्थिति भारत के हिंदू समुदाय की तरह ही है। जिस प्रकार यहाँ का हिंदू-समाज जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है, उसी तरह मुस्लिम समाज भी है। जितनी जातियाँ-उपजातियाँ हिंदू-समाज में हैं, लगभग उतनी ही मुस्लिम समाज में भी हैं। यहाँ तक कि मुस्लिम समाज में भी अस्पृश्य जातियाँ हैं, जबकि इस्लाम में 'छुआछूत' की कोई अवधारणा नहीं है।"[1] इस संदर्भ में इम्तियाज अहमद अपने लेख 'भारतीय मुस्लिम समाज की आंतरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज' नामक लेख में लिखते हैं, "भारतीय मुसलमानों के लोकतंत्रीकरण का मतलब है, उनके नाम पर शासन करने वाले विचारों और संस्थाओं को पूरी तरह सामंती मूल्यों से मुक्त किया जाए। इसे वर्ग और जाति, दोनों ही आधार पर समाज के हर समूह का प्रतिनिधित्व करने वाला बनाया जाना चाहिए, लेकिन जैसे ही जाति का नाम लीजिए, मुसलमानों में से अनेक स्वर इसका खंडन करने के लिए उठ आएंगे, पर सच्चाई यह है कि जाति मुसलमान-समाज की उसी तरह वास्तविकता है, जैसा कि अन्य किसी भारतीय-समुदाय की और यह मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में नहीं, तो अंतर वैयक्तिक, सामाजिक और आर्थिक कार्य-व्यापार को प्रभावित करती है, उनके संचालन में प्रभावी भूमिका निभाती है।"[2]

इम्तियाज अहमद के अनुसार किसी भी समाज की तरह भारतीय मुसलमानों के समाज का भी लोकतंत्रीकरण जरूरी है। यह लोकतंत्रीकरण तभी

---

[1] हंस, अगस्त 2003, अब्दुल बिस्मिल्लाह का लेख -'भारतीय मुस्लिम मन' पृ. सं. 90

[2] वही, इम्तियाज अहमद का लेख -'भारतीय मुस्लिम समाज की आतंरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज', पृ. सं. 17-18

घटित हो सकता है जब भारत का मुस्लिम समाज सामंती मूल्यों से मुक्ति प्राप्त करने में सफल हो सकेगा। सामंती जकड़नों में एक बड़ी जकड़न जाति की है। इम्तियाज अहमद का मानना है कि अन्य भारतीय समाजों की तरह मुस्लिम समाज के अंतर्गत भी जाति-समस्या एक भयावह सच्चाई है। मुस्लिम समाज के बहुत से अग्रणी विद्वान व नेता इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार भारतीय मुसलमान एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसमें जाति-समस्या का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि जातियों में बँटवारा इस्लाम की मान्यताओं के खिलाफ जाता है। इम्तियाज अहमद इस तरह की सोच का खंडन करते हैं। वह किताबी असलियत की जगह समाज की वास्तविकता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए उनका स्पष्ट मानना है कि न सिर्फ मुस्लिम समाज में जाति का अस्तित्व है बल्कि सामाजिक और आर्थिक कार्य-व्यापार को नियंत्रित एवं संचालित करने में जाति सर्वाधिक प्रभावकारी साबित होती है। इसलिए किसी भी अन्य भारतीय समाज की तरह जाति से मुक्ति भारतीय मुसलमानों के लिए अनिवार्य एवं प्राथमिक लक्ष्य होना चाहिए।

भारतीय मुसलमान विचारकों के लिए पहली जरूरत यह स्वीकार करने की है कि भारतीय इस्लाम में जाति का अस्तित्व है। इस अस्वीकार के पीछे के कारण को रेखांकित करते हुए इम्तियाज अहमद लिखते हैं, "दरअसल, समुदाय के अंदर लोकतांत्रिक सुधार न शुरू करने के पीछे असल में यह डर काम करता है कि ऐसी कोशिशों का नतीजा ऊँची जाति / वर्ग के मुस्लिम कुलीनों की विशेषाधिकार वाली स्थिति में गिरावट के रूप में ही सामने आएगा।"[1]

इम्तियाज अहमद आंतरिक लोकतंत्र को मजबूत करना आवश्यक मानते हैं। इसी संदर्भ में वह जाति-समस्या को भी सामने रखते हैं। उनका मानना है कि मुस्लिम समाज के एक विशेष वर्ग एवं जाति के लोग ही लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के विरोधी हैं। वह नहीं चाहते कि दलित-मुसलमान उनकी बराबरी करें। वह अपने विशेषाधिकार को सुरक्षित रखना चाहते हैं। वह मुसलमानों में उच्च समझे जाने वाले मुस्लिम-जातियों के वर्चस्व को बनाए रखना चाहते हैं। इसी राजनीति के कारण वह मुसलमानों को जातियों की जगह एक कौम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में इम्तियाज अहमद लिखते हैं, "मुसलमानों को एकजुट या समान समूह

[1] हंस, अगस्त 2003, इम्तियाज अहमद का लेख -'भारतीय मुस्लिम समाज की आतंरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज', पृ. सं. 19

के रूप में पेश करने की आम अवधारणा की जड़ें हिन्दी पट्टी, जिसे 'बीमारू क्षेत्र' भी कहा जाता है, के मुस्लिम अमीर-उमरावों के अपने वर्ग-चरित्र में निहित हैं। ...मुस्लिम समाज में दकियानूस, अलोकतांत्रिक, अंतर्मुखी, हवाई नारेबाजी वाली, सामंती और गैर-तरक्की पसंद, राजनीति के चलने का मुख्य कारण यही है इस समुदाय में तब तक कोई लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया नहीं चल सकती, जब तक इस छोटे से पराश्रयी और सुविधाभोगी वर्ग को दरकिनार नहीं कर दिया जाता।"[1]

इम्तियाज अहमद जाति के साथ वर्ग के प्रश्न को भी विचारणीय मानते हैं। हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी अधिकांशत: उच्च-वर्ग के लोग उच्च कही जाने वाली जातियों से आते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि मुस्लिम समाज के उच्च वर्ग ने अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, मुस्लिम समाज का लोकतंत्रीकरण का विरोध किया। इसी अमीर वर्ग के स्वार्थों के कारण मुस्लिम समाज दकियानूसी, अलोकतांत्रिक, अंतर्मुखी, सामंती और अप्रगतिशील बना रहा। इम्तियाज अहमद के अनुसार भारतीय मुसलमानों के लोकतंत्रीकरण के लिए अमीर मुस्लिमों के वर्ग-चरित्रों को समझना एवं इस सुविधाभोगी और पराश्रयी वर्ग के खिलाफ संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।

इस संदर्भ में कुँवरपाल सिंह मार्क्सवाद की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका मानना है कि जनवादी आंदोलन एवं संघर्षों के मार्फत ही हम मुस्लिम समुदाय को प्रगतिशील विचारों एवं सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रक्रिया से जोड़ सकते हैं। उनके अनुसार "वर्ग राजनीति और वर्ग-संघर्ष के बिना साम्प्रदायिकता से नहीं लड़ा जा सकता। वर्ग-संगठन ही जनता की एकता में सबसे बड़े सहायक होते हैं। मुसलमानों की स्थिति कुछ अधिक दयनीय है। ...वामपंथी दलों और बुद्धिजीवियों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण हो गयी है। मुसलमानों में किसान, मजदूर और कारीगरों की संख्या बहुत अधिक है। उनकी समस्या खाते-पीते और संपन्न मुसलमानों से अलग है। उन्हें कठमुल्लाओं के चंगुल से निकालकर मानवीय अधिकार दिलाने की आवश्यकता है।"[2]

कुँवरपाल सिंह मार्क्सवादी दृष्टि से मुसलमानों की समस्याओं पर विचार करते हैं। उनके अनुसार मुस्लिम समाज एक साथ कई समस्याओं का सामना कर

---

[1] हंस, अगस्त 2003, इम्तियाज अहमद का लेख -'भारतीय समाज की आतंरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज', पृ. सं. 21

[2] वही, कुँवरपाल सिंह का लेख -'वामपंथ और मुसलमान', पृ. सं. 62

रहा है। एक तरफ उनकी लड़ाई साम्प्रदायिकता और कठमुल्लापन से है तो दूसरी तरफ निर्धनता से भी लड़ाई है । किसान, मजदूर और कारीगरों की संख्या ही ज्यादा है और ज्यादातर गरीब मुसलमान हैं। ऐसे में कुँवरपाल सिंह इन समस्याओं के समाधान के लिए वर्ग-राजनीति और वर्ग-संघर्ष को आवश्यक मानते हैं । मार्क्सवादी विचारधारा के माध्यम से वह एक तरफ मुस्लिम-समुदाय में प्रगतिशील सोच का विकास करना चाहते हैं ताकि मुसलमान कठमुल्लापन की राजनीति से मुक्त हो सकें । दूसरी तरफ वह वर्ग-संगठन का निर्माण कर गरीब व शोषित मुसलमान के संघर्षों को तेज करना चाहते हैं । अंतत: वह चाहते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा गरीब किसान-मजदूर एवं कारीगर मुसलमानों को उनके मानवीय अधिकार दिलाने के प्रयास में अपने दायित्त्व का निर्वाह करे।

वर्ग एवं जाति के प्रश्न पर विचार करते हुए चौथीराम यादव पसमांदा विमर्श की चर्चा करते हैं। वह लिखते हैं, "हिन्दू समाज के दलित विमर्श की तरह मुस्लिम समाज में उठ खड़े हुए 'पसमांदा विमर्श' को भी अब नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। मुस्लिम समाज में पसमांदा मुसलमानों की सामाजिक समस्या दलितों की तरह ही अपमानजनक और मारक है। पसमांदा फारसी का शब्द है जिसका अर्थ है जो पीछे छूट गये हैं।"[1]

चौथीराम यादव के अनुसार मुस्लिम समाज के अंतर्गत भी एक दलित समुदाय मौजूद है जिसकी अवस्था हिन्दू दलितों की तरह ही अपमानजनक और दारूण है। इसलिए गरीब एवं दलित मुसलमानों का प्रश्न भी एक विचारणीय प्रश्न है । "हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी स्तर भेद है । मुस्लिम समुदाय मुख्यत: दो श्रेणियों में बँटा हुआ है- (1) अशराफ – 20 प्रतिशत आबादी वाले सवर्ण मुसलमान । (2) अजलाफ – 80 प्रतिशत वाले दलित और पिछड़े मुसलमान जिन्हें पसमांदा कहा जाता है ।"[2] अर्थात् बीस प्रतिशत मुसलमान शेष 80 प्रतिशत मुसलमानों को शोषित एवं वंचित बनाये रखने वाली प्रक्रिया के हिस्सा हैं। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि मुस्लिम समाज में मौजूद जाति और वर्ग भेद दोनों को बेहतर तरीके से समाज के सामने लाया जाए एवं इसके खिलाफ एकताबद्ध ढंग से संघर्ष किया जाए।

---

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज, पृ. सं. 20

[2] वही, पृ. सं. 20

चौथीराम यादव और इम्तियाज अहमद दोनों का मानना है कि जाति एवं वर्ग भेद से मुक्ति के लिए मुस्लिम दलितों एवं पिछड़ों और हिंदू पिछड़ों एवं दलितों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाना चाहिए। चौथीराम यादव इस संदर्भ में लिखते हैं, "हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदाय के पिछड़ों को आपस में लड़ाने की साजिश चल रही है। इस साजिश को समझते हुए पसमांदा मुसलमान पिछड़े वर्ग के साथ मिलकर संयुक्त संघर्ष का संकल्प ले चुके हैं ...।"[1] इम्तियाज अहमद भी इस पहल को उपयोगी मानते हैं। उनके अनुसार "मुस्लिम दलितों और पिछड़ों को हिन्दू दलितों और पिछड़ों को जोड़ने वाली पहल और यह धार्मिक लक्ष्मण-रेखा लांघकर की जा रही है। इसमें इस बात की संभावना है कि आम मुस्लिम समुदाय का काफी बड़ा हिस्सा उस घेरे (घेटो) वाली मानसिकता से बाहर निकलेगा, जिसमें अभी तक के स्वार्थी नेतृत्व और पार्टियों ने भी उसे बांधे रखा था। यह गठजोड़ उन सामजिक शक्तियों का भी है, जिनमें अधिकांश कामगार वर्ग आ जाते हैं। इस गठजोड़ में भूमंडलीकरण और साम्प्रदायिक फासीवाद से लड़ने की ताकत है, बल्कि अकेले इसी समूह में यह संभावना बची भी है ...।"[2]

इम्तियाज अहमद इस गठजोड़ में बहुत संभावना देखते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि मुसलमानों की दयनीय स्थिति का मुख्य जिम्मेदार इसका नेतृत्वकारी वर्ग रहा है। उन्हीं के कारण अधिकांश मुसलमान घेटो की मानसिकता से बाहर नहीं निकल पाते। इस गठजोड़ से उनको उम्मीद है कि दलित मुसलमान घेटो की मानसिकता से निकलकर, व्यापक समाज का हिस्सा बन पाएंगे। दलितों एवं पिछड़ों का यह गठजोड़ साम्प्रदायिकता एवं फासीवाद के स्वत: ही विरोध में खड़ा है। उनके अनुसार चूंकि इस गठजोड़ में अधिकांशत: दलित एवं कामगार वर्ग के लोग शामिल हैं तो वह बाजारवादी शक्तियों से भी लड़ने में कामयाब होगा। इस तरह एक सुखी एवं संपन्न समाज का निर्माण किया जा सकेगा, जहाँ जाति, वर्ग और धर्म के नाम पर भेदभाव संभव नहीं हो पाएगा। इम्तियाज अहमद तो यहाँ तक मानते हैं कि बेहतर भविष्य की उम्मीद सिर्फ इस गठजोड़ से संभव है। साथ ही वह इस गठजोड़ को कुछ बातों से सावधान रहने का भी सुझाव देते हैं। वह लिखते हैं, "... लेकिन इस वर्ग, जाति के राजनैतिक उभार में नफरत और ऐतिहासिक बदला

---

[1] चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज, पृ. सं. 22

[2] हंस, इम्तियाज अहमद का लेख -'भारतीय मुस्लिम समाज की आतंरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज', पृ. सं. 22

लेने वाली राजनीति के लिए जगह नहीं होनी चाहिए, बल्कि इन्हें उन सभी शक्तियों के साथ एकजुट होकर काम करना चाहिए, जो सामंतवाद के विरोध, साम्प्रदायिकता के विरोध और भूमंडलीकरण के विरोध की लड़ाई लड़ने में जुटी हुई हैं और मुस्लिम समाज को अलग-थलग रखकर अपनी गोटियाँ फिट करने वाली जमात से तो लड़ना ही है, तभी इस समुदाय, शासन और समाज का प्रभावी ढंग से लोकतंत्रीकरण हो सकेगा।"[1]

इम्तियाज अहमद का मानना है कि बदले की जगह परिवर्तन को महत्त्व देना ज्यादा जरूरी है । वर्ग और जाति का यह गठजोड़ ही भूमंडलीकरण, साम्प्रदायिकता और सामंतवाद विरोध का ऐतिहासिक दायित्व पूरा कर सकता है। उनके अनुसार ऐसा होने पर ही मुस्लिम समुदाय, शासन और समाज का बेहतर ढंग से लोकतंत्रीकरण हो सकता है एवं मुस्लिम समाज भी विकास की प्रक्रिया से जुड़ सकता है।

4.5 मुस्लिम-स्त्री का प्रश्न

भारत में अब भी सामंती ढाँचा अपनी समस्त जटिलताओं के साथ मौजूद है । पूँजीवाद एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के बावजूद सामंती-मूल्य पूरी तरह से समाप्त नहीं हो पाए हैं। पितृसत्तात्मक व्यवस्था, सामंती नैतिकताओं की ही निर्मिति है, जो औरत को दोयम दर्जे का नागरिक मानती है। औरतों की स्थिति में सुधार तो हुआ है परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। अन्य भारतीय समाज की महिलाओं की तरह मुस्लिम समाज की महिलाएँ भी बहुत सारी समस्याओं की शिकार हैं। इसलिए मुस्लिम स्त्री का प्रश्न एक विचारणीय प्रश्न है। मुस्लिम महिलाओं की समस्या पर विचार करने को आवश्यक मानते हुए जोया हसन लिखती हैं, "मुस्लिम समाज में औरतों की स्थिति को दो नजरियों से देखना चाहिए। पहला यह कि मुस्लिम औरतों की मुस्लिम समाज में क्या स्थिति है ? दूसरा यह कि मुस्लिम औरतों की हिन्दुस्तान के समाज में क्या स्थिति है ? जहाँ तक पहला सवाल है, इसके जवाब में यह कहना बिल्कुल सही होगा कि मुस्लिम औरतों की स्थिति मुस्लिम समाज में अच्छी नहीं है। ऐसा इसलिए कि हिन्दुस्तान के मुस्लिम समाज

[1] हंस, इम्तियाज अहमद का लेख -'भारतीय मुस्लिम समाज की आतंरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज', पृ. सं. 22

में कोई खास बदलाव नहीं हुआ है और मुस्लिम पर्सनल लॉ पिछले 60-70 सालों में बिना किसी तब्दीली के कायम है।"[1]

जोया हसन मुस्लिम औरतों पर दो दृष्टिकोणों से विचार करने का निवेदन करती हैं। अपने पहले उठाये गये सवाल कि मुस्लिम औरतों की मुस्लिम समाज में क्या स्थिति है, के जवाब में वह बताती हैं कि मुस्लिम महिलाओं की स्थिति बहुत चिंताजनक और दयनीय है। इसका कारण वह सालों से अपरिवर्तनीय मुस्लिम समाज को मानती हैं। उनका मानना है कि बदलते समय के साथ मुस्लिम समाज में कोई उल्लेखनीय बदलाव आया ही नहीं है। अधिकांश मुस्लिम समाज अशिक्षा, गरीबी और पिछड़ेपन का शिकार है। सामंती ढाँचा भी मामूली बदलावों के साथ पूर्ववत् बना हुआ है। मुस्लिम पर्सनल - लॉ में भी कोई बदलाव नहीं किया गया है, जो महिलाओं को बहुत मामूली अधिकार ही देता है। इसलिए मुस्लिम समाज के अंतर्गत मुस्लिम महिलाओं की स्थिति शोचनीय ही बनी रही है।

दूसरे पहलू पर विचार करते हुए वह लिखती हैं, "दूसरा सवाल यह है कि मुस्लिम औरतों की स्थिति हिन्दुस्तान के समाज में क्या है ? मुसलमान और मुस्लिम औरत के बारे में हिन्दुस्तान में और दुनिया में जो नजरिया है, वह बँधा-बँधाया है। मुस्लिम औरत की स्थिति पर बात हमेशा इस्लाम के नजरिए से की जाती है। यह नजरिया ही गलत है। कुरान में औरतों के बारे में क्या लिखा है, इस नजरिए से मुस्लिम औरत पर बात करना गलत दृष्टिकोण है। दूसरे धर्म की औरतों की स्थिति पर बात करते समय धर्म केन्द्र में नहीं होता है, बल्कि उनकी स्थिति को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आधारों पर परखते हैं।"[2]

जोया हसन मानती हैं कि मुस्लिम औरतों की स्थिति पर विचार करने की पद्धति ही दोषपूर्ण है। उनके अनुसार भारत सहित दुनिया भर में मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं पर विवेकपूर्ण ढंग से विचार नहीं किया जाता। मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं पर विचार करने के लिए हमेशा धर्म को आधार बनाया जाता है। इस्लाम के आधार पर ही उनकी समस्याओं और चुनौतियों पर विचार किया जाता है। जोया हसन विचार की इस प्रक्रिया को ही गलत मानती हैं। वह लिखती हैं कि जब अन्य समुदाय या धर्म की महिलाओं पर विचार किया जाता है तब उनकी

---

[1] हंस, अगस्त 2003, जोया हसन का लेख- 'मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं, आर्थिक', पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं. 15

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखा जाता है। यह देखने का प्रयास किया जाता है कि वह कितनी आत्मनिर्भर हैं ? समाज में उन्हें कितना अधिकार प्राप्त है ? उनकी सामाजिक भूमिका का स्वरूप क्या है ? परंतु जब मुस्लिम औरतों का सवाल आता है तो ऐसे किसी आधार पर उनकी स्थिति की परख नहीं की जाती । जोया हसन मानती हैं कि मुस्लिम महिलाएँ भी व्यापक हिन्दुस्तानी समाज का ही अंग है। इसलिए उन पर भी विवेकपूर्ण ढंग से विचार किया जाना चाहिए।

"मुस्लिम औरत पर विचार करते समय एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण को नजरअंदाज किया गया है। यह दृष्टिकोण है, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर इन औरतों की स्थिति को परखा जाना।"[1] जोया हसन के अनुसार अक्सर मुस्लिम औरतों पर विचार करते हुए इन पहलुओं को दरकिनार कर मुस्लिम पर्सनल-लॉ को ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अधिकांश मुस्लिम औरतों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। इस कारण उनकी सामाजिक स्थिति भी सम्मानीय नहीं बन पाती। पुरुष पर निर्भरता उनकी मजबूरी बन जाती है । इस तरह उनका अपना व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाता और वे सामंतयुगीन व्यवस्था में जीने को अभिशप्त बनी रहती हैं। जोया हसन उनकी अशिक्षा को उनकी दारूण स्थिति का मुख्य कारण मानती हैं। मुस्लिम औरतों की अशिक्षा का कारण बताते हुए वह लिखती हैं, "मुस्लिम औरत का हिन्दुस्तान में नहीं पढ़ने का मूल कारण गरीबी है। उनकी स्थिति अनुसूचित जाति की तरह है। जिस वजह से अनुसूचित जाति की औरत नहीं पढ़ पाती है, उसी वजह से मुस्लिम औरत भी नहीं पढ़ पाती।"[2]

जोया हसन का स्पष्ट मानना है कि दलित स्त्री और मुस्लिम स्त्री की समस्याएँ लगभग एक तरह की हैं। हिन्दू समाज में जिन कारणों से दलित-स्त्रियों का शैक्षिक विकास नहीं होता ठीक उन्हीं कारणों से मुस्लिम स्त्रियाँ भी अशिक्षित रह जाती हैं। वह धर्म की जगह गरीबी को, मुस्लिम स्त्रियों की अशिक्षा की मुख्य वजह मानती हैं। आगे चलकर उनकी गरीबी, पुरुष पर निर्भरता का कारण बनती है और मुस्लिम स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था में वंचित बने रहने को अभिशप्त हो जाती हैं।

---

[1] हंस, अगस्त 2003, जोया हसन का लेख- 'मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं, आर्थिक', पृ. सं. 15

[2] वही, पृ. सं. 15

मुस्लिम महिलाओं की शोचनीय स्थिति पर विचार करते हुए बहुत सारे मुस्लिम विद्वान धर्म की जगह इसकी गलत व्याख्या को दोषी मानते हैं। इस संदर्भ में महरउद्दीन खाँ लिखते हैं, "जहाँ तक इस्लाम का सम्बन्ध है, यह बात बहुत साफ है कि अन्य समाजों में लम्बे संघर्ष के बाद स्त्रियाँ जो अधिकार ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में हासिल कर पाईं, वे अधिकार इस्लाम ने बिना किसी संघर्ष के छठी सदी में ही स्त्रियों को दे दिए थे। कुरान, हदीस व अन्य धर्म ग्रंथों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि मुसलमान स्त्री को बदनाम करने तथा उसके अधिकारों का हनन करने या उनमें कटौती करने के लिए इस्लाम जिम्मेदार नहीं, वरन् इसके लिए पूरी तरह से मुसलमान और खास तौर पर वे मुसलमान जिम्मेदार हैं जो धर्म की व्याख्या करने का अधिकार रखते हैं।"[1]

महरउद्दीन खाँ यहाँ इस्लाम की प्रगतिशील भूमिका को रेखांकित करते हुए बताते हैं कि इस्लाम औरतों के लोकतांत्रिक अधिकारों का हमेशा से समर्थक रहा है। इसलिए वह मानते हैं कि आज इस्लाम की जो स्त्री विरोधी छवि है, वह इस्लाम के व्याख्याकारों की गलती की वजह से है। इसके बावजूद वह यह मानते हैं कि इस्लाम में औरतों के लिए पर्दा-प्रथा की व्यवस्था रही है। उनके अनुसार "इस्लाम में स्त्री के पर्दे की यह कुल व्यवस्था है, जो आज एक कठोर बंधन बना दिया गया है। इस बंधन से मुक्ति का उपाय सिर्फ मुस्लिम स्त्रियों में जागृति लाना है। जहाँ यह जागृति आ रही है, मुस्लिम-स्त्री पर्दे के बंधन से मुक्त हो रही है।"[2]

महरउद्दीन खाँ यह स्वीकार करते हैं कि पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियों का प्रचलन इस्लाम में रहा है। इस बात को भी वह वैधता प्रदान करने की कोशिश करते हैं। कुरान के हवाले से वह बताते हैं कि इस्लाम में पुरुषों के लिए भी आदेश है कि वह अपनी नजरें नीची करके चलें परन्तु ध्यान देने वाली बात यह है कि इससे पर्दा-प्रथा को सही नहीं ठहराया जा सकता। पर्दा-प्रथा अंतत: और प्रथमत: औरत की अस्मिता का निषेध है। यह प्रथा औरतों के सामाजिक अधिकार एवं अस्तित्व का निषेध करता है जिससे मुस्लिम समुदाय में स्त्री एक वस्तु होकर रह जाती है। महरउद्दीन खाँ यह स्वीकार करते हैं कि इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय

---

[1] राजकिशोर (संपा.) भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, महरउद्दीन खाँ का लेख - 'इस्लाम, मुस्लमान और स्त्री', पृ. सं. 104

[2] राजकिशोर (संपा.) भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, महरउद्दीन खाँ का लेख - 'इस्लाम, मुस्लमान और स्त्री', पृ. सं. 104

मुस्लिम-स्त्रियों को जागृत बनाना है। निश्चय ही मुस्लिम स्त्रियों में जागृति शिक्षा के माध्यम से ही आ सकती है, जिसकी जरूरत को जोया हसन ने महत्त्वपूर्ण तरीके से रेखांकित किया है।

इस्लाम की भूमिका के बारे में अरूण कुमार त्रिपाठी सकारात्मक रूख की अपेक्षा करते हैं । उनके अनुसार "यह बात सही है कि मुस्लिम निजी विधि महिलाओं को उप-मानव का दर्जा देती है। पर यह दावा करना गलत है कि शरीयत में संशोधन नहीं हो सकता या हुआ ही नहीं।"[1] इनका मानना है कि तमाम मुस्लिम देशों में शरीयत में बदलाव आते रहे हैं। जिसके तहत औरतों को अधिकार भी दिया गया। इसलिए भारतीय इस्लाम के अंदर भी इस सुधार की संभावना है, जिससे वह स्त्रियों के प्रति और अधिक उदार बन सकता है।

मुस्लिम महिलाओं की शोचनीय स्थिति का एक प्रमुख कारण शीबा असलम फाहमी मुस्लिम औरतों के संगठन न होने को मानती हैं। जिस तरह अन्य समुदायों के स्त्रीवादी संगठन हैं, उस तरह का संगठन मुस्लिम औरतों का नहीं है। उनके अनुसार "यह बिल्कुल सही है कि हमारे यहाँ मुस्लिम औरतों का कोई भी संगठन नहीं है और इसकी वजह यह है कि हमारे यहाँ समाज पर दकियानूसी मर्दों की पकड़ है।"[2] शीबा असलम फाहमी के अनुसार संगठन के अभाव में मुस्लिम औरतों की आवाजें अनुसनी रह जाती हैं। सामाजिक सुधार की कोशिश वैयक्तिक ही होकर रह जाती है, सांगठनिक प्रयास के अभाव में मुस्लिम समाज की पितृसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उनके अनुसार संगठन न होने के कारण मुस्लिम औरतें अपनी समस्याओं को जोरदार ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पातीं । ऐसे में रूढ़िवादी पुरुषों की सत्ता मुस्लिम औरतों पर कायम रहती हैं और मुस्लिम औरतों को उसी अन्यायपूर्ण व्यवस्था में जीना पड़ता है।

4.6 निष्कर्ष

मुस्लिम विमर्श के रूप में यहाँ मुस्लिम प्रश्नों को विश्लेषित किया गया है। मुस्लिम प्रश्न पर विचार करने की परम्परा बहुत पुरानी है। मुस्लिम प्रश्नों को केंद्र में रख कर रचनाएँ भी होती रही हैं । कई महत्वपूर्ण रचनाकार मुस्लिम समाज की

---

[1] राजकिशोर (संपा.) भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, महरउद्दीन खाँ का लेख - 'इस्लाम, मुस्लमान और स्त्री', पृ. सं. 98

[2] हंस, अगस्त 2003, शीबा असलम फाहमी से पंकज पराशर की बातचीत, पृ. सं. 104

समस्याओं को केन्द्र में रखकर रचनाएँ करते रहे हैं परन्तु आलोचना के स्तर पर अभी भी मुस्लिम विमर्श अपनी सीमित उपस्थिति ही दर्ज कर पाया है।

मुस्लिमों की सामाजिक स्थिति में बदलाव भी बहुत कम दिखाई देता है। इसके लिए अन्य समुदायों के साथ उनकी भी जवाबदेही बड़ी है। समाज में आलोचना की संस्कृति का अभाव, साहित्य के स्तर पर भी दिखाई पड़ता है। अल्पसंख्यक-विमर्श के सीमित विकास का यह एक प्रमुख कारण है। दलित विमर्श या स्त्रीवाद की तरह यह विमर्श अभी तक संगठित नहीं हो पाया है। इसके लिए अभी बाह्य और आंतरिक दोनों ही स्तर पर मुस्लिम विमर्श के आलोचकों का अन्तर्विरोधों से संघर्ष अपेक्षित है। इसके लिए मुस्लिम समाज में विचार और आलोचना की संस्कृति का विकास करना भी आवश्यक है क्योंकि किसी भी समाज के लोकतांत्रिक बनने के लिए आलोचना की संस्कृति का विकास बेहद आवश्यक है, तभी वह समाज व्यापक समाज को लोकतांत्रिक बनाने में भी अपनी भूमिका निभा सकता है।

पंचम अध्याय

5. अस्मितावादी-आलोचना की चुनौतियाँ

हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन का सवाल कई प्रकार की जटिलताओं से भरा हुआ है। इस समस्या के हल के लिए इस देश की ठोस सामाजिक-आर्थिक स्थिति को समझना और उस आधार पर समाज-व्यवस्था के आर्थिक विभाजन के साथ सामाजिक विभाजन को समझना भी आवश्यक है। हमारा समाज जिस प्रकार वर्गीय आधारों पर बँटा हुआ है उसी प्रकार दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक समूहों एवं लैंगिक आधारों पर भी बँटा हुआ है। ऐसे में विभिन्न अस्मिताओं के उदय एवं उत्थान के उद्देश्यों पर विचार करते समय, बहुत सारे प्रश्न सम्मुख खड़े हो जाते हैं। किसी भी विचार को मानने वाले समूह की एक विश्वदृष्टि होती है। यह विश्वदृष्टि ही स्वयं के साथ अन्य की बेहतरी के उद्देश्यों से उन्हें जोड़ती है। ऐसे में अस्मितावादी आलोचना के सामने एक बड़ा सवाल अपने विचार के दायरे से निकल कर समस्त-दुनिया की बेहतरी के विचार से जुड़ने को लेकर प्रकट होता है। बीसवीं सदी के अंतिम और इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दो दशकों में दुनिया भर में आर्थिक सुधारों एवं प्रतियोगिताओं की होड़ दिखाई पड़ती है। उत्तर-आधुनिकता और भूमंडलीकरण विचार और बहस के प्रमुख विषय बन जाते हैं। बाजारवादी संस्कृति का प्रसार दुनिया के स्तर पर होता है। इसी प्रक्रिया में कई अस्मिताओं का निर्माण होता है। बाजारवादी संस्कृति के अधिनायकवादी रवैये को विकसित और अस्मिताओं को निर्मित करने वाले इस समय के बारे में टेरी ईगलटन लिखते हैं,"पारम्परिक औद्योगिक उत्पादन की जगह उपभोक्तावाद, संचार, सूचना तकनीक और सेवा क्षेत्र की 'उत्तर औद्योगिक ' संस्कृति ने ले ली।...बाजार अनियंत्रित हुआ और कामगार वर्गों के आंदोलोनों को भीषण क़ानूनी और राजनीतिक प्रहार सहने को मजबूर किया गया। वर्ग आधारित पारम्परिक निष्ठा कमजोर हुई और क्षेत्रीय, लैंगिक एवं सजातीय अस्मिताएँ तेजी से विकसित हुईं।"[1]

[1] Terry Eagleton, Why Marx Was Right, (There was a shift from traditional industrial manufacture to a "postindustrial" culture of consumerism, communications, information technology, and the service industry …Markets were deregulated, and the working class movement subjected to savage legal and political assault. Traditional class allegiances were weakened, while local, gender and ethnic identities grew more insistent.) page no. 04

अर्थात् उत्तर औद्योगिक संस्कृति का विकास विश्व-स्तर पर हुआ और इसका प्रभाव भी दुनिया के प्रायः सभी हिस्सों, वर्गों एवं समुदायों पर पड़ा। टेरी ईगलटन अस्मिताओं के निर्माण को इसी सन्दर्भ में देखते और व्याख्यायित करते हैं। ऐसे में अस्मितावादी राजनीति और साहित्य का दायित्त्व बड़ा और चुनौतियों भरा प्रतीत होता है। इसी सन्दर्भ में आनंद तेलतुंबड़े लिखते हैं, "मेरी राय में सभी तरह की अस्मिताओं की राजनीति विभाजनकारी, न्याय और मुक्ति के असली मुद्दे से ध्यान भटकाने वाली हैं। मेरी नजर में सार्वभौमिक जैसी माने जाने वाली राष्ट्रीय अस्मिता भी इसका अपवाद नहीं है।"[1] यह देखना आवश्यक है कि अस्मितावादी आलोचना सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को किस प्रकार आगे बढ़ाती हैं। अतएव इन सन्दर्भों में अस्मितावादी आलोचना पर विचार किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

आज के समय, चुनौतियों एवं दायित्त्व पर विचार करते हुए टेरी ईगलटन लिखते हैं, "इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है कि हमारे पास न सिर्फ नस्लवाद बढ़ाने और सांस्कृतिक मूढ़ता फ़ैलाने, खुद को जंग में धकेलने या श्रम शिविरों में बंद करने बल्कि इस धरती से अपना सफाया कर देने की ताकत भी आ गई है।"[2] इसी लेख में टेरी ईगलटन परमाणु अस्त्रों के प्रयोग होने से दुनिया के ही ख़त्म हो जाने की आशंका भी सामने रखते हैं। आसन्न संकट को स्पष्ट करते हुए वह बताते हैं कि हम पहली बार मानव-सभ्यता के इतिहास के एक ऐसे मोड़ पर आ खड़े हुए हैं जहाँ पूरी मानव-सभ्यता और दुनिया के ही खत्म हो जाने का संकट उपस्थित हो गया है। ऐसे में सवाल उठता है कि विभिन्न अस्मितावादी-चिंतन इस संकट का सामना कैसे करेंगे ? अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष को किस तरह से विकसित किया जाए कि वह विश्व स्तर पर घट रही घटनाओं से भी जुड़ सके। समकालीन हिंदी आलोचना के अंतर्गत अस्मितावादी आलोचना की इस भूमिका को समझना ही, अस्मितावादी-चिंतन की वास्तविक चुनौतियों की पहचान करा पाएगा।

---

[1] समयांतर, जनवरी 2013, आनंद तेलतुंबड़े से भूपेन सिंह की बातचीत, पृ. सं. 45

[2] Terry Eagleton, Why Marx Was Right, , (For the first time in history, our prevailing form of life has the power not simply to breed racism and spread cultural cretinism, drive us into war or herd us into labour camps, but to wipe us from the planet.), page no. 08

5.1 दलित विमर्श की चुनौतियाँ

5.1.1 दलित चेतना का प्रश्न :

"भारतीय दलित साहित्य के सन्दर्भ में पहली चिंता 'दलित चेतना के पहचान' के सम्बन्ध में की जा सकती है ।"[1] दलित चेतना की विशिष्टता को परिभाषित करना, दलित विमर्श के लिए आवश्यक प्रतीत होता है । हिंदी साहित्य के अंतर्गत दलित विमर्श अपनी प्रारंभिक अवस्था पूरी कर चुका है । इसलिए दलित विमर्श के आरंभिक दौर में चले विवादों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता । ऐसे में दलित और गैर दलित लेखन के सवाल को महत्त्व नहीं देकर, दलित चेतना के सवाल को केंद्र में लाना आवश्यक प्रतीत होता है । दलित या गैर दलित द्वारा लिखे गये साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन उसमें व्याप्त चेतना के रूप पर निर्भर करता है । इसलिए वास्तविक चुनौती दलित चेतना के पड़ताल की है ।

इस सन्दर्भ में दलित साहित्य की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर (mass literature)। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (literature of action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है । इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य ।"[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा प्रस्तावित यह परिभाषा दलित चेतना के स्वरूप पर भी प्रकाश डालती है । सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष की चेतना को उन्होंने विशेष महत्त्व दिया है । विद्रोह और उससे उपजे संघर्ष की चेतना को वह दलित-साहित्य का केन्द्रीय तत्व मानते हैं । इसी कारण दलित-साहित्य उनके अनुसार जन साहित्य और 'एक्शन' का साहित्य ज्यादा है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार दलित चेतना का सीधा सम्बन्ध अन्यायपूर्ण सामंतवादी व्यवस्था से है । ऐसे में यह विचारणीय है कि इस व्यवस्था के विरुद्ध दलित चेतना के प्रतिरोध का स्वरूप क्या होगा ? आज के सामंतवाद का स्वरूप पारंपरिक सामंतवाद से बिल्कुल अलग है इसलिए पूंजीवाद-पोषित

---

[1] बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख, भारतीय दलित साहित्य की चिंताएं, पृ. सं.11

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. सं. 15

सामंतवादी व्यवस्था के आलोक में दलित चेतना को विकसित किया जाना आवश्यक है। दलित चेतना को सिर्फ सामंतवाद विरोध तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए। इसके लिए जरुरी है कि वाल्मीकि जी द्वारा प्रस्तुत परिभाषा को समकालीन संदर्भों के आलोक में वैज्ञानिक ढंग से विकसित किया जाए।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के संदर्भ में यह भी मानते थे कि "दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है तथा जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।"[1] इसी संदर्भ में मराठी के प्रतिष्ठित दलित नाटककार के द्वारा प्रस्तुत किए गए परिभाषा और एक उदाहरण को देखना समीचीन होगा। दत्ता भगत के अनुसार "जाति के कारण उत्पन्न कथा वेदना या दुःख ही दलित चेतना है।"[2] इसी क्रम में जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया वह जितना आश्चर्यचकित करने वाला है उतना ही आत्मपरीक्षण के लिए प्रेरित करने वाला है। उन्होंने लिखा, "दलित की किसी संस्था में अधिकांश दलित हैं और एक दो ब्राह्मण कर्मचारी भी हैं। सारे दलित जब उस सवर्ण/ब्राह्मण को अपमानित करने लगते हैं, परेशान करने लगते हैं तब उसकी वह यातना-वेदना दलित दुःख ही है क्योंकि वह जाति के कारण उत्पन्न हुआ है।"[3]

इन दोनों विचारों के माध्यम से हम दलित चेतना के विविध पक्षों को समझ सकते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि और दत्ता भगत दोनों ही जाति-व्यवस्था से उपजे यातना एवं व्यथा को दलित चेतना का मूल निर्धारक तत्व मानते हैं। इसके बावजूद दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर भी दिखाई पड़ता है। दोनों का प्रस्थान-बिंदु जाति होते हुए भी उसके प्रभाव की व्याख्या में अंतर आ जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि वर्ण व्यवस्था से उपजे जातिवाद के नकार को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह नकार का भाव सिर्फ दलित वर्गों के जाति दंश को महत्त्व देता है, किन्हीं स्थितियों में दलित वर्ग द्वारा जाति दंश को बढ़ावा देने को नहीं। दत्ता भगत किसी भी तरह की वेदना जो जाति की यातना से पैदा होती है, वह चाहे दलित की हो या गैर दलित की; उसे दलित दुःख ही मानते हैं। दत्ता भगत की परिभाषा अम्बेडकर की बंधुता के भावना को सही अर्थों में विकसित करने वाली प्रतीत होती है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं.16

[2] उद्धृत, शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं.53

[3] उद्धृत वही, पृ. सं.56

यह है कि इन दोनों विचारों के अंतर को दलित चेतना का निर्धारण करते समय विचारकों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। दलित चेतना को लेकर विभिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न मत है इसलिए एक व्यापक स्वरूप को निर्धारित करना जरूरी है। मराठी साहित्यकार बाबुराव बागुल ने "सभी श्रमिक दलित व्यक्ति, पतित शोषित जन की चेतना को दलित चेतना"[1] कहा है। ऐसे में "प्रश्न है कि इन व्यापक परिभाषाओं को स्वीकार किया जायेगा या जो जन्म से दलित है, उसी की चेतना को दलित चेतना कहकर साहित्य क्षेत्र को एक जाति तक सीमित रखने वाले हैं ? - यह अहम प्रश्न है।"[2]

शरण कुमार लिम्बाले ने अपने एक लेख 'दलित साहित्य और उसका भविष्य' में लिखा है, "संविधान को प्रमाण मानकर चलें तो इसके अंतर्गत एस.सी., एस.टी., डी.एन.टी., एन.टी. तथा पिछड़े वर्ग (ओबीसी) आते हैं। देश की 50% की कथा-वेदना-अनुभूति को ही इस दलित चेतना के रूप में स्वीकारने वाले हैं क्या? यह प्रश्न है।"[3] दलित चेतना का सम्बन्ध चातुर्वण्य-व्यवस्था की अमानवीयता एवं इससे पैदा हुई वेदना से है, यह एक निर्विवाद सत्य है। इस व्यवस्था से प्रताड़ित होने वाले दलित के साथ अन्य जाति एवं समुदाय रहे हैं। इसी संदर्भ में शरण कुमार लिम्बाले यहाँ एस.सी के साथ अन्य जातियों एवं समुदायों की चेतना को महत्त्व देने का सवाल सामने रखते हैं। दलित साहित्य आज अनुसूचित जातियों तक ही सीमित रहा है, यह एक तथ्य है। ऐसे में दलित चेतना के विस्तार का प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार "...क्योंकि अगले कुछ दशकों में समाज के कई तबके अपनी व्यथा को लेकर साहित्य जगत में प्रवेश करने वाले हैं। भारतीय दलित साहित्य के प्रवाह के दरवाजे उन सब व्यथितों के लिए खुले रखे जाने वाले हैं अथवा इसे केवल दलित जातियों तक ही सीमित रखने वाले हैं ?"[4]

वस्तुतः दलित चेतना के स्वरूप का निर्धारण दलित साहित्य की प्रासंगिकता से जुड़ा है। शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार दलित चेतना के स्वरूप

---

[1] उद्धृत, शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं.39

[2] बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. सं.14

[3] श्यौराज सिंह 'बेचैन', रजतरानी 'मीनू' (संपा.), दलित दखल, पृ. सं.35

[4] वही, शरण कुमार लिम्बाले का लेख, दलित साहित्य और उसका भविष्य, पृ. सं.35

का विस्तार दलित साहित्य की व्यापकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा । इसलिए इसे सिर्फ जाति विशेष तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए । उनके अनुसार दलित साहित्य को समाज के सभी तबकों के दमितों एवं व्यथितों की आवाज बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए । तभी दलित साहित्य स्वतंत्रता, समता एवं बंधुता की भावना को सही अर्थों में विकसित करने के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । अतः दलित चेतना के अनुभूति क्षेत्र को विस्तारित करना अत्यंत आवश्यक है।

5.1.2 दलित विमर्श के वैचारिकी का प्रश्न :

दलित विमर्श के समक्ष दलित साहित्य की वैचारिकी का निर्धारण एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । इस संदर्भ में कँवल भारती ने लिखा, "म. बुद्ध, कबीर, फुले, मार्क्स और अम्बेडकर के विचारों को केंद्र में रखकर यह साहित्य चलने वाला है अथवा कुछ राग अलापने वाला है ?"[1] साहित्य की बुनियाद में किसी न किसी विचारधारा या दर्शन का होना जरूरी माना जाता है । दलित साहित्य के विचारक, दलित साहित्य एवं विमर्श को अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित मानते हैं । असल में विचारधारा या दर्शन कई पीढ़ियों के परिणाम होते हैं । विभिन्न युग देशकाल एवं व्यक्तियों के विचारों से गुजरता हुआ, वह एक विशेष रूप प्राप्त करता है । साहित्य की दुनिया में विचारधारा का स्वरूप विचार की दुनिया से अलग होता है । यहाँ विचारधारा स्पष्ट रूप में मौजूद नहीं होती, जैसा कि राजनीतिक दुनिया में होता है । इस संदर्भ में टेरी इगलटन ने लिखा है, "साहित्य का रिश्ता भावबोध की दुनिया को खास नजरिये से देखने और विशेषकर दुनिया को सर्वाधिक प्रचलित दृष्टि से देखने से है जिसे किसी युग की सामाजिक मानसिकता या विचारधारा कहा जाता है । विचारधारा अपने समय के उन ठोस सामाजिक सम्बन्धों की उपज है जिसमें व्यक्ति किसी खास समय या स्थान में प्रवेश करता है ।"[2] इस तरह साहित्य की वैचारिकी विचारधाराओं के आपसी रिश्ते का प्रतिफलन होता है । यह दो स्तरों पर घटित होता है । एक तरफ साहित्य अपने ऐतिहासिक, सामाजिक एवं युगीन विचारों से

---

[1] उद्धृत, बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख- 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं.11

[2] टेरी इगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यलोचन, पृ. सं.26-27

प्रभावित होता है और दूसरी तरफ उस पर किसी खास विचारधारा का प्रभाव होता है। इन्हीं का परिणाम किसी साहित्य की वैचारिकी में परिलक्षित होता है।

दलित साहित्य की विचारधारा पर भी विभिन्न युगों एवं व्यक्तियों का प्रभाव है। माना जाता है कि यह बुद्ध, कबीर, फुले, मार्क्स से होता हुआ अम्बेडकर के विचारों में पूर्णता प्राप्त करता है। सूर्यनारायण रणसुभे के अनुसार "...अगर इन नामों से विवाद हों तो इस बात पर तो सहमति जतलाई जा सकती है कि भारतीय दलित साहित्य की नींव में भारतीय संविधान द्वारा दी गई मूल्यव्यवस्था को स्वीकारा जाए।"[1] सूर्यनारायण रणसुभे इस संदर्भ में मानते हैं कि भारतीय संविधान बुद्ध, कबीर, मार्क्स, फुले और अम्बेडकर के विचारों का सार है। इसलिए दलित विमर्श को इन्हीं सभी चिंतकों के विचारों का गंभीरता से अध्ययन एवं पुनर्परीक्षण करना होगा।

दलित विमर्श के संदर्भ में उपरोक्त चिंतकों में मार्क्स का नाम शामिल होना विवादास्पद हो सकता है। दलित वैचारिकी पर विचार करते हुए अम्बेडकर और मार्क्स के परस्पर विरोधी होने की बात को प्रमुखता से उठाया जाता है। जबकि दोनों के विचारों के केंद्र में शोषित वर्ग है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारत में मार्क्स के सर्वहारा वर्ग का अधिकांश अस्पृश्य जनता है। इसलिए मार्क्स और अम्बेडकर के विचारों में टकराहट की जगह साम्य ढूँढ़ने की आवश्यकता ज्यादा प्रतीत होती है। सूर्यनारायण रणसुभे इस संदर्भ में लिखते हैं, "20वीं शती के महामानवों में से एक कार्ल मार्क्स भी हैं। इस महत्त्वपूर्ण विचारक का प्रभाव बाबा साहब अम्बेडकर पर भी रहा है।"[2] इसी संदर्भ में सूर्यनारायण रणसुभे मराठी के वरिष्ठ दलित चिन्तक डॉ. राव साहब कसबे का जिक्र किया है। उन्होंने लिखा, "महाराष्ट्र के दलित चिंतकों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसने मार्क्स को पूर्ण रूप से नकारा है परन्तु वरिष्ठ दलित चिन्तक डॉ. राव साहब कसबे ने इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी है 'मार्क्स और अम्बेडकर'। डॉ. कसबे ने अनेक प्रमाणों

[1] बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख- 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं. 12

[2] वही, पृ. सं.12

द्वारा यह साबित किया है कि मार्क्स को लेकर डॉ. अम्बेडकर के विचार कितने सकारात्मक थे।"[1]

यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय दलित चिन्तक और सर्जक मार्क्स के विचारों को किस रूप में स्वीकार करते हैं ? इसी से सम्बंधित दूसरा पक्ष है कि मार्क्सवाद को साहित्य की मुख्य प्रेरणा मानने वाले विचारक एवं सर्जक अम्बेडकर के विचारों को कितना महत्त्वपूर्ण मानते हैं ? इन दोनों के विचार एक दूसरे के विरोधी हैं या पूरक, इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार होना चाहिए। इस संदर्भ में सूर्यनारायण रणसुभे ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित करते हुए लिखा है, "यह अकारण नहीं है कि जब मार्क्स लंदन में बैठकर 'दास कैपिटल' लिख रहे थे- आर्थिक शोषण का पर्दाफाश कर रहे थे- उसी वर्ष (1871) पुणे में बैठकर म. फुले 'गुलामगिरि' लिख रहे हैं- धार्मिक और सांस्कृतिक शोषण के खिलाफ, वर्ण और जाति व्यवस्था के खिलाफ। 1871 में लिखे गये ये दोनों ग्रन्थ मनुष्य-मुक्ति के महान ग्रन्थ हैं। इन दोनों के विचारों का स्थान दलित चिंतन में कहाँ होगा, इसे स्पष्ट करना जरूरी है।"[2]

अम्बेडकर स्वयं 'गुलामगिरि' को दलित चेतना एवं वैचारिकी के विकास के लिए सर्वाधिक उपयोगी ग्रंथ मानते थे और मार्क्सवादी विचारों की दुनिया में 'दास कैपिटल' का स्थान सर्वोपरि है। ऐसे में इन दोनों विचारों के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को समझना एवं उसे विकसित करना दलित वैचारिकी के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यह समझना आवश्यक है कि इस देश की वंचित और दलित जनता को न्याय इन दोनों विचारों के टकराहट में नहीं बल्कि सम्मिलित विकास से ही मिल सकता है।

5.1.3. वर्ग और जाति का द्वंद्व:

वर्ग और जाति के द्वंद्व का प्रश्न हमेशा से दलित चिंतकों के सामने रहा है। दलित साहित्य के केंद्र में जाति का प्रश्न रहा है, इसलिए जाति-उन्मूलन दलित विमर्श का सर्वोपरि लक्ष्य है। इस लक्ष्य-प्राप्ति में वर्ग का सवाल सहायक है या

---

[1] बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख- 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं.12

[2] वही, पृ. सं. 12

बाधक, यह विचारणीय है। जाति सामंती समाज की उपज है परन्तु इस पूंजीवादी युग में भी उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। सामंतवाद और पूंजीवाद के भारतीय गठजोड़ ने दोनों ही पक्षों के विचारकों के लिए वर्ग और जाति के रिश्ते को जटिल बना दिया है। इसलिए इस पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है।

सुभाष गाताडे इस स्थिति की जटिलता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "यहाँ के वामपंथियों द्वारा जाति की संश्लिष्टता को समझने में जिन सीमाओं का प्रदर्शन किया गया है - जिसकी वजह से उनपर 'समाजशास्त्रीय दृष्टिहीनता' के आरोप लगते रहे हैं – इन सभी के चलते हमारे वक्त के वाम बुद्धिजीवियों के लिए इस मुद्दे की संतोषजनक विवेचना करना मुमकिन नहीं हो सका है। अम्बेडकरी आंदोलनों के वारिसों के लिए भी – जिन्हें भी फूट दर फूट का शिकार होना पड़ा है – इस मुद्दे के प्रति संतुलित समझदारी बनाना मुश्किल साबित हुआ है।"[1] इसलिए दोनों ही पक्षों के विचारकों को संतुलित दृष्टिकोण का विकास करना होगा। जाति और वर्ग दोनों ही हमारे समाज की वास्तविकता है। इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव हर जगह दिखाई पड़ता है। मराठी के दलित साहित्य में एक वर्ग रहा है जो जाति के साथ वर्ग को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए वे अम्बेडकर के विचारों के साथ मार्क्सवादी विचारधारा को भी दलित चिंतन के विकास के लिए जरूरी मानते हैं। हिंदी के दलित-साहित्य के अंतर्गत भी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति आग्रह बढ़ा है। 'दलित प्रश्न और मार्क्सवाद' नामक पुस्तक में आर. डी. आनंद ने लिखा है, "मैं यह समझ पाया हूँ कि दलितों के हितों की रक्षा मार्क्सवाद से कहीं भी खंडित नहीं होती है। मार्क्सवाद में दर्शन की स्पष्टता है तथा पूरा का पूरा अम्बेडकरवाद मार्क्सवाद में निहित है।"[2] इसी प्रकार 'जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण' पुस्तक में रंगनायकम्मा लिखती हैं, "वर्ग भेद ही जातिभेद का आधार है। इसलिए जातिभेद का लोप वर्ग संघर्ष पर ही निर्भर है।"[3]

इन दोनों ही उद्धरणों में वर्ग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और जाति की वास्तविकता को न्यूनीकृत करने का प्रयास किया गया है। दोनों ही मत अतिरंजनापूर्ण हैं। अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं,

---

[1] सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं.62

[2] आर. डी. आनंद, दलित प्रश्न और मार्क्सवाद, पृ. सं. 12

[3] रंगनायकम्मा, जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण, पृ. सं. 20

एक दूसरे में शामिल नहीं। यह मान भी लिया जाए कि जाति का लोप वर्ग-संघर्ष पर निर्भर करता है, तब यह प्रश्न भी स्वाभाविक होगा कि उस वर्ग-संघर्ष का आधार क्या होगा। वह कौन सी भूमिका होगी जो वर्ग-संघर्ष के लिए जरूरी परिस्थितियों का निर्माण करेगी ? निश्चित रूप से जाति की समस्या को संबोधित किए बिना, ऐसा संभव होना मुश्किल प्रतीत होता है।

दूसरी तरफ दलित लेखकों एवं चिंतकों का एक वर्ग ऐसा है जो मार्क्सवाद को सहयोगी की भूमिका में नहीं देखता। उनका मानना है कि वर्ग-भेद को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण मार्क्सवाद ने जाति-प्रश्न को लगभग उपेक्षित समझा। सुभाष गाताडे ने इसी कारण ऐसे मार्क्सवादियों को 'समाजशास्त्रीय-दृष्टिहीन' कहा। जाति प्रश्न के समाधान के लिए ही नहीं बल्कि स्वयं मार्क्सवाद के लिए भी भारतीय परिपेक्ष्य में अपनी प्रासंगिकता को बनाए रखने के लिए जाति-प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। इस संदर्भ में सुभाष गाताडे का यह कहना बिल्कुल उचित प्रतीत होता है कि "भारतीय समाज व्यवस्था जिसकी तुलना डॉ. अम्बेडकर ने एक बहुमंजिली इमारत से की, जहाँ एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ी भी नहीं हो, उसे समझने के लिए मार्क्सवादी पद्धति को गहन ढंग से लागू करने की आवश्यकता होगी।"[1]

पिछले कुछ वर्षों में दोनों ही तरफ से लगने वाले आरोप-प्रत्यारोपों के बावजूद संवाद बढ़ा है। अब कई विचारक अम्बेडकर के विचारों एवं मार्क्सवादी विचारधारा को सहयोगी के रूप में देखते हैं। भारतीय मार्क्सवाद के अंदर यह सोच दृढ़ हुई है कि भारतीय परिवेश के अंतर्गत ही मार्क्सवादी विचारधारा को समझना एवं विकसित किया जाना चाहिए। आनंद तेलतुंबड़े इस पक्ष को उजागर करते हुए लिखते हैं, "यह मार्क्सवाद की इस धारणा को भी मजबूत करती है कि क्रांतिकारी सिद्धांत जन-समाज के विशेष अध्ययन पर ही आधारित होना चाहिए न कि ऐतिहासिक विकास के बारे में स्वतः व निजी शोध प्रणाली पर विश्वास करते हुए।"[2]

यह एक तथ्य है कि दुनिया का प्रत्येक समाज वर्गों में बँटा होता है। भारत में भी सभी समाज वर्गों में बँटे हुए हैं परंतु यहाँ स्थिति एकरेखीय नहीं है। भारत में

---

[1] सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं.139

[2] आनंद तेलतुंबड़े , साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, पृ. सं.37

ऐसी कोई जाति नहीं मिलेगी जो वर्गों में विभाजित न हों, वहीं दूसरी तरफ ऐसा कोई वर्ग नहीं मिलेगा जो जातियों में विभाजित न हो। इसलिए प्रकारांतर से ही दोनों ही विचारधाराओं का लक्ष्य एक ही है इस संदर्भ में आनंद तेलतुंबड़े लिखते हैं, "साम्राज्यवाद विरोध और जाति प्रश्न के समाधान के लिए किए जाने वाले संघर्ष में कोई फर्क नहीं है।"[1]

भारतीय मार्क्सवादियों के सकारात्मक पहल के साथ दलित चिंतकों को भी पुरानी हो चुकी धारणाओं का त्याग करना होगा। किसी भी वैज्ञानिक विचारधारा की सफलता स्वयं को सही रखते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाने में है। दलित विमर्श को अपने अन्तर्गत आत्मालोचन की संस्कृति को विकसित करना होगा। इस संदर्भ में सुभाष गाताडे लिखते हैं, "दलित जनता मोनोलिथ अर्थात अखण्ड है, यह बात पुरानी हो चुकी है। सामाजिक गतिविज्ञान पर बारीकी से निगाह रखने वाले बता सकते हैं कि समुदाय, गोत्र आधार पर दलित समुदाय में पहले से चली आ रही दरारों के अलावा दलित जन खुद विभिन्न तबकों / वर्गों में बँटे हुए हैं।"[2]

दलित चिंतकों को इस सच्चाई को स्पष्टता से स्वीकार करना पड़ेगा कि विशेषकर स्वतंत्रता के बाद दलित समुदाय के भीतर वर्गों का विकास तेजी से हुआ है। उनके यहाँ भी आज वर्ग एक वास्तविकता है और उसने दलितों के शोषण की प्रविधियों को मजबूत भी किया है। असल में जाति-मुक्ति के लिए किया जाने वाला संघर्ष, वर्ग आधारित शोषण-व्यवस्था के लिए भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसलिए जाति-प्रश्न के समाधान के लिए किया जाने वाला संघर्ष अंततः उन लोगों के विरुद्ध होगा जो भारत में साम्राज्यवाद को मजबूत बनाए रखने में अपना योगदान दे रहे हैं। इसलिए जरूरत वर्ग और जाति के एकता की है। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना का विकास इन दोनों की एकताबद्ध संघर्ष में ही निहित है।

इस संदर्भ में माओवाद के प्रश्न को छोड़ा नहीं जा सकता। मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत भी दो धाराएँ हैं। एक जनतांत्रिक और दूसरी माओवादी। माओवादी शांतिपूर्ण संघर्षों की जगह सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखते हैं। इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि माओवाद को मानने वालों में एक बड़ी संख्या दलितों की

---

[1] आनंद तेलतुंबड़े , साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, पृ. सं. 43

[2] सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं. 71

है । ऐसे में दलित विमर्श इन दलितों एवं उनके साहित्य के प्रति कैसा दृष्टिकोण अपनायेगा ? इनका संघर्ष और रचनाकर्म दलित साहित्य के अंतर्गत किस तरह से स्वीकार्य होगा ? कहने का अर्थ यह है कि भारतीय दलित समाज की कई समस्याएँ हैं, उनका जीवन एकरेखीय न होकर बहुरेखीय है । इसलिए दलित विमर्श को स्वयं को व्यापक बनाने का प्रयास करना पड़ेगा, इस दृष्टि से वर्ग एवं जाति का प्रश्न अत्यंत विचारणीय हो जाता है । इस संदर्भ में जयप्रकाश कर्दम का यह कथन उल्लेखनीय है, "बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर का सपना जातिविहीन एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था । ऐसा होने पर ही समाज में समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की स्थापना हो सकती है तथा लोकतंत्र पनप सकता है जो किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की प्रगति एवं विकास के लिए आवश्यक है ।[1]

5.1.4.दलित पूँजीवाद का प्रश्न:

दलित विमर्श के सामने दलित पूँजीवाद आज एक चुनौती की तरह खड़ा है । दलित पूँजीवाद के समर्थकों का मानना है कि जाति उन्मूलन का रास्ता, पूँजीवाद के जनतंत्रीकरण से ही संभव है । इसलिए दलितों को जल्द-से-जल्द पूँजीवाद के विकास में पूरे उत्साह से सहयोग करना चाहिए । इनका यहाँ तक मानना है कि पूंजी का समर्थक ही अम्बेडकर का सच्चा अनुयायी है । इस संदर्भ में दलित चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज के संस्थापक सदस्य मिलिन्द काम्बले ने सीएनएन-आईबीएन के साथ बातचीत में कहा, "डॉ. अम्बेडकर के सच्चे अनुयायी बनने का मतलब 'नौकरी देने' वाले बनो; न कि 'नौकरी चाहने वाले'...पूंजीपतियों से लड़ो मत बल्कि उनके जैसा बनने की कोशिश करो ।"[2] इसी प्रकार का मत पूँजीवाद के समर्थक दलित विचारक चंद्रभान प्रसाद का भी है । उनके अनुसार "कुछ दर्जन दलितों का मार्केट स्पेक्युलेटर्स बनना, स्टॉक एक्सचेंज में दर्ज दलित मिल्कियत वाली चन्द कार्पोरेशन्स, प्राइवेट जेट वाले चन्द दलित और गोल्फ कैप्स वाले चन्द दलित, दरअसल जनतांत्रिक पूँजीवाद को और आकर्षक बना देगा ।"[3]

---

[1] जयप्रकाश कर्दम, दलित विमर्श : साहित्य के आईने में, पृ. सं. 17

[2] उद्धृत,सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं.60

[3] वही, पृ. सं.61

पूँजीवाद को जनतांत्रिक कहना और पूंजीवादियों का विरोध करने की जगह उनके जैसा बनने को प्रस्तुत होना दलित पूँजीवाद के उद्देश्यों को स्पष्ट करता है। अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद दोनों को ही, दलित समाज का सबसे बड़ा शत्रु माना था। अम्बेडकर ने 12 और 13 फरवरी को महाराष्ट्र के रेल केंद्र मनमाड में दलित कामगारों के एक सम्मेलन को संबोधित करते हुए, स्पष्ट कहा कि "भारत में कामगार वर्ग के दो शत्रु हैं – ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद।"[1] दलित मुक्ति के लिए वह इन दोनों ही व्यवस्था का अंत चाहते थे। आज अम्बेडकर की ही विचार को अम्बेडकर के खिलाफ खड़ा करने का प्रयास दलित पूँजीवाद के नाम पर किया जा रहा है।

दलित विमर्श को ब्राह्मणवाद के विरोध के साथ पूँजीवाद के विरोध को भी महत्त्व देना होगा। सृजन एवं विचार, दोनों ही स्तर पर यह आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना जरूरी होगा कि क्या पूँजीवाद के अनेक रूप हो सकते हैं ? क्या दलित पूँजीवाद और ब्राह्मण पूँजीवाद अलग-अलग हैं ? या पूँजीवाद हर तरह से एक ही होता है ? पूँजीवाद की व्यापक परिभाषाओं पर हम नजर डालें तो पता चलता है कि पूँजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जो मजदूर वर्ग के शोषण से उपजे मुनाफे पर आधारित होती है। साथ ही उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर कुछ विशेष लोगों (पूँजीपति) का ही वर्चस्व होता है। सवाल यह है कि क्या दलित पूँजीपति इससे कुछ अलग रूप में पूँजीवाद को प्रस्तुत कर पायेंगे। इस संदर्भ में सुभाष गाताडे का स्पष्ट मत है, "हम पूँजीवाद को जिस तरह से भी समझें या परिभाषित करें, इस बात को रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि जमीनी स्तर पर कोई फर्क नहीं पड़ता अगर पूंजी के मालिकान किसी समुदाय विशेष से- जाति-धर्म, नस्लीयता सम्बंधित हों।...दरअसल पूँजीवाद हमेशा ही एक बहुरंगी प्रणाली के तौर पर अस्तित्व में रहता आया है, जिसका आंतरिक तर्क अक्षुण्ण रहता है।"[2]

सुभाष गाताडे का मानना है कि दलित पूँजीवाद भी शोषण की पद्धति को जारी रखने का ही एक अन्य रूप है। पूँजीवाद के जनतंत्रीकरण से ज्यादा बड़ा सवाल जनतंत्र को मजबूत करना है। शोषित और शोषकों के बीच की दूरी को

---

[1] उद्धृत, गेल ओमवेट, अम्बेडकर, पृ. सं.7

[2] सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं.81

मिटाकर ही यह संभव हो पाएगा। पूँजीवाद का समर्थन करना अंततः ब्राह्मणवाद को ही बढ़ावा देना होगा। इस संदर्भ में कँवल भारती का यह कथन उल्लेखनीय प्रतीत होता है, "कहा जाता है कि पूंजीवादी विकास की क्रांति समाज के सामंती ढाँचे को नष्ट कर देती है, परन्तु भारत में हम इसका उल्टा देख रहे हैं। यहाँ पूँजीवादी अर्थतंत्र में न केवल सामंतवाद और भी मजबूत हो रहा है, बल्कि उसके अवशेष ब्राह्मणवाद और जातिवाद भी ताकतवर स्थिति में हैं।"[1]

अम्बेडकर इन्हीं कारणों से पूँजीवाद को दलित वर्गों का प्रमुख शत्रु मानते थे। अम्बेडकर जब कहते हैं कि भारत में श्रम के साथ-साथ श्रमिकों का भी बँटवारा होता है, तब वह पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन नहीं कर रहे होते हैं। वह मार्क्स की बातों को भारतीय परिप्रेक्ष्य में विस्तारित कर रहे होते हैं। वह श्रमिकों के साथ श्रम के बँटवारे को प्रोत्साहित करने वाली समूची व्यवस्था का ही अंत चाहते थे। मजदूर वर्गों के संघर्ष को बहुत ज्यादा महत्त्व देते थे। कम्युनिस्ट विचारधारा से संबंधित उनकी इस टिप्पणी में हम उनके विचारों को देख सकते हैं – मैंने कम्युनिस्ट दर्शन पर निश्चित रूप से यहाँ के सभी कम्युनिस्ट नेताओं से कहीं अधिक पुस्तकों का गहरा अध्ययन किया है। उन पुस्तकों में कम्युनिस्ट दर्शन का स्वरूप चाहे जितना भी अच्छा हो, इस दर्शन को व्यावहारिकता की कसौटी पर उतारना होगा। यदि इस परिपेक्ष्य में कार्य किया जाएगा तो मुझे लगता है कि भारत में इसकी कामयाबी के लिए उतने श्रम और समय की आवश्यकता नहीं होगी जितनी रूस में आवश्यकता पड़ी थी। और मजदूर वर्ग के संघर्ष के संबंध में, मैं यह महसूस करता हूँ कि कम्युनिस्ट दर्शन हमारे बहुत करीब है।"[2]

इसलिए अम्बेडकर पूँजीवाद के खिलाफ और समाजवाद की स्थापना के लिए किए जाने वाले संघर्ष को ब्राह्मणवाद विरोधी मानते थे। अम्बेडकर मानते थे कि ब्राह्मणवाद की बुनियाद पर चोट किए जाने से साम्राज्यवाद को ध्वस्त करना बेहद आसान हो जाएगा। इसी तरह अगर दलित जातियों के सामाजिक चेतना के विकास से ही समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। असल में अम्बेडकर के यहाँ जो दलित वर्ग है, वही वास्तविक सर्वहारा वर्ग है। पूँजीवाद इन्हीं सर्वहारा वर्ग के शोषण से प्राप्त होने वाले मुनाफे पर आधारित होता है। दलित

[1] कँवल भारती, दलित - विमर्श की भूमिका, पृ. सं.128

[2] उद्धृत, गेल ओमवेट, अम्बेडकर, पृ. सं. 76

पूँजीवाद वर्ग और जाति दोनों ही स्तर के शोषण के प्रश्न को मिथ्या साबित करता है।

सुभाष गाताडे के अनुसार "दलित पूँजीवाद को इस वजह से भी चुनौती देने की आवश्यकता है कि वह अम्बेडकर की एक विकृत छवि पेश करता है । अम्बेडकर के चिंतन के पूँजीवादी विरोधी अंशों को दरकिनार करते हुए वह हमें कहना चाहता है कि अगर वह जिन्दा होते तो वह भी उनके हिमायती के तौर पर सामने आते।"[1] जबकि अम्बेडकर निजी संपत्ति के स्पष्ट रूप से विरोधी थे। "उनके मुताबिक बुद्धिज्म की तरह मार्क्सवाद ने भी निजी संपत्ति के उन्मूलन की हिमायत की, गरीबी को सामाजिक शोषण से जोड़ा और इसी दुनिया में सामाजिक पीड़ा से समाधान की बात की।"[2]

अम्बेडकर जाति व्यवस्था के संपूर्णतः उन्मूलन के साथ निजी संपत्ति के उन्मूलन के भी समर्थक थे। उनका स्पष्ट मानना था कि निजी संपत्ति, सामाजिक शोषण और सामाजिक पीड़ा को प्रोत्साहित करती है। इसलिए ब्राह्मणवाद के साथ पूँजीवाद का भी समान रूप से विरोध आवश्यक है। दलित पूँजीवाद, अम्बेडकर के विचारों के इस पक्ष का निषेध कर एक छद्म अम्बेडकरी विचारों को बढ़ावा देकर, चन्द दलित पूँजीपतियों के हित का समर्थक है । अम्बेडकर ने समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना के विकास को महज दलित वर्गों के लिए नहीं बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए आवश्यक माना था । इसलिए संपूर्ण मानवता के विकास में भागीदार बनने के लिए दलित विमर्श के विचारकों को दलित पूँजीवाद पर गंभीरता से विचार करना होगा । अम्बेडकर के पूँजीवादी विरोधी विचारों के आलोक में दलित पूँजीवाद पर विचार करना आवश्यक होगा।

5.1.5 दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न:

दलित विमर्श के अन्तर्गत दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न एक चुनौतीपूर्ण विषय रहा है। इस संदर्भ में हिंदी में ओमप्रकाश वाल्मीकि एवं मराठी में शरण कुमार लिम्बाले का प्रयास द्रष्टव्य है। परन्तु यह प्रयास प्रारंभिक स्तर के रूप में स्वीकृत है। सूर्यनारायण रणसुभे के अनुसार "स्मृतिशेष ओमप्रकाश वाल्मीकि ने

[1] सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं. 84

[2] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-7, 'बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स', पृ. सं. 349

इस दिशा में काम शुरू किया था। इस विषय पर उनकी एक पुस्तक भी प्रकाशित है। वह प्राथमिक स्वरूप की है। डॉ. शरण कुमार लिम्बाले ने भी इस दिशा में कदम उठाया था। इसकी शुरुआत तो की गई। इसको व्यापक रूप देने की, इस गहरे में जाकर खोज करने की जरूरत अब भी है।"[1]

सूर्यनारायण रणसुभे का मानना है कि अभी भी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाना शेष है । इन शुरूआती कार्यों के उपरांत किसी तरह का महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप, दलित विमर्श के अंतर्गत दिखाई नहीं देता । ओमप्रकाश वाल्मीकि का प्रयास प्राथमिक स्तर का होने के साथ कई सारे प्रश्नों को अनसुलझा ही रहने देता है।

मैनेजर पाण्डेय दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की सफलता, संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिमानों से मुक्त होने में देखते हैं । उन्होंने लिखा है, "दलित साहित्य का आंदोलन केवल साहित्यिक आंदोलन नहीं है । वह दलित समाज के जागरण, परिवर्तन और विकास से जुड़ा आंदोलन है । इसमें दलित समाज की राजनीतिक और सामाजिक आकांक्षाएँ साहित्य की भाषा में व्यक्त हो रही हैं । इसलिए वह हिंदी साहित्य की मुख्यधारा के उस सौंदर्यशास्त्र के वर्चस्व से मुक्त होना चाहता है जो संस्कृत के काव्यशास्त्र से जुड़ा है।"[2]

दलित साहित्य शुद्ध साहित्यिक प्रतिमानों का विरोधी साहित्य है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार मुख्यधारा के साहित्य का सौंदर्यशास्त्र मुख्यतः संस्कृत के काव्यशास्त्र पर आधारित है इसलिए दलित साहित्य उससे भी मुक्ति चाहता है । सौंदर्यशास्त्र का संबंध सिर्फ शैली से नहीं होता बल्कि वस्तु पक्ष एवं साहित्य सृजन की ठोस परिस्थितियों से जुड़ा होता है। दलित साहित्य इस बात का प्रमाण है कि सौंदर्यशास्त्र महज रसास्वादन से जुड़ा नहीं होता । इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का मत उल्लेखनीय जान पड़ता है। उनके अनुसार- "उन मापदंडों में भी परिवर्तन की आवश्यकता है, जो सामंती सोच के पक्षधर हैं, कुलीन घरानों के नायकत्व से आतंकित हैं। उनकी अभिलाषाएँ, उनकी आकांक्षाएँ ही यदि साहित्य

---

[1] बया, जनवरी-मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख-'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं. 15

[2] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 90-91

के सौंदर्यशास्त्र का निर्धारण करती हैं, तो ऐसा साहित्य मानवीय संवेदनाओं को कहाँ तक सँजो पाएगा, इसमें संदेह है।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार अब तक का सौंदर्यशास्त्र मुख्यतः कुलीन घरानों के सौन्दर्यबोध से निर्धारित होता है। समाज का जो प्रभु वर्ग है, उसका प्रभाव ही ज्यादा दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में मार्क्स-एंगेल्स ने 'जर्मन विचारधारा' में लिखा, "जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण होता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं।"[2]

अर्थात् प्रत्येक युग में प्रभु वर्ग की विचारधारा ही जनता की विचारधारा के रूप में दिखाई देती है। भौतिक उत्पादनों पर नियंत्रण होने के कारण वह जनता के बौद्धिक उत्पादन जैसे कला एवं साहित्य पर भी अपना प्रभाव जमा लेती है। इस तरह जन कलाओं का विकास न होकर अभिजन कलाओं एवं उसके सौंदर्यशास्त्र का ही विकास होता है। यही अभिजन सौंदर्यशास्त्र कलाओं का प्रतिमान बन जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिमानों को ही साहित्य का वास्तविक प्रतिमान मान लिया जाता है जबकि इस संदर्भ में लेनिन का स्पष्ट मानना था कि "कला जनता की थाती है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के बीच गहरी होनी चाहिए इसी जनता द्वारा उसे समझा और प्यार किया जाना चाहिए। उसे जनता की भावनाओं, विचारों और इच्छाओं को एकजुट करना और उदार बनाना चाहिए। उसे जनता की कर्मशीलता को जगाना चाहिए और उसके अंदर कलात्मक प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए।"[3]

अर्थात् कला या साहित्य को जन केन्द्रित बनाना आवश्यक है। ओमप्रकाश वाल्मीकि भी ऐसा ही चाहते हैं। जनता के द्वारा प्यार किए जाने वाले साहित्य का निर्माण सौंदर्यशास्त्र के कुलीन आधारों पर संभव नहीं है। ऐसे में यह स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य एवं उसके सौंदर्यशास्त्र का कार्य दलितों की भावनाओं, विचारों

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र - भूमिका, पृ. सं.11

[2] उद्धृत, कमला प्रसाद, मैनेजर पाण्डेय, ज्ञान रंजन (संपादक), मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं.6

[3] वही, पृ. सं. 12

और इच्छाओं को एकजुट करना और उदार बनाना भी है। तभी दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र सिर्फ साहित्यिक न होकर सामाजिक भी हो पाएगा।

दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को ओमप्रकाश वाल्मीकि समाजशास्त्रीय आधार पर निर्मित करने की अनुशंसा करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है, "सौंदर्यशास्त्र की विवेचना में 'सौन्दर्य', 'कल्पना', 'बिम्ब' और 'प्रतीक' को प्रमुख माना है विद्वानों ने जबकि सौंदर्य के लिए सामाजिक यथार्थ एक विशिष्ट घटक है। कल्पना और आदर्श की नींव पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता है। साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं। यदि कबीर आज भी प्रासंगिक लगता है तो वे सामाजिक स्थितियाँ ही हैं जो कबीर को प्रासंगिक बनाती हैं।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि कल्पना और आदर्श को साहित्य सृजन के लिए बिल्कुल अनावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही साहित्य की प्रासंगिकता को निर्धारित करती हैं। कबीर भी इन्हीं कारणों से प्रासंगिक हैं। साहित्य की सामाजिकता का प्रश्न यहाँ महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। निश्चित रूप से सामाजिक यथार्थ साहित्य सृजन का महत्त्वपूर्ण घटक है परन्तु सामाजिक यथार्थ की बहुलता, साहित्य को बोझिल और असंप्रेषणीय भी बनाती है। सिर्फ अम्बेडकर के विचारों और दलितों के दयनीय जीवन स्थिति को आधार बनाकर बहुत दिनों तक साहित्य सृजन नहीं किया जा सकता। दलित साहित्य का केन्द्र दलित हो सकते हैं पर उसका लक्ष्य सिर्फ दलित समुदाय नहीं हो सकता। साहित्य किसी विचारधारा का मुखपत्र नहीं होता। साहित्य संवेदनाओं से बनता है जो एक तरफ दमितों की संवेदनाओं को सृजनात्मक रूप देता है तो दूसरी तरफ शोषक वर्गों की छद्म संवेदनाओं की छद्मता को भी जाहिर करता है। इसी आधार पर वह कल्पनाओं का सहारा भी लेता है और एक आदर्श दुनिया भी रचता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने यह बिल्कुल ठीक लिखा है, "दलित साहित्य की भाषा, बिम्ब, प्रतीक, भावबोध परम्परावादी साहित्य से भिन्न हैं, उसके संस्कार

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं. 9-10

भिन्न हैं।"[1] इस से हम कबीर को देखें तो पाएँगे कि कबीर का संस्कार ही आज के दलित साहित्य का संस्कार है। कबीर ने अपने रचना कर्म में बिम्ब, प्रतीकों, रूपकों का खूब प्रयोग किया है । कबीर कल्पना का प्रयोग भी करते थे और एक समाजोन्मुखी आदर्श को बढ़ावा भी देते थे। एक तरह से हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र कबीर के साहित्य के आधार पर विकसित किया जा सकता है जहाँ वैकल्पिक साहित्य एवं उसके सौंदर्यशास्त्र के पर्याप्त तत्व विद्यमान हैं।

मैनेजर पाण्डेय दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र को प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र मानते हैं। उन्होंने लिखा, "कोई भी सौंदर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौंदर्यशास्त्र तो और भी नहीं।...दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना संस्कृति, विचारधारा और दलित साहित्य पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।"[2]

मैनेजर पाण्डेय सौंदर्यशास्त्र के निर्माण को एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम मानते हैं। इसके लिए वह दलित समाज की चेतना, संस्कृति और विचारधारा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। साहित्य तो इन सारे तत्वों के सम्मिलन और टकराव का ही परिणाम होता है । इस प्रक्रिया से गुजरकर ही साहित्य अपने सौंदर्यशास्त्र का निर्माण कर सकता है। एक लम्बी प्रक्रिया के अंतर्गत कई सारे तत्व जुड़ते-छूटते जाते हैं और सौंदर्यशास्त्र-निर्माण की प्रक्रिया चलती रहती है।

मैनेजर पाण्डेय का स्पष्ट मानना है कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अभिजनवादी सौंदर्यशास्त्र से अलग होगा। साथ ही वह यह भी मानते हैं कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अभी निर्माण की प्रक्रिया में है। उनके अनुसार "अभी तो दलित साहित्य में ऐसा साहित्य नहीं दिखाई देता जो अभिजनवादी सौंदर्यशास्त्र के सामने प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र विकसित करता हो। जरूरत इस बात की है कि संरचना के बारे में, संस्कृति के बारे में, यहाँ तक कि साहित्य के बारे में, उस तरह सवाल करें जैसे सवाल कबीर किया करते थे।"[3]

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. सं. 10

[2] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं.91

[3] वही, पृ. सं.25

दलित साहित्य जाति-मुक्ति का समर्थक है । दलित साहित्य का उदय जातिवादी एवं अभिजनवादी मान्यताओं के विरोध के आधार पर हुआ है। अभिजन समाज और दलित समाज का सच अलग है और साहित्य भी । इसलिए अभिजनवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिरोध के आधार पर ही दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास संभव होगा। मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि अभी दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास होना शेष है। इस संदर्भ में पी.एन.सिंह दलित साहित्य में विद्यमान दोहराव की प्रवृति की तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं। पी. एन. सिंह ने लिखा है, "हिन्दी दलित साहित्यकार यह भी भूलता-सा लगता है कि मौलिकता, दरअसल, कथ्यात्मक, अन्वेषण, शिल्प की नवता और अभिव्यक्ति की क्षमता में निहित है। ...बार-बार एहसास होता है कि दलित साहित्य अब कथ्यात्मक थकान का शिकार है। संभवतः 'स्वानुभूति' में सिकुड़े रहने का यह परिणाम है। इस लक्ष्मण-रेखा ने अन्यों के अनुभवों एवं संवेदनशीलताओं के प्रति इसे उदासीन बनाया है।"[1]

पी. एन. सिंह का मानना है कि दलित साहित्य दोहराव का शिकार हो रहा है और इसमें मौलिकता का अभाव दिखाई पड़ता है । इसके पीछे वह दलित साहित्य को 'स्वानुभूति' तक ही सीमित करने को मानते हैं। दलित साहित्य से वह नए कथ्यात्मक अन्वेषण की अपेक्षा रखते हैं जिसमें शिल्पगत नवीनता एवं अभिव्यक्ति की नई क्षमताएँ शामिल हों । शिल्पगत नवीनता की माँग परंपरागत सौंदर्यशास्त्रीय के अनुसरण मात्र की मांग नहीं है । दलित साहित्य अब अपनी किशोरावस्था से बाहर आ चुका है। इसके रचनाकार भी अब रचनात्मक स्तर पर प्रौढ़ हुए हैं । ऐसे में उसे अपने प्रारंभिक अवस्था की रचनाओं से शिल्प एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर ज्यादा सशक्त होना है । इसकी कमी पी. एन. सिंह को समकालीन दलित साहित्य में दिखाई पड़ती है। दलित साहित्य से वह अन्यों की संवेदनशीलता से जुड़ते हुए समावेशी होने की भी अपेक्षा रखते हैं, जिसके अभाव में दलित साहित्य का परिदृश्य उन्हें संकुचित होता जान पड़ता है।

इसी संदर्भ में पी. एन. सिंह विधागत प्रश्नों को भी उठाते हैं। उनका मानना है कि 'स्वानुभूति' की लक्ष्मण-रेखा ने दलित साहित्य को विधा के स्तर पर भी संकुचित किया है । उन्होंने लिखा है, "आश्चर्य नहीं, इसकी उपलब्धि का दायरा छोटी कविताएँ, कहानियाँ और आत्मकथाओं तक सीमित है। दलितवादी साँचे में

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. सं. 21

उपन्यास, नाटक एवं प्रबंध-काव्य जैसी विधाओं में अभी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बहुत कम हैं। उपन्यास और नाटक के लिए कल्पना और अनुभव का जो विस्तीर्ण फलक और निर्वैयक्तिकता चाहिए वह अभी इसके पास नहीं है।"[1]

पी. एन. सिंह के अनुसार दलित साहित्य का छोटी कविताओं, कहानियों एवं आत्मकथा विधा तक ही सीमित रहना कल्पना के अनुभव के संकुचित होने का परिणाम है। जबकि कई दलित चिंतक कल्पना को साहित्य रचना के लिए सर्वथा अनुचित मानते हैं। कल्पना की जगह वह यथार्थ-चित्रण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। पी. एन. सिंह का मानना है कि दलित साहित्य को अपनी विधागत एकरूपता का अतिक्रमण करना होगा। इसके अभाव में दलित साहित्य सिर्फ एक समुदाय विशेष का साहित्य बन कर रह जायेगा। वह दलित साहित्य के अंतर्गत निर्वैयक्तिकता का भी प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार उपन्यास, नाटक आदि विधाओं के अभाव का एक कारण यह भी है। इस कारण दलित रचनाकार सिर्फ दलितों की समस्याओं तक ही अपने आप को सीमित कर लेते हैं जबकि समाज में अन्य दलित-शोषित वर्ग भी मौजूद हैं। पी. एन. सिंह दलित साहित्य से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी विधागत संकुचन का उदारता एवं पूरी प्रतिबद्धता के साथ विस्तार करे।

पी. एन. सिंह दलित विमर्श की एक और सीमा का उल्लेख करते हुए दलित विमर्श को 'विशुद्ध जाति नैतिकता' से बाहर आने का विचार प्रस्तावित करते हैं। उनके अनुसार "विशुद्ध वर्ग-नैतिकता कभी नैतिक नहीं हो सकती। यही बात जाति-नैतिकता के बारे में भी सच है।"[2] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए इसी संदर्भ में वह आगे लिखते हैं, "रूस एवं अन्य देशों में श्रमिक सत्ता के बलबूते श्रमिक विश्व-बोध को राष्ट्र-बोध के रूप में स्थापित करने की पुरजोर कोशिशें हुईं, लेकिन अन्ततः उसके विरूद्ध विद्रोह हो गया, क्योंकि समाज केवल श्रमिकों का नहीं होता। इसी प्रकार भारतीय समाज भी केवल दलितों का समाज नहीं बन सकेगा और इसी कारण दलित-बोध भी राष्ट्र-बोध का रूप नहीं ले पायेगा।"[3]

इन सारे प्रश्नों से दलित साहित्यकारों एवं विमर्शकारों को गुजरना होगा। सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की चुनौती, एक बड़ी चुनौती है। इसलिए न सिर्फ आलोचना

---

[1] पी. एन. सिंह, अम्बेडकर, चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, पृ. सं. 21-22

[2] वही, पृ. सं. 84

[3] वही, पृ. सं. 84

के स्तर पर बल्कि रचना के स्तर पर भी इन सारे सवालों के जवाब अपेक्षणीय हैं। यह सिर्फ दलित साहित्य ही नहीं बल्कि हिंदी साहित्य के विकास एवं प्रासंगिकता के लिए भी आवश्यक है क्योंकि "अलग सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना से हिंदी साहित्य का विघटन नहीं विस्तार होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।"[1]

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र -भूमिका, पृ. सं. 11

5.2 स्त्रीवाद की चुनौतियाँ

हिन्दी में स्त्रीवाद ने साहित्य एवं आलोचना दोनों को प्रभावित किया है। स्त्रीवाद ने सिर्फ साहित्य को व्यापकता प्रदान नहीं किया बल्कि समाज में आलोचनात्मक चेतना का भी विकास करने का प्रयास किया है। साहित्य और समाज के बीच की दूरी को समाप्त करने का प्रयास इसके अंदर दिखाई पड़ता है। पूरनचंद्र जोशी के अनुसार "स्त्रीवाद का सबसे सकारात्मक पक्ष यह है कि वह स्त्री की मुक्ति का प्रश्न परिवार में स्त्री-पुरुष के संबंध के स्तर से उठाता है और वहाँ से समाज और राज्य तक जो पितृसत्ता हावी है, उसके उन्मूलन की माँग तक ले जाता है।"[1] यह स्त्रीवाद का सबसे सकारात्मक पहलू है कि वह परिवार से शुरू होकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध तक जाता है। जिस तरह दलित विमर्श का उद्देश्य जातिवाद का समूल नाश है उसी तरह पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उन्मूलन स्त्रीवाद का लक्ष्य है। पितृसत्ता के सभी रूपों का निषेध एवं उसकी समाप्ति इसका उद्देश्य है। स्त्रीवाद परिवार से लेकर व्यवस्था तक स्त्री-पुरुष संबंधों में समरूपता एवं बराबरी का हक चाहता है। इसके बावजूद स्त्रीवादी लेखन एवं आलोचना के समक्ष कई सारी चुनौतियाँ आज भी मौजूद हैं। पूरनचंद्र जोशी इस संदर्भ में लिखते हैं, "स्त्रियों के सामने अपने मुक्ति आंदोलन को आगे बढ़ाने की वस्तुगत परिस्थितियाँ तो मौजूद हैं, लेकिन वे अपनी कतिपय आत्मगत कमजोरियों के चलते उनका पूरा लाभ नहीं उठा पा रही हैं। शायद यही कारण है कि स्त्रियों का आंदोलन एक प्रकार के 'कंजर्वेटिव बैकलेश' (रूढ़िवादी प्रतिपक्ष) का शिकार हो रहा है जो उसकी अब तक की उपलब्धियों का भी निषेध करने पर उतारू है।"[2]

पूरनचंद्र जोशी स्त्री आंदोलन में स्त्रीवादियों की आत्मगत कमजोरियों को एक बड़े अवरोध के रूप में स्वीकार करते हैं। जिन कारणों से स्त्रीवाद का आंदोलन खड़ा होता है, कतिपय उन्हीं कमजोरियों का शिकार होता स्त्रीवाद दिखाई पड़ता है। ऐसे में आत्मालोचन एवं गहरे पुनर्विचार की जरूरत स्त्रीवाद के लिए आवश्यक जान पड़ता है।

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, पूरनचंद्र जोशी का लेख - स्त्री को एक श्रमिक के रूप में भी देखना चाहिए, पृ.सं. 29

[2] वही, पृ.सं. 27

5.2.1 वर्ग एवं जाति का प्रश्न :

स्त्रीवाद के अंतर्गत 'अन्तर्राष्ट्रीय बहनापे' के विचार को विशेष महत्त्व प्राप्त है। यह सच भी है कि हर वर्ग की स्त्रियाँ किसी-न-किसी रूप में पितृसत्ता के शोषण का शिकार होती रही हैं यद्यपि सभी वर्ग एवं जातियों की स्त्रियों का दुःख एक ही प्रकृति का नहीं होता। जिस तरह भारतीय समाज विभिन्न वर्गों एवं जातियों में विभाजित है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी विभिन्न वर्गों एवं जातियों में विभाजित हैं। ऐसे में इस यथार्थ का निषेध कर 'अन्तर्राष्ट्रीय बहनापे' का विकास नहीं किया जा सकता। कमला भसीन के अनुसार "...स्त्रियाँ अलग से एक वर्ग नहीं हैं। इसका मतलब है कि हर औरत का हित हमेशा एक हो ऐसा नहीं है। एक मजदूर औरत का हित एक जमींदार की बीवी से अलग है। पूँजीपति वर्ग की औरत के लिए आज का पूँजीवादी ढाँचा फायदेमंद है जबकि सर्वहारा औरत इसी ढाँचे के तले पिस रही है।"[1]

स्त्रीवाद को इस चुनौती को हल करने का प्रयास करना होगा। मजदूर और दलित औरत के दुःख को उसी तरह से नहीं समझा जा सकता है जिस तरह से उच्च कही जाने वाली जातियों के संपन्न औरतों के दुःख को समझा जाता है। इस चुनौती को हल करने के क्रम में 'अन्तर्राष्ट्रीय बहनापे' का निर्माण भी करना है। स्त्रीवादी चिंतको को जाति एवं वर्ग को महत्त्व देते हुए स्त्रीवाद का विकास करना होगा। समाज के यथार्थ से कटकर न किसी साहित्य या विचार का विकास हो सकता है और न ही उसकी आलोचना पद्धति का।

पितृसत्ता का विरोध एवं उसके खिलाफ एकजुट संघर्ष करना स्त्रीवाद का प्राथमिक उद्देश्य है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आज का स्त्रीवाद पितृसत्ता-विरोधी संघर्ष तक ही सीमित नहीं रह सकता। विभिन्न जातियों, वर्गों एवं समुदायों में बँटी स्त्रियों की समस्याओं को समझना एवं उसे हल करने का प्रयास करना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में उमा चक्रवर्ती का यह कथन द्रष्टव्य है, "पितृसत्ता एक प्रकार की असमानता का ढाँचा है, लेकिन वह वर्ग और जाति की असमानताओं से निरपेक्ष नहीं है। उन असमानताओं को भुलाकर अगर हम सोचें कि केवल पितृसत्ता का विरोध करके या उसे उखाड़ फेंकने से हम सब तरह की

[1] कमला भसीन, निघत सईद खान, नारीवाद यह आख़िर है क्या ?, पृ. सं. 46

असमानताओं से या स्त्रियों के साथ किये जाने वाले भेदभाव से मुक्त हो जायेंगे, तो यह एक गलत समझ है।"[1]

उमा चक्रवर्ती यह मानती हैं कि पितृसत्ता भी वर्ग और जाति-सापेक्ष व्यवस्था है। इसलिए सिर्फ पितृसत्ता विरोध, स्त्रीवाद का लक्ष्य नहीं हो सकता। जाति और वर्ग का प्रश्न पितृसत्तात्मक व्यवस्था को भारतीय परिप्रेक्ष्य में ज्यादा जटिल बनाता है। मार्क्सवादी विचारधारा का व्यापक रूप में सफल न हो पाना, इस जटिलता को नहीं समझ पाने का ही परिणाम है। भारतीय मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष में ही जातिगत एवं लिंगगत असमानताओं की समाप्ति देखते रहे। जाति एवं स्त्री-प्रश्न को पर्याप्त महत्त्व न दे पाने की वजह से मार्क्सवादी विचारधारा का भारत में बहुत नुकसान हुआ। इसलिए स्त्रीवाद को समस्त समाज एवं उसके अंतर्गत विद्यमान सभी तरह की असमानताओं को ध्यान में रखना होगा।

पितृसत्ता का सवाल जाति एवं वर्ग पर आधारित असमानताओं से जुड़ा होता है। इसलिए पितृसत्ता के विरोध का संघर्ष व्यवस्था को परिवर्तित करने से जुड़ा है। पूरनचंद्र जोशी इस संदर्भ में नारीवाद की सीमाओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि पितृसत्ता और उससे जुड़ी हुई ऐसी तमाम समस्याएँ समाज के मूल ढाँचे यानी वर्ग और जाति से संबंधित समस्याएँ हैं और इन्हें हल करने के लिए उस मूल ढाँचे को बदलना जरूरी है। इस प्रकार स्त्रीवाद आरंभ में एक सकारात्मक भूमिका निभाने के बाद केवल पुरुष-वर्चस्व का विरोध करते रहने की अंधी गली में प्रवेश कर गया और व्यवस्था परिवर्तन के लक्ष्य से कट गया।"[2]

भारतीय समाज का मूल ढाँचा वर्ग एवं जाति आधारित है। स्त्रियों का शोषण इसलिए तिहरा हो जाता है। एक स्वयं उनके स्त्री होने के कारण ऐसा होता है, जिसे जाति एवं वर्ग आधारित शोषण तत्कालीन व्यवस्था के अंतर्गत वैधता प्रदान करते हैं। समाज का यह मूल ढाँचा स्त्रियों के शोषण के लिए विशेष रूप से जिम्मेदार है। इस मूल ढाँचे को चुनौती दिए बिना स्त्री के अधिकारों के संघर्ष को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके अभाव में ही स्त्रीवाद महज पुरुषसत्ता के विरोध में उलझा नजर आता है। पुरुष-वर्चस्व के वर्गीय एवं जातिगत आधारों की पहचान एवं उसका

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा) , आज का स्त्री आंदोलन, उमा चक्रवर्ती से रमेश उपाध्याय की बातचीत,पृ.सं. 17

[2] वही, पूरनचंद्र जोशी का लेख - स्त्री को एक श्रमिक के रुप में भी देखना चाहिए, पृ.सं. 30

विरोध ज्यादा आवश्यक है। "इसलिए हमारे समाज के संदर्भ में पितृसत्ता-विरोधी स्त्री आंदोलन के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह 'सेक्स' और 'जेंडर' के सवालों को जाति और वर्ग से काटकर नहीं, बल्कि जोड़कर समझे।"[1]

5.2.2 दलित स्त्रीवाद का प्रश्न :

दलित स्त्रीवाद दलित विमर्श एवं स्त्रीवाद के अंतर्गत दलित-स्त्रियों की उपेक्षा का परिणाम है। दलित स्त्रीवादियों का मानना है कि दलित विमर्श के अंतर्गत दलित स्त्रियों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया, वहीं दूसरी तरफ स्त्रीवाद भी संपन्न एवं 'उच्च जाति' की महिलाओं का मंच बना रहा। इसलिए दलित स्त्रीवादियों ने दलित महिलाओं के प्रश्नों को सामने रखने का प्रयास किया। दलित स्त्रीवाद पितृसत्ता की आलोचना करने के साथ यह स्पष्ट मानता है कि दलित स्त्रियों के शोषण एवं उत्पीड़न का मुख्य कारण उनका जाति से दलित होना है। इस संदर्भ में अनिता भारती लिखती हैं, "दलित नारीवाद मानता है कि दलित स्त्री के प्रति भेदभाव या उसकी हीन-स्थिति और उत्पीड़न का कारण उसका दलित होना है। जबकी अन्य स्त्रियों के साथ स्त्री होना ही काफी है। दलित स्त्री होने के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा सामाजिक हिंसा का क्रूरतम रूप उसके खिलाफ निकलकर आता है।"[2]

दलित स्त्रीवाद यह मानता है कि दलित स्त्रीवाद का विकास अम्बेडकर के विचारों से प्रेरित है। अर्थात् अम्बेडकर के विचारों के आलोक में ही स्त्रियों के बहुस्तरीय शोषण को समझने का प्रयास, दलित स्त्रीवाद करता है। इस संदर्भ में तेज सिंह का मानना है, "बहुजन समाज में स्त्री-चिंतन अंबेडकरवादी चिंतन की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है।"[3] इस संदर्भ में अनिता भारती के विचार भी तेज सिंह से मिलते हैं। इस संदर्भ में प्रणय कृष्ण भी लिखते हैं, "ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शोषण के साझा शिकार के रूप में स्त्री और दलित की साझा मुक्ति की परिकल्पना फुले और अम्बेडकर दोनों में पाई जाती है।"[4]

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा) , आज का स्त्री आंदोलन, पूरनचंद्र जोशी का लेख - स्त्री को एक श्रमिक के रुप में भी देखना चाहिए, पृ.सं. 33

[2] अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ.सं. 9

[3] तेज सिंह (संपा), अम्बेडकरवादी स्त्री चिंतन, पृ.सं. 11 (भूमिका)

[4] प्रणय कृष्ण, उत्तर औपनिवेशिकता के स्त्रोत और हिन्दी साहित्य, पृ.सं. 323

ऐसे में स्त्रीवाद के सामने एक गहरी चुनौती दलित स्त्रीवाद के प्रश्नों को समझने और साझे तरीके से उसे हल करने की है। अम्बेडकर ने जिस तरह से स्त्री प्रश्नों को उठाया एवं उसके संबंध में विचार रखे, उसे भी सामने लाने की चुनौती स्त्रीवाद के सम्मुख होगी। स्त्री मुक्ति आंदोलन के लिए अम्बेडकर के विचारों को स्त्रीवाद किस रूप में देखता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हिन्दी में अभी तक तो दलित चिंतकों ने ही इस संदर्भ में अंबेडकर के विचारों को महत्त्वपूर्ण माना है। मुख्यधारा के स्त्रीवाद में अंबेडकर के स्त्री संबंधी विचारों को पर्याप्त महत्त्व अभी तक नहीं मिल पाया है।

दलित और सवर्ण स्त्रीवाद का विभाजन स्त्रीवाद के लक्ष्यों के प्रतिकूल है। इससे न पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उन्मूलन हो पाएगा और न ही समस्त जातियों एवं वर्गों की स्त्रियों में बहनापे का विकास हो पाएगा। विमल थोरात इस संदर्भ में लिखती हैं, "...जाति-वर्ण के आधार पर उत्पीड़ित स्त्री जो दलित और आदिवासी जन्मना अछूत और परिवेश के आधार पर दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ दी गई है उसके परिवेशगत, संस्कृतिगत और जातिगत शोषण को भी नारीवाद द्वारा रेखांकित करके संघर्ष के मुद्दों में शामिल करना पड़ेगा, तभी तिहरे शोषण की समाप्ति का कोई आसार नजर आएगा।"[1]

विमल थोरात पितृसत्ता विरोध को समकालीन नारीवाद की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानती हैं। इसके साथ ही वह चाहती हैं कि स्त्रीवाद समाज के जटिल संरचना को ध्यान में रखकर अपना विकास करे। स्त्रीवाद के सामने यह एक बहुत बड़ी चुनौती है। आदिवासी एवं दलित स्त्रियों की उपस्थिति समकालीन स्त्रीवाद में बहुत कम है। विभिन्न वर्गों एवं समुदायों के स्त्रियों के परिवेश, संस्कृति और जाति की उपेक्षा भी समकालीन स्त्रीवाद में दिखाई पड़ता है। इसी कारण दलित स्त्रीवादी, समकालीन स्त्रीवाद को संपन्न एवं मध्यवर्गीय स्त्रियों की समस्याओं तक सीमित मानती हैं। दलित नारीवादियों का यह सबसे बड़ा आरोप रहा है। अनिता भारती के अनुसार "दरअसल भारत में अब तक नारीवादी आंदोलनों और उनकी वैचारिकी का प्रतिनिधित्व अभिजात्य और शिक्षित सवर्ण महिलाओं का ही रहा है।"[2] इनका मानना है कि इसी कारण सभी स्त्रियों में 'यूनिवर्सल सिस्टरहूड' का विकास नहीं हो पाया है। विमल थोरात इस संदर्भ में लिखती हैं, "नारीवाद को दलित आदिवासी

---

[1] विमल थोरात, दलित-साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ.सं. 85

[2] अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ.सं. 8

नारी उत्पीड़न को खत्म करने के लिए इस विमर्श के माध्यम से वृहत्तर बहनापे की संकल्पना करना पड़ेगा अन्यथा मध्यवर्गीय स्त्री की समस्याओं तक इसके सीमित होने का खतरा मोल लेना पड़ सकता है।"[1]

स्त्रीवाद को इस चुनौती को समझते हुए इसके निराकरण की कोशिश करनी होगी। जब सभी स्त्रियाँ शोषण का शिकार हैं तब स्त्रीवाद कुछ वर्गों एवं जातियों की स्त्रियों तक स्वयं को कैसे सीमित कर सकता है। समाज के समस्त शोषित एवं वंचित स्त्रियों के कल्याण की भावना को केंद्र में लेकर चलना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रीवाद मुक्ति का एक सपना है। इस मुक्ति के सपने को साकार करने के लिए जाति जैसी जटिलता को समझना एवं उसका विरोध करना अत्यंत अनिवार्य है।

दलित स्त्रीवाद समकालीन स्त्रीवाद के सामने देह विमर्श के सामाजिक पक्ष का प्रश्न भी सामने रखता है। अनिता भारती लिखती हैं, "देह विमर्श के सामाजिक पक्ष की पूर्ण अवहेलना की गई। स्त्री देह का उत्पीड़न और शोषण केवल यौन संदर्भों तक सीमित रहा। इसमें कोई शक नहीं कि यौन शोषण सबसे ज्यादा दलित स्त्रियों की ही त्रासदी रही।"[2] इसके साथ ही अनिता भारती दलित महिलाओं की मजदूरी की समस्या का भी प्रश्न उठाती हैं, जो कथित मुख्यधारा के संदर्भों तक ही सीमित रहा। दलित स्त्रियों को डायन बताकर उनके अपने एवं गैर दलित समाज द्वारा लगातार प्रताड़ित किया जाता रहा है। अनिता भारती का मानना है कि मुख्यधारा का महिला आंदोलन इन सारे प्रश्नों पर मौन है। इसी कारण वह दलित नारीवाद को जरूरी मानती हैं।

समकालीन स्त्रीवाद के सामने चुनौती है कि वह इन सारे प्रश्नों को हल करने का प्रयास किस रूप में करता है। स्त्रीवाद के उद्देश्यों को वास्तविक रूप में समाज सापेक्ष बनाने के लिए इन सारे प्रश्नों का हल आवश्यक प्रतीत होता है।

5.2.3 भूमंडलीकरण और स्त्री प्रश्न :

प्रारंभ में यह समझा गया कि भूमंडलीकरण वंचित तबकों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा परंतु आज सच्चाई उसके विपरीत दिखाई पड़ती है। भूमंडलीकरण ने शोषित एवं वंचित तबकों के शोषण की प्रक्रिया को तीव्र ही किया है। अमीर और ज्यादा अमीर और गरीब और ज्यादा गरीब हुए हैं। इससे स्त्रियों की

---

[1] विमल थोरात, दलित-साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृ.सं. 85

[2] अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृ.सं. 10

दशा और भी दयनीय हुई है। 'आज का स्त्री आंदोलन' के संपादक यह लिखते हैं, "पूँजी के भूमंडलीकरण तथा उससे जुड़ी हुई निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रियाओं के चलते देशों के बीच और देशों के अंदर वर्गों के बीच असमानता तेजी से बढ़ रही है। राज्य की कल्याणकारी भूमिका ही नहीं, बल्कि गरीबों और समाज के कमजोर तबकों के हित में उसकी हस्तक्षेपकारी भूमिका भी उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। इन चीजों से स्त्रियाँ सबसे ज्यादा प्रभावित हो रही हैं तथा होने वाली हैं।"[1]

प्रत्येक स्थितियों में स्त्रियों के ऊपर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। विश्वभर में भूमंडलीकरण के प्रभाव से युद्धों की संख्या में लगातार बढ़ोतरी हुई है। इससे कमजोर देशों की जनता बुरी तरह से प्रभावित हुई है परंतु उनमें स्त्रियों की स्थिति ज्यादा दयनीय है। इसी तरह वर्गों में बढ़ती असमानता ने निम्न वर्ग को ज्यादा उत्पीड़ित होने के लिए बाध्य किया है तो उसमें भी स्त्रियों की स्थिति ज्यादा खराब हुई है। राज्य के कल्याणकारी भूमिका का दिनोंदिन सिमटते जाना भी कमजोर तबकों और विशेषकर स्त्रियों के लिए समस्या को ज्यादा जटिल और चुनौतीपूर्ण बनाता है। ऐसे में इस पूरी परिस्थिति में स्त्रीवादी दृष्टिकोण की उपयोगिता को साबित करना एक बड़ी चुनौती होगी। यहाँ पुरुषसत्ता कोई एकहरी व्यवस्था नहीं है। इसके विभिन्न रूपों की पहचान भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक है।

पितृसत्ता को चुनौती देना और उसको खत्म करना स्त्रीवाद का प्रमुख उद्देश्य है। उसे स्त्रीवाद ने चुनौती दी है किन्तु मुकम्मल चुनौती भूमंडलीकरण के प्रभावों को समझे बिना नहीं दिया जा सकता। इस संदर्भ में उर्वशी बुटालिया का विचार है, "असली फर्क तो तब पड़ेगा जब पितृसत्ता टूटेगी। लेकिन वह तो अनेक रूपों में बनी हुई है, बल्कि मजबूत होती जा रही है। उसका सबसे नया और सबसे ज्यादा मुश्किल से पहचान में आनेवाला रूप भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में सामने आ रहा है। इससे जो उपभोक्तावाद बढ़ा है, वह स्त्रियों पर पुरुषों के आधिपत्य को बढ़ा रहा है। इससे रोजगार के अवसर कम हुए हैं और सरकारी नौकरियाँ न मिलने से स्त्रियों को निजी क्षेत्र की नौकरियाँ करनी पड़ रही हैं। इससे भी पितृसत्ता मजबूत होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि भूमंडलीकरण के साथ-साथ जो

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, प्रस्तावना, पृ.सं. 7

धार्मिक मूलवाद, बहुसंख्यवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद वगैरह बढ़ रहा है, उससे स्त्रियों पर पुरुषों का प्रभुत्व बहुत बढ़ रहा है।"[1]

इस पूरे परिप्रेक्ष्य में स्त्रीवाद को अपने आपको विकसित करना पड़ेगा। ऐसे में आवश्यकता पड़ने पर स्त्रीवाद के सिद्धातों की पुनर्परीक्षा भी करनी पड़ेगी। भूमंडलीकरण ने स्त्रियों की स्थिति को जटिल बना दिया है। पुरुष सत्ता का स्वरूप भी बहुस्तरीय हो गया है। एक तरफ भूमंडलीकरण से प्रभावित स्त्री समुदाय है। संपन्न स्त्रियों का एक वर्ग है जिन के लिए भूमंडलीकरण ने विश्व भर के सारे दरवाजे खोल दिए। शिक्षा, रोजगार, आजीविका सभी क्षेत्रों में महिलाओं के प्रवेश का रास्ता भूमंडलीकरण ने खोला। जिसमें संपन्न स्त्रियों के साथ यदा-कदा पिछड़े तबके की स्त्रियों को भी सफलता मिली। इससे पितृसत्ता बहुपरतीय बनी है। पितृसत्ता का वह रूप स्पष्टतया नहीं दिखता जो भूमंडलीकरण के प्रभाव से विकसित होता रहा है। स्त्रियों के अंदर भी पितृसत्ता ने अपना प्रभाव बढ़ाया है। इससे स्त्रीवाद का संघर्ष भी जटिल हुआ है। इस समस्या को हल करने का प्रयास स्त्रीवादी किस रूप में करते हैं, यह देखना महत्त्वपूर्ण होगा। स्त्रियों के शोषण का रूप भी बदला है। पहले जहाँ उनके शोषण की इकाईयाँ स्पष्ट थीं अब वह भी कई रूपों में विभक्त हो गया है। उनके कई नए रूप भी सामने आए हैं। स्त्रीवाद को इन सारे रूपों की पहचान करने का अत्यंत दुष्कर कार्य संपादित करना अनिवार्य होगा। तभी सही अर्थों में पितृसत्ता को चुनौती मिल पाएगी।

इस संदर्भ में चारू गुप्ता के मत को भी देखना आवश्यक है। वह लिखती हैं, "इधर भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों से स्त्रियों के रोजगार की सुरक्षा, उनके यूनियन बनाने जैसे सामुदायिक अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। स्त्रियों पर भूमंडलीकरण का असर यह है कि गरीबी का स्त्रीकरण हुआ है और श्रम शक्तियों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है।"[2]

कोई भी समाज सामुदायिक अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा के अभाव में सही अर्थों में विकसित नहीं बन सकता। स्त्री की सामाजिक सुरक्षा और अधिकारों के प्रभाव में तो यह और भी मुश्किल है। भूमंडलीकरण के प्रभाव की यह त्रासदी है कि एक तरफ श्रम शक्तियों में स्त्रियों की संख्या बढ़ी है तथापि स्त्रियाँ और ज्यादा

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन उर्वशी बुटालिया का लेख - 'पितृसत्ता के भूमंडलीकृत रूप को समझना जरूरी है', पृ.सं. 42

[2] वही, चारू गुप्ता का लेख - 'भूमंडलीकरण से स्त्रीवादी राजनीति बदल रही है', पृ.सं. 49

गरीब हुई हैं। यह किसी भी स्वस्थ समाज के लिए प्रतिकूल परिस्थिति है। गरीबी के स्त्रीकरण की प्रवृत्ति की विशद पहचान और इसके खिलाफ संघर्ष करना, समकालीन स्त्रीवाद का आवश्यक कार्य प्रतीत होता है।

ऐसा नहीं है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से कमजोर होती स्त्रियों के कारण स्त्रीवाद भी कमजोर हुआ है। यह जरूर है कि समस्या जटिल है परंतु इसके खिलाफ संगठित होने का प्रयास भी दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में चारू गुप्ता लिखती हैं, "वास्तव में भूमंडलीकरण से स्त्रीवादी राजनीति का मूल विमर्श बदल रहा है। स्त्री मुक्ति आंदोलन कई प्रकार से इन नयी स्थितियों में नयी शक्ल ले रहा है। ...आज स्त्रियाँ पर्यावरण और प्रजनन अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही हैं, वे गरीबी और भेदभाव के खिलाफ आवाज उठा रही हैं, वे ढाँचागत समायोजन कार्यक्रमों से पैदा हुई असमानताओं के खिलाफ लड़ रही हैं और नागरिक अधिकारों के लिए भी लड़ रही हैं।"[1]

स्त्रीवाद के सामने यहाँ चुनौती इन सारे संघर्षों को एकजुट करने एवं साझा मंच प्रदान करने की होगी। हिन्दी का स्त्रीवाद अभी भी इस तरह के आंदोलनों से नहीं जुड़ पाया है। स्त्रीवाद के सामने इन आंदोलनों के साथ सार्थक रिश्ता बनाने की एक बड़ी चुनौती है। इन आंदोलनों से प्रभावित होने के साथ उनके संघर्षों को आगे बढ़ाना भी आवश्यक है।

5.2.4. मर्दवाद की अवधारणा का प्रश्न :

पहले सामंतवाद और फिर पूँजीवाद समर्थक पितृसत्ता ने मर्दवाद की धारणा को बहुत संजीदगी से निर्मित किया है। भूमंडलीकरण के इस दौर में जहाँ पितृसत्ता पहले से कहीं ज्यादा मजबूत और जटिल हुई है। ऐसे में उसका प्रभाव मर्दवाद की अवधारणा पर भी पड़ा है। मर्दवाद की अवधारणा के खिलाफ स्त्रीवादी रचनाकारों एवं चिंतकों ने प्रारंभ से ही संघर्ष किया है। आज उस संघर्ष को ज्यादा तीव्र और धारदार बनाने की जरूरत है। मर्दवाद के कारण ही स्त्री और पुरुष के बीच मिथ्या विभाजन किया गया। इसी कारण कई बार स्त्रियों द्वारा पुरुष जैसा बनने को मुक्त होना समझ लिया जाता है। सिमोन द बोउवार ने बिल्कुल सही लिखा कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, उसे बनाया जाता है'। स्त्रियों को पुरुष जैसा बनने

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, चारू गुप्ता का लेख - भूमंडलीकरण से स्त्रीवादी राजनीति बदल रही है, पृ.सं. 49

की प्रेरणा भी पुरुषसत्तात्मक समाज ही देता है । पुरुष जैसा होने का मतलब है समाज में कथित रूप से शक्ति संपन्न होना, समाज में सम्मान का अधिकारी होना। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि मर्द भी मुक्त नहीं होता । वीर भारत तलवार लिखते हैं, "मर्द को मुक्त समझना और मर्द के जैसा बनने की कोशिश करना नारीवाद नहीं है। मर्दवाद अपने आप में घृणित चीज है।"[1]

मर्दवाद की अवधारणा को संपूर्णता में न समझ पाने के कारण ही आज भी कई स्त्रियाँ इसकी शिकार हैं । मर्दवाद, स्त्री-पुरुष असमानता को ज्यादा भीषण बनाता है। मर्दवाद स्त्रियों को प्रकारांतर से पितृसत्ता के अधीन बनाए रखने की ही एक व्यवस्था है। मर्दवाद स्त्रियों को स्त्रियों का ही शत्रु बना देता है। कमला भसीन के अनुसार "...हमारा यह मानना है कि स्त्रियाँ एक दूसरे की दुश्मन पुरुषप्रधान ढाँचे व विचारधारा के कारण बन जाती हैं।"[2]

इसका अर्थ यह है कि पुरुष प्रधान सामाजिक ढाँचे और उसकी विचारधारा को चुनौती देना अत्यंत आवश्यक है। यह तभी संभव है जब मर्दवाद को सही ढंग से समझा जाएगा। मर्द को श्रेष्ठ मानने की ग्रंथि से सर्वप्रथम मुक्त होना पड़ेगा। इस संदर्भ में वीर भारत तलवार लिखते हैं, "ये मर्दवाद सबसे ज्यादा खतरनाक अवधारणा है, नर को मर्द बनाना, मादा को स्त्री बनाना, ये हमारे समाज की संस्कृति की बुनियादी समस्या है । ...ये स्त्री पुरुष का विभाजन सबसे झूठा और मिथ्या विभाजन है। जितना मिथ्या विभाजन जाति का है।"[3]

वीर भारत तलवार ने यहाँ मर्दवाद की अवधारणा को स्पष्ट किया है। यह अवधारणा स्त्री और पुरुष के मिथ्या विभाजन को पितृसत्ता के हित में बढ़ावा देती है। उनका मानना है कि जिस तरह स्त्रियों को गढ़ा जाता है उसी प्रकार पुरुषों को भी उनके आस-पास का समाज गढ़ता ही है । पुरुष भी निर्मित ही किए जाते हैं, जिससे उसमें स्वभावतः स्त्रियों से श्रेष्ठ होने का भाव होता है। इसलिए जाति का विभाजन जिस स्वाभाविक प्रक्रिया में निर्मित होता है, स्त्री-पुरुष का विभाजन भी उसी रूप में स्वभावतः विकसित होता है। हिन्दी के स्त्रीवाद को इसे गंभीर तरीके

---

[1] समकालीन जनमत, मई 2013, वीर भारत तलवार का लेख - 'सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित समाजों-समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकती', पृ.सं. 18

[2] कमला असीन, निघत सईद खान, नारीवाद यह आखिर है क्या? पृ.सं. 24

[3] समकालीन जनमत, मई 2013, वीर भारत तलवार का लेख -'सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित समाजों-समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकती', पृ.सं. 18

से चुनौती देना होगा। लेखन, बहस एवं संघर्ष तीनों स्तर पर मर्दवाद को चुनौती देना आवश्यक प्रतीत होता है।

मर्दवाद को चुनौती देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह एक तरफ पुरुषों की श्रेष्ठता को स्त्रियों पर थोपता है तो दूसरी तरफ स्त्रीत्व की अवधारणा को भी विकसित करता है। वीर भारत तलवार का मानना है कि स्त्रीत्व की अवधारणा भी मर्दवाद की तरह नुकसान पहुँचाने वाली है। वह लिखते हैं, "जिस प्रकार मर्दवाद एक झूठी अवधारणा है, जो नर को खूँखार बनाती है, उसी प्रकार स्त्रीत्व की अवधारणा भी इतनी ही गलत और बेबुनियाद अवधारणा है, जो स्त्री को घुटना टेकू बनाता है।"[1] आगे स्त्रीत्व की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वीर भारत तलवार लिखते हैं, "स्त्रीत्व की अवधारणा भी उतनी ही बेबुनियाद है, जिसमें बहुत सारी स्त्रियाँ स्वाभाविक रूप से निवास करती हैं। स्त्रियों के अंदर करुणा होती है, स्त्रियाँ ममतामयी होती हैं। उनके अंदर बलिदान की भावना भरी होती है ये सब स्त्रियों को बनाया जाता है।"[2]

स्त्रीवाद के सामने इसलिए मर्दवाद एक बड़ी चुनौती है क्योंकि यह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप में सक्रिय रहता है। मर्दवाद हमेशा वर्चस्वादी रूप में ही उपस्थित नहीं होता। स्त्रीवाद की धारणा का विकास कर वह अप्रत्यक्ष रूप से भी स्त्री-शोषण को बढ़ावा देता है। इसलिए स्त्रीवाद को मर्दवाद को चुनौती देते हुए इस विचार का प्रचार करना होगा कि लिंग के आधार पर किसी तरह का विभाजन उचित नहीं है। व्यापक सामाजिक आंदोलन, लेखन एवं बहस से पितृसत्ता द्वारा निर्मित स्त्रीत्व की धारणा को भी चुनौती देना होगा। मर्दवाद पुरुषसत्ता की सबसे शक्तिशाली निर्मिति है। हिन्दी के स्त्रीवाद के सामने यह एक बड़ी चुनौती है।

5.2.5 सामाजिक संघर्ष का प्रश्न :

हिन्दी के स्त्रीवाद पर एक गहरा आक्षेप लगाया जाता है कि यह शुद्ध रूप से साहित्यिक विमर्श है। समाज में चलने वाले आंदोलनों से यह अभी तक नहीं जुड़ पाया है। कोई साहित्य या उसका विमर्श, सामाजिक भूमिका के अभाव में कालजीवी नहीं हो सकता। इस संदर्भ में वीर भारत तलवार स्पष्ट लिखते हैं,

---

[1] समकालीन जनमत, मई 2013, वीर भारत तलवार का लेख - 'सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित समाजों-समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकती', पृ.सं. 18

[2] वही, पृ.सं. 18

"हिन्दी में जो नारी विमर्श है उसकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि वो सिर्फ साहित्यिक दायरे तक सिमटा हुआ है। ...क्या संबंध है सामाजिक आंदोलनों से जो नारीवादी विमर्श चल रहा है उसका ?"[1]

पश्चिम का नारीवाद वहाँ के सामाजिक आंदोलनों से गहरे तौर पर जुड़ा रहा है। मताधिकार से लेकर सामाजिक सम्मान तक की लड़ाई तक में उनकी बड़ी भूमिका रही है। हिन्दी का स्त्रीवाद इस रूप में अभी तक सामाजिक आंदोलनों से नहीं जुड़ पाया है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियाँ अपनी लड़ाई स्वयं लड़ रही हैं परंतु हिन्दी का स्त्रीवाद उससे जुड़ पाने में अक्षम नजर आता है।

असल में सर्वप्रथम यह समझा जाना जरूरी है कि पितृसत्ता के विरोध की लड़ाई सिर्फ पुरुष वर्चस्ववाद को चुनौती देने की लड़ाई नहीं है। श्रम के स्त्रीकरण को ध्यान में रखते हुए उमा चक्रवर्ती हमारे सामने तीन निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए लिखती हैं, "एक तो यह कि पितृसत्ता किसी पुरानी व्यवस्था का 'अवशेष' नहीं, बल्कि पूँजीवाद की अपनी जरूरत है, जिसके कारण पूँजीवाद उसे बढ़ाता और मजबूत बनाता है। दूसरा नतीजा यह निकलता है कि यह परंपरा, संस्कृति या मानसिकता का या समाज की 'अधिरचना' का नहीं बल्कि उसके 'आधार' का मसला है। तीसरा नतीजा यह निकलता है कि यह सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच का मामला नहीं है कि स्त्रियाँ पुरूषों के विरुद्ध कोई लड़ाई लड़कर इससे मुक्त हो जायेंगी। यह समूची व्यवस्था को बदलने का मामला है।"[2]

हिन्दी के स्त्रीवाद में व्यवस्था परिवर्तन के प्रश्न को कितना महत्त्व दिया जाता है ? यह एक बड़ा सवाल है। बहुत से विचारकों का मानना था कि पूँजीवाद, सामंतवादी सभी अवशेषों को स्वतः ही मिटा देगा। असल में ऐसा हुआ नहीं बल्कि जनता पर अधिकार बनाए रखने के लिए तब कई सामंती प्रथाओं एवं व्यवस्थाओं को पूँजीवाद ने नवीन जीवन प्रदान किया। पितृसत्ता पहले से ज्यादा मजबूत हुई। व्यवस्था की निरंकुशता के साथ उसकी भी निरंकुशता बढ़ी है। इसलिए स्त्रीवाद का संघर्ष सिर्फ पुरूषों के विरुद्ध नहीं हो सकता। सामाजिक आंदोलनों से जुड़कर उसे व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई को आगे बढ़ाना होगा।

---

[1] समकालीन जनमत, मई 2013, वीर भारत तलवार का लेख - 'सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित समाजों-समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकती', पृ.सं. 16

[2] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, उमा चक्रवर्ती से रमेश उपाध्याय की बातचीत, पृ. सं. 22

स्त्रीवाद की उपस्थिति ने पितृसत्ता के प्रत्यक्ष एवं हिजेमेनिक शोषण दोनों को सामने लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । समाज को बेहतर बनाने की कोशिश में कुछ हद तक कामयाबी भी मिली है। यह यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि स्त्री-पुरुष संबंध पहले से बेहतर होने के बावजूद पितृसत्ता कमजोर हुई है। उमा चक्रवर्ती के अनुसार "पितृसत्ता केवल स्त्री पुरुष संबंध का मसला नहीं है। वह समूची समाज व्यवस्था का मसला है, जिसमें मनुष्यों के बीच की तमाम असमानताओं को, तमाम तरह के स्तर-भेदों को और उनको बनाए रखने वाली राज्यसत्ता को हमें एक साथ देखना पड़ेगा और बड़ी सावधानी से, बड़े सृजनशील ढंग से, इस व्यवस्था का बेहतर विकल्प खोज कर वैसी व्यवस्था बनाने का प्रयास करना पड़ेगा। पितृसत्ता का उन्मूलन समूची सामाजिक व्यवस्था को बदलने से ही हो सकता है । लेकिन समस्या यह है कि ऐसा कोई बड़ा प्रयास जिसमें समूची व्यवस्था को बदलने का उद्देश्य लेकर चला जाए, फिलहाल तो नहीं हो रहा है।"[1]

स्त्रीवाद को विभिन्न आंदोलनों से जुड़ने के साथ स्वयं के आंदोलनात्मक रूप को मजबूत करना पड़ेगा । तत्कालीन शोषणकारी व्यवस्था का सृजनात्मक विकल्प देने की गहरी चुनौती हिन्दी के स्त्रीवाद के सामने है । सवाल यहाँ सिर्फ स्त्रीवाद या स्त्री के अधिकारों की लड़ाई का नहीं है क्योंकि यह कोई पृथक प्रश्न नहीं है। आज समाज के अंदर वैसी संगठित लड़ाई कहीं नहीं चल रही। पृथकता में बँटे संघर्षों का एकजुट होना जरूरी है। इसमें स्त्रीवाद की अपनी भूमिका है, जिस पर खरा उतरने की एक चुनौती स्त्रीवाद के सामने है । उमा चक्रवर्ती इसी बात को प्रमुखता से स्पष्ट करना चाहती हैं कि पितृसत्ता के उन्मूलन का प्रश्न सिर्फ स्त्री अधिकारों की लड़ाई से नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके लिए उस पूरी व्यवस्था को परिवर्तित करना आवश्यक है, जो विभिन्न शोषणों को आधार प्रदान करता है। जाति और वर्ग के आधार पर होने वाले शोषण और उत्पीड़न के साथ स्त्री शोषण के प्रश्न को जोड़ना होगा। इस संदर्भ में उर्वशी बुटालिया का स्पष्ट मानना है, "स्त्रियों की समस्याएँ केवल स्त्रियों की नहीं बल्कि समूचे समाज की समस्याएँ हैं। उनको

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, उमा चक्रवर्ती से रमेश उपाध्याय की बातचीत, पृ. सं. 23

हल करने के लिए स्त्रियों को सोचना चाहिए कि वे अपने आंदोलनों में समाज के दूसरे लोंगों को कैसे जोड़ें और उनके आंदोलनों से खुद कैसे जुड़ें।"[1]

सामाजिक आंदोलनों के साथ स्त्रीवाद को द्वंद्वात्मक संबंध कायम करना होगा । हर उस संभावित पहलू को सामने लाना होगा जिससे वह सामाजिक आंदोलनों से जुड़ पाए और अपने आंदोलन से दूसरे लोगों को जोड़ सके । यह स्त्रीवाद के साथ-साथ बेहतर समाज बनाने के लिए भी आवश्यक प्रतीत होता है । स्त्रीवाद को सामाजिक आंदोलन से जोड़ने पर जोर देने का कारण स्वयं स्त्रीवाद के उभार से जुड़ा है । कमला भसीन इसे स्पष्ट करती हुई लिखती हैं, "विशेषतः उन्नीसवीं तथा आरंभिक बीसवीं शताब्दी में विदेशी शासन और सामंती शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध उठ खड़े हुए आंदोलनों के दौरान नारीवादी धारणा को भी बल मिला । इस युग में स्त्री अधीनता के विरुद्ध उठी आवाज़ों ने अनेक माँगो का रूप ले लिया जैसे कि विधवाओं के पुनर्विवाह की संभावना, बहुविवाह प्रथा, सती व पर्दा प्रथा पर रोक तथा स्त्रियों के लिए शिक्षा व कानूनी या संवैधानिक स्वतंत्रता।"[2]

अर्थात् आंदोलनों के साथ जुड़ाव ने इसे मजबूती प्रदान की । जब उन्नीसवीं तथा आरंभिक बीसवीं सदी में ऐसा हुआ था तब इस युग में भी विभिन्न आंदोलनों से जुड़कर ही स्त्रीवाद अपने कल्याणकारी रूप को बनाए रख सकता है। हिन्दी के स्त्रीवाद को इस चुनौती को समझते हुए सामाजिक आंदोलनों के साथ स्वयं को जोड़ना पड़ेगा । स्त्री के साथ दलित, मजदूरों, किसानों, आदिवासियों आदि के सवालों को भी महत्त्व देना होगा । तभी स्त्रीवाद समाज और साहित्य में अपनी प्रभावी भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा), आज का स्त्री आंदोलन, उर्वशी बुटालिया का लेख - 'पितृसत्ता के भूमंडलीकरण रूप को समझना जरूरी है', पृ. सं. 45

[2] कमला असीन, निघत सईद खान, नारीवाद : यह आखिर है क्या?, पृ.सं. 11

5.3 आदिवासी विमर्श की चुनौतियाँ

5.3.1 दलित और आदिवासी विमर्श का अन्तर्सम्बंध :

दलित और आदिवासी समुदाय को समान रूप से वंचना का शिकार होना पड़ा है। कई स्तरों पर शोषण और प्रताड़ना का स्वरूप भी एक ही प्रकार का दिखाई देता है। ऐसे में सवाल उठता है कि दोनों समुदायों के मुक्ति का रास्ता एक ही होगा अलग ? इस संदर्भ में मुख्य सवाल विचारधारा का आता है। दलित विमर्श अम्बेडकर के विचारों पर आधारित है। अम्बेडकर के विचारों के माध्यम से ही वह मुक्ति का रास्ता प्राप्त करना चाहता है। दलित विमर्शकार आदिवासियों के संदर्भ में भी अम्बेडकर के विचारों को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ऐसे में यह सवाल उचित जान पड़ता है कि अम्बेडकर के विचार आदिवासी संदर्भ में कितने प्रासंगिक हैं ?

आदिवासी-विमर्शकार दलित विमर्श के साथ कई मुद्दों पर एकता को स्वीकार करते हैं। इसके बावजूद वह यह मानते हैं कि आदिवासी समस्या का हल, पूर्णतः अम्बेडकर के विचारों के आधार पर संभव नहीं है। अम्बेडकर ने स्फुट ढंग से ही सही, परन्तु आदिवासी-समस्या पर विचार प्रकट किए हैं। अम्बेडकर की मुख्य चिन्ता आदिवासियों को सभ्य बनाने व मुख्यधारा में लाने की थी। आदिवासियों पर विचार करते हुए अम्बेडकर लिखते हैं, "ये आदिम जातियाँ शिक्षा का पूर्ण अभाव होने, विज्ञान की कुछ भी भनक न होने, अज्ञान और अंधविश्वास से ग्रस्त होने के कारण सभ्यता की सीमा रेखा से बाहर और उसकी स्थापित व्यवस्था के अनुसार सदियों से जंगली जीवन बिताती आ रही हैं।"[1]

जिन आधारों पर अम्बेडकर आदिवासी समाज-व्यवस्था और उसकी संस्कृति की आलोचना करते हैं, वह विचार का प्रश्न है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अन्य कई विचारकों की तरह अम्बेडकर भी आदिवासियों को अत्यंत पिछड़ा और असभ्य ही मानते थे जबकि आदिवासियों के यहाँ एक भरी-पूरी संस्कृति मौजूद थी। आधुनिक शिक्षा और विज्ञान से दूर होते हुए भी उनका अपना स्थापित

[1] बाबा साहेब डॉ.अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खंड -10, पृ. - 21

शिक्षा-तंत्र था। 'घोटुल' व्यवस्था इसका सर्वोतम उदाहरण है, जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से शिक्षित किया जाता था। प्रकृति के बारे में उनकी जानकारी आज भी, बहुत सारे आधुनिक प्रकृतिविद् से ज्यादा है।

अम्बेडकर प्रत्येक समस्या के मूल में जातिप्रथा को कारण रूप में स्वीकार करते थे एवं इसका उत्तरदायी ब्राह्मणवाद को मानते थे। उनके अनुसार इसी कारण हिन्दू पूरी तरह से एक अक्षम जाति है, जिसमें सुधार की संभावना ही नहीं है। स्वयं अम्बेडकर भी इस बात को स्वीकार करते थे कि "जाति ही वह मुख्य स्पष्टीकरण है, जिसके कारण हिन्दुओं ने स्वयं सभ्य हो जाने के बावजूद जंगली जातियों को जंगली ही बने रहने दिया है...।"[1] आदिवासी चिंतक यह सवाल उठा ही सकते हैं कि अम्बेडकर किन आधारों पर हिन्दुओं को सभ्य और आदिवासियों को असभ्य मानते हैं ? अगर हिन्दू सभ्य थे तो उनकी आलोचना क्यों करते हैं ? आदिवासी समाज की जानकारी अम्बेडकर के पास द्वितीय स्रोत से आई जान पड़ती है। अन्यथा वे हिन्दुओं की आलोचना करते हुए उदाहरण के रूप में आदिवासियों को प्रस्तुत नहीं करते। अम्बेडकर के अनुसार "हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है।"[2]

ऐसे में मुख्य चुनौती दलित विमर्श को अम्बेडकर के इन विचारों की आलोचना करते हुए, आदिवासी समाज के प्रति बेहतर समझ विकसित करने की है । आदिवासी विमर्शकारों को भी दलित समस्याओं और चुनौतियों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना होगा। बहुत सारे आदिवासी विमर्शकार दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श को पूर्णतः अलग करके देखे जाने के समर्थक हैं । यह दृष्टिकोण भी उचित प्रतीत नहीं होता । इस संदर्भ में रमेशचंद मीणा लिखते हैं, "आदिवासी और दलित विमर्श को कई लोग एक ही मानकर भ्रम बनाने में लगे रहे हैं जबकि दलित-साहित्य रचने वाले आदिवासी की बात नहीं करते और न ही करना चाहते हैं। उनको यह जान लेना जरूरी है कि दोनों में तात्विक और रूपगत भेद है।

[1] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर वाड्मय, खंड-1, पृ. सं. 73

[2] वही, पृ. सं. 78

इसलिए ये दोनों महाशोषित कभी भी एक मंच पर मुस्तैदी के साथ खड़े नहीं हो सके हैं।"[1]

आदिवासी विमर्शकारों के समक्ष दलित विमर्श के साथ साझा मंच स्थापित करने की एक बड़ी चुनौती है। यदि दोनों ही समुदाय महाशोषित हैं तो कई मुद्दों पर सार्वजनिक संघर्ष का स्वरूप एक ही होगा। दोनों विमर्शों के बीच के भेदों को रेखांकित करते हुए महज दलित विमर्श की आलोचना करना सकारात्मक प्रतीत नहीं होता। यह सच है कि आदिवासी विमर्श के केंद्र में विस्थापन और अस्तित्व का प्रश्न मुख्य है। इसके बावजूद दोनों के साहित्य के केंद्र में श्रम का शोषण, उपेक्षा का दंश, अन्याय के प्रति प्रतिकार, आत्मसम्मानपूर्ण जीवन आदि की भावना समान रूप से मौजूद है। आज जमीन का मुद्दा आदिवासियों के साथ दलितों के लिए भी बड़ी समस्या बन चुकी है। जीवन-शैली भिन्न होने मात्र से कोई असभ्य या शत्रु नहीं हो जाता। इसलिए एक बड़े संघर्ष के लिए साझा मंच की आवश्यकता, हमेशा आवश्यक होती है।

रामदयाल मुण्डा ने इस चुनौती के संदर्भ में कहा था, "यह बात सच है कि ये दोनों समुदाय ऐतिहासिक रूप में एक ही मूल से आते हैं किन्तु इतिहास की गति ने दलित को हिन्दू समाज के साथ बंधे रहने के लिए विवश किया और आदिवासी जंगलों पहाड़ों पर जा बसा। ये दोनों समुदाय ही अपने अधिकार से वंचित रहे हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ इनकी लड़ाई के मुद्दे एक हैं वहाँ-वहाँ ये एक साथ मिलकर लड़ सकते हैं।"[2] असल मुद्दा संघर्ष एवं मुक्ति का होना चाहिए। आपस में होने वाले टकराहटों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना आवश्यक है। आदिवासी विमर्श को दलित विमर्श के साथ एक साझा मंच बनाने का प्रयास करना चाहिए। इससे आदिवासी स्वर को भी मजबूती मिलेगी और दलित विमर्श का भी विकास होगा।

5.3.2 आदिवासी विमर्श की वैकल्पिक विचार-दृष्टि :

आदिवासी समाज की जीवन शैली कथित मुख्यधारा के समाज से अलग है। इसलिए आदिवासी विषय पर लिखने वाले एवं विचार करने वाले पर बड़ी

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तक : विचार परम्परा और साहित्य, पृ.-11-12

[2] रमणिका गुप्ता(संपा), आदिवासी अस्मिता के पड़ताल करते साक्षात्कार, रामदयाल मुण्डा से श्रीधरम की बातचीत, पृ. सं. 47

जिम्मेदारी है। इस संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, "...जब आप आदिवासी समाज पर लिखते हैं तो उनकी मूल सामाजिक प्रवृत्तियों और जीवन मूल्यों का ध्यान रख रहे हैं या नहीं ...क्योंकि शेष दुनिया उन्हें उसी रूप में जानेगी, जिस रूप में आप उन्हें उद्घाटित कर रहे हैं।"[1]

आदिवासी समाज की मूल दृष्टि, जीवन मूल्यों का ध्यान रखना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि आज के तथाकथित विकसित और उत्तर आधुनिक समाज में, यह एक वैकल्पिक जीवन दृष्टि के रूप में नजर आती है। आदिवासी संस्कृति का महत्त्व महज आदिवासी लेखन या समाज तक ही सीमित नहीं रह गया। विकास की दौड़ में प्रकृति और जीवन दोनों का विनाश जारी है। ऐसे में आदिवासी लेखकों एवं विचारकों के सामने एक बड़ी चुनौती आदिवासी संस्कृति के संरक्षण और विकास की भी है। जी.एन.देवी के अनुसार "एक जिम्मेदारी आदिवासी संस्कृति व सभ्यता को बचाने की भी है। दुनिया के सामने शायद यही एक रास्ता बचा है जो दुनिया को बचा पाएगा। तकनीक और बाजार आधारित सभ्यता दुनिया में फैल गई है और दुनिया का विनाश कर रही है। हमारे सामने वैकल्पिक सभ्यता के विकास की चुनौती भी एक बड़ी चुनौती बनकर उभर रही है।"[2]

टेरी इगलटन की तरह जी. एन. देवी भी मानते हैं कि हम इतिहास के ऐसे मोड़ पर खड़े हैं जहाँ दुनिया के ही नष्ट हो जाने का खतरा सम्मुख खड़ा है। ऐसे में वैकल्पिक सभ्यता के विकास की एक बड़ी चुनौती साहित्यकारों के सामने भी है। आदिवासी संस्कृति में वैकल्पिक सभ्यता के निर्माण की आशा दिखाई पड़ती है। जी. एन. देवी आदिवासी सभ्यता को इस रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए वह आदिवासी साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य मानते हैं कि वे बेहतर दुनिया बनाने की पहल करें। ऐसे में आदिवासी रचनाकारों के सामने यह एक बड़ी चुनौती है कि वह आदिवासी विश्वदृष्टि का विकास करें एवं वैकल्पिक सभ्यता और संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया को मजबूती प्रदान करें।

जी. एन. देवी इसी से संबंधित एक और चुनौती का उल्लेख करते हैं। वह लिखते हैं, "आदिवासी की भाषा भी गैर-क़ानूनी है। उसकी भाषा तो संविधान की

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परम्परा और प्रयोजन, पृ. सं. 75

[2] आदिवासी साहित्य, दिसम्बर 2005, जी .एन. देवी का लेख - आदिवासी समाज और साहित्य की चुनौतियाँ, पृ. सं. 24

सूची में अभी तक नहीं आई । अगर वह कुछ बोले तो वह उसका गुनाह है । दरअसल ब्लैक लिटरेचर से भी बड़ी और कड़ी है यह चुनौती ।"[1]

आदिवासी साहित्य पर एक तरफ आदिवासी विश्वदृष्टि के विकास की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है तो दूसरी तरह उन्हें शंका से देखने वाले कथित मुख्यधारा की दृष्टि को बदलने की भी जिम्मेदारी है । ऐसे में एक बड़ा प्रश्न आदिवासियों की भाषा का भी आता है । जी. एन. देवी के अनुसार जिसका बोलना ही गुनाह है, वह अपनी भाषा में साहित्य रचना कैसे कर सकता है । इसलिए आदिवासी साहित्यकारों के सामने आदिवासी सभ्यता के साथ आदिवासी भाषा के विकास का भी दायित्त्व है । आदिवासी समाज हमेशा से चुनौतियों का सामना करते हुए आगे बढ़ता रहा है । यहाँ तक कि प्रकृति के साथ भी उसका सम्बन्ध सखत्व के साथ-साथ संघर्ष का रहा है । आदिवासी विषय पर लिखने एवं विचार करने वालों को साहित्य के स्तर पर इन चुनौतियों का सामना करना, आवश्यक प्रतीत होता है । आदिवासी विश्वदृष्टि का विकास करते हुए उसे मुख्यधारा के समाज का भी विश्वास जीतना होगा । वैकल्पिक विकास एवं सह अस्तित्व के विचारों का पूरी गंभीरता से प्रचार-प्रसार करना होगा ।

रमणिका गुप्ता का मानना है कि वैश्वीकरण के दबाव में बिखरती जा रही आदिवासियों की संस्कृति को बचाना आवश्यक है । इसके लिए वह आदिवासी भाषा में शिक्षा की व्यवस्था करने को आवश्यक मानती हैं । वह मानती हैं कि इन सारे कार्यों की पहल करने की जिम्मेदारी आदिवासी रचनाकारों पर है । वह लिखती हैं, "दरअसल आदिवासियों के स्वशासन, आत्मनिर्णय और प्राकृतिक संसाधनों पर उनके अधिकार का दावा मुस्तैदी से रखना और हासिल करना भी आदिवासी लेखकों का दायित्त्व है । उसी में शामिल है आदिवासी भाषाओं को रोजगार से जोड़ना और बाहरी तत्त्वों द्वारा उनकी संस्कृति में हस्तक्षेप पर रोक लगाना और उनकी संस्कृति को तार तार होने से बचाना ।"[2]

आदिवासी साहित्य के ऊपर आज के समय में बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं । इस जिम्मेदारी का फलक वैश्विक है । ऐसे इसके रचनाकारों के सामने यह एक बड़ी

---

[1] आदिवासी साहित्य, दिसम्बर 2005, जी .एन. देवी का लेख - 'आदिवासी समाज और साहित्य की चुनौतियाँ', पृ. सं. 24

[2] रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. सं. 89

चुनौती है कि स्थानीयता से जुड़े आदिवासियों की संस्कृति और सभ्यता को संरक्षित और विकसित कैसे करें। आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्ति को बनाए रखते हुए, एक वैकल्पिक जीवन-दृष्टि को स्थापित करने की चुनौती आदिवासी साहित्य के सामने खड़ी है। इसे विचार और व्यवहार में शामिल करना, आदिवासी साहित्य एवं साहित्यकारों का लक्ष्य होना चाहिए।

5.3.3 मुख्यधारा का प्रश्न :

आदिवासी साहित्यकारों के सामने एक बड़ी चुनौती है कि वह कथित मुख्यधारा को बेहतर ढंग से परिभाषित करें। बहुत से विद्वान आदिवासियों की समस्या का मुख्य कारण कथित मुख्यधारा से उनके अलग होने को मानते हैं। अम्बेडकर जैसे महान विचारकों का भी ऐसा ही मानना था। उन्होंने लिखा है, "...ये आदिम जातियाँ इस कारण जंगली की जंगली रह गई हैं, क्योंकि हिन्दू लोगों ने उन्हें सभ्य बनाने, उन्हें चिकित्सीय सहायता देने, उन्हें सुधारने और उन्हें अच्छा नागरिक बनाने का कोई प्रयास ही नहीं किया।"[1]

अम्बेडकर भी आदिवासियों को तथाकथित रूप से असभ्य माने जाने वाली जातियों में शुमार करते थे। इसका दोष वे हिन्दुओं एवं ब्राह्मणवादी व्यवस्था को देते थे। यह समझने-समझाने का प्रयास करना होगा कि कोई समुदाय कथित मुख्यधारा में शामिल नहीं होने भर से असभ्य या जंगली नहीं हो जाता। यह किसी भी जाति या समुदाय के बारे में अधूरी समझ है। आदिवासी साहित्यकारों एवं विचारकों को यह स्पष्ट करना होगा कि आदिवासी भी इस देश का जिम्मेदार नागरिक है और वह असभ्य या पिछड़ी सोच का नहीं है। विचार के साथ-साथ साहित्य की दुनिया में भी आदिवासी समाज के साथ लगभग ऐसा ही व्यवहार होता रहा है। इस संदर्भ में महादेव टोप्पो लिखते हैं, "सभ्य या शिष्ट कहा जाने वाला साहित्य आदिवासी जीवन एवं उसकी समस्याओं को अंतरंगता एवं आत्मीयता से देख नहीं पाता क्योंकि वह उनके परिवेश से परिचित नहीं होता। अतः स्वाभाविक ही है वह कई प्रकार के पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर आदिवासी समाज को देखता और चित्रित करता है। ऐसे में आदिवासी साहित्यकार अपने संसार और सभ्य कहे जाने

[1] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड 1, पृ. सं. 73

वाले संसार को देखें और समझें । साहित्य सृजन का ऐसा प्रयास एक नया आविष्कार करने जैसा होगा ।"[1]

महादेव टोप्पो के अनुसार आदिवासी साहित्यकार के समक्ष यह चुनौती है कि वह अपने साथ-साथ सभ्य कहे जाने वाले संसार को भी बेहतर ढंग से समझने का प्रयास करे । सभ्य कहे जाने वाले मुख्यधारा के समाज के सामने आदिवासी समाज की विशेषताओं और समस्याओं दोनों का प्रामाणिक चित्रण करना, आदिवासी रचनाकारों के लिए आवश्यक है । इससे कथित मुख्यधारा के समाज से दूरी घटेगी और उनके भ्रम का भी निवारण हो सकेगा ।

मुख्यधारा का समाज तो विनाश की ओर अग्रसर दिखाई पड़ता है । मानव मूल्यों का ह्रास, उत्कट व्यक्तिवादिता, पर्यावरण का विनाश, सह-अस्तित्व और सामंजस्यपूर्ण जीवन-दृष्टि का अभाव कथित मुख्यधारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं । मानवीयता के निर्माण और उसे बचाने की कोई पहल यहाँ नजर नहीं आती जबकि आदिवासी समाज इन्हीं विशेषताओं से युक्त है । ऐसे में आदिवासी रचनाकारों और चिंतकों का यह दायित्त्व है कि वह आदिवासी समाज और साहित्य की इन विशेषताओं को अंतरंगता से उजागर करें । जैसा कि आदिवासियों के बारे में वंदना टेटे स्पष्ट करते हुए लिखती हैं, "वह सामूहिक मूल्यों और सह अस्तित्व में यकीन करता है और इसलिए वहाँ व्यक्तिवादी नायक नहीं है । सदियों से उपेक्षित, वंचित और प्रताड़ना झेल रहे आदिवासी समाज और साहित्य को अब और ज्यादा दिनों तक हाशिए पर नहीं रखा जा सकता । वे आ रहे हैं और रच रहे हैं मानवीय गरिमा से युक्त एक ऐसी दुनिया, जिसकी आकांक्षा पूरी दुनिया करती रही है ।"[2]

आदिवासी समाज दुनिया को बेहतर बनाने की आकांक्षा का समर्थक है । अतएव इसका साहित्य भी उन्हीं विचारों पर आश्रित है । महादेव टोप्पो का भी मानना है कि "इस साहित्य में समाज, देश और दुनिया को बेहतर बनाने की आकांक्षा है ।"[3] वस्तुतः वंदना टेटे और महादेव टोप्पो आदिवासी विश्वदृष्टि को कथित मुख्यधारा के साथ पूरी दुनिया के सामने वैकल्पिक जीवन-दृष्टि को

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, महादेव टोप्पो का लेख - आदिवासी साहित्य का विकास, पृ. सं. 108

[2] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन,पृ. सं. 57

[3] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, महादेव टोप्पो का लेख -'आदिवासी साहित्य का विकास', पृ. सं. 108

विकसित करने वाले जीवन-दृष्टि के रूप में देखते हैं। ऐसे में मुख्यधारा में शामिल होने के प्रश्न से ज्यादा महत्त्वपूर्ण सवाल आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा का है। आदिवासी साहित्यकारों एवं चिंतकों के सामने यह सवाल है कि वह इस चुनौती को किस रूप में स्वीकार करते हैं।

5.3.4 अस्तित्व एवं अस्मिता का प्रश्न :

आदिवासियों की अस्मिता के प्रश्न के मूल में उनके अस्तित्व का ही प्रश्न सन्निहित है। रामदयाल मुण्डा के अनुसार "अस्तित्व के लिए संघर्ष ही आदिवासी जीवन की वर्तमान सच्चाई है।"[1] अस्तित्व का संकट ही, आदिवासियों की अस्मिता पर भी संकट उत्पन्न करता है। इस संदर्भ में रामदयाल मुण्डा लिखते हैं, "किसी समुदाय की संस्कृति उसके जीवन के पूरे दायरे में अर्जित मूल्य बोध की पूँजी होती है और उसके लिए पहचान के संकट का सवाल तब आता है, जब वह देखता है कि उस पर आक्रमण हो रहे हैं, जब उसकी पहचान के विघटित होने का भय उसे आतंकित करता है।"[2] अर्थात् आदिवासी-समाज की सदियों की संस्कृति पर हमला होने का सवाल ही उनकी अस्मिता से जुड़ा है। उनकी संस्कृति, सभ्यता और जीवन मूल्यों पर आक्रमण, लगातार होते रहे हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में यह आक्रमण तीव्र से तीव्रतर हुआ है। विकास का नुकसान उन्हें अपनी जमीन और जंगल से विस्थापित होकर चुकाना पड़ रहा है। ऐसे में उनकी पहचान भी विघटित हो रही है। इसलिए उनकी अस्मिता पर भी प्रश्न चिन्ह लग रहा है। आदिवासियों के विपरीत दलितों की मुख्य समस्या सम्मानपूर्वक जीवन जीने का हक हासिल करना है। दलितों की लड़ाई अस्मिता से शुरू करके अस्मिता तक ही सीमित है जबकि आदिवासियों के लिए अस्मिता का सवाल महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, अस्तित्व रक्षा का सवाल मुख्य सवाल है।

आदिवासी भाषा का प्रश्न भी उनके अस्तित्व से ही जुड़ा प्रश्न है। भाषा का सवाल संस्कृति और जीवन-मूल्यों के साथ जुड़ा हुआ सवाल है। भाषा के अभाव में पूरी संस्कृति नष्ट हो सकती है। ऐसा कई आदिवासी समुदायों के साथ हुआ भी है। अस्तित्व रक्षा का प्रश्न ही आदिवासी क्षेत्रों में माओवाद के उदय और विकास

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, रामदयाल मुण्डा का लेख - 'अस्तित्व के लिए संघर्ष - आदिवासी साहित्य का मुख्य सरोकार', पृ. सं. 20

[2] रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, पृ. सं. 25

का कारण है। माओवाद और सरकारी हिंसा के बीच अंततः नुकसान आदिवासियों का ही हो रहा है। रमणिका गुप्ता के अनुसार "भारत में आदिवासी की अस्मिता पर संकट तो सदियों से आता जाता ही रहा है, लेकिन अब तो खतरा उनके अस्तित्व पर ही है। नक्सलवाद के नाम पर अब उसे क़ानूनी रूप से सरकारी हिंसा का शिकार बनाने की तैयारी हो गयी है।"[1]

ऐसे में आदिवासी साहित्य के सामने एक बड़ी चुनौती एक ही साथ इन सारे मोर्चों पर संघर्ष को संगठित करने की है। आदिवासी चिंतकों को इस चुनौती का सामना करना पड़ेगा। अस्तित्व और अस्मिता के प्रश्न पर कथित मुख्यधारा के समाज की संवेदना को प्राप्त करना आवश्यक है। सरकारी योजनाओं के कार्यान्वयन को आदिवासी अंचलों में सफल बनाने का भी प्रयास करना होगा। आदिवासी चिंतकों को, आदिवासी समुदाय में हिंसा के विकल्प की चेतना को विकसित करना होगा। आदिवासी समुदाय हिंसा में विश्वास करने वाला समाज नहीं है। प्रकृति के सह अस्तित्व में वह शांतिप्रिय जिन्दगी बिताने का समर्थक है।

5.3.5 आदिवासी स्त्री का प्रश्न :

आदिवासी समाज में स्त्रियों के प्रति बेहतर सोच दिखाई पड़ती है। रणेन्द्र के अनुसार "श्रम आधारित जीवन-शैली ने स्त्रियों के प्रति सहज समता-सम्मान भाव का संस्कार दिया है। मुख्यधारा का 'जनाना-जनानी' और आदिवासी समाज का 'सियानी' शब्द की व्याख्या इस गहरे फर्क को स्पष्ट करता है।"[2]

स्त्री को जनानी कहना उसके प्रजनन के सामर्थ्य पर निर्भर है। अर्थात् मुख्यधारा में स्त्री को उसके जैविक संरचना एवं माता होने के सामर्थ्य के कारण ही जनानी कहा जाता है जबकि 'सयानी' शब्द का संबंध बुद्धि से है, स्त्री के मस्तिष्क से है। यही माँग तो कथित मुख्यधारा का स्त्री विमर्श दशकों से करता रहा है। स्त्री विमर्श की माँग है कि स्त्री को उसकी कार्य-कुशलता एवं प्रतिभा के आधार पर पहचाना जाए न कि उसके अंग-उपांगों के आधार पर। आदिवासी समुदाय श्रम की महत्ता में विश्वास करता है। यह श्रम शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी।

---

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. सं. 31

[2] अनुज लुगुन(संपा), आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, रणेन्द्र का लेख - 'हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिंतन : संघर्ष, सपने, चुनौतियाँ और 21वीं सदी', पृ. सं. 89

आदिवासी समाज स्वभावतः स्त्रियों की समानता का समर्थक है। सदियों से स्त्रियों एवं पुरुषों का योगदान आदिवासी समाज में बराबरी का रहा है परन्तु पिछले कुछ दशकों में औद्योगिकीकरण और तथाकथित विकास की प्रक्रिया के कारण आदिवासी समाज में ढाँचागत बदलाव आया है। उनका पारम्परिक ढाँचा टूटा है और गैर आदिवासी सोच का प्रभाव भी बढ़ा है।

आदिवासी स्त्रियों की स्थिति के बारे में बिटिया मुर्मू लिखती हैं, "भारत की संस्कृति में महिलाओं की जो स्थिति है। आदिवासी संस्कृति में महिलाओं की स्थिति उससे बहुत भिन्न नहीं है। आम धारणा है कि आदिवासी महिलाएँ अधिकार संपन्न तथा बराबर की हकदार हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारत के अन्य समाजों की तरह आदिवासी समाज में भी बच्चे के जन्म के साथ-साथ लड़का-लड़की में अंतर शुरू हो जाता है।"[1]

यह निश्चित रूप से एक विचारणीय पहलू है। आदिवासी समुदाय में इस भेद को स्वीकृति मिलना, पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मजबूत होने का संकेत है। आदिवासी समुदाय ऐसे किसी भी श्रेष्ठता के आधार पर स्थापित व्यवस्था को स्वीकार करने वाला नहीं रहा है। बिटिया मुर्मू आदिवासी समाज में दहेज की बढ़ती समस्या का भी जिक्र करती हैं। निश्चित रूप से यह गैर आदिवासी संस्कृति का प्रभाव है। आदिवासी समाज में पौन की प्रथा रही है। आज भी यह प्रथा अधिकांश आदिवासी समाजों में जीवित है। इस प्रथा के अनुसार लड़के वालों को कुछ मामूली पैसे या एक गाय, लड़की के घर वालों को देना होता था। बिटिया मुर्मू इस संदर्भ में लिखती हैं, "अब समय के साथ-साथ परिवर्तन आ रहा है। आदिवासी समाज पर भी हिन्दू समाज का प्रभाव बढ़ रहा है। आदिवासियों में दहेज का प्रचलन प्रारंभ हो रहा है। ...यह चिंतनीय है कि यह स्थिति आदिवासी समाज में एक भयानक समस्या के रूप में उभर रही है।"[2]

आदिवासी विचारकों को इस समस्या से इसकी प्रारंभावस्था में ही संघर्ष करना होगा। प्रगतिशील परम्पराओं वाले आदिवासी समाज में, इस तरह के रुढ़िवादी हिन्दू परम्परा का प्रवेश बड़ी समस्या है। आदिवासी समाज श्रमशील

---

[1] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, बिटिया मुर्मू का लेख - 'आदिवासी संस्कृति और स्त्री', पृ. सं. 90

[2] वही, पृ. 91

समाज है, ऐसे समाज में दहेज प्रथा का विकास कई सारी अनियमितताओं को जन्म दे सकता है। स्त्री शोषण को आदिवासी समाज में वैधानिक स्वीकृति मिल सकती है। हिन्दू समाज की तरह यहाँ भी दहेज के कारण हत्याएँ या आत्महत्याएँ हो सकती हैं। स्त्री-पुरुष को समान दर्जा देने वाला समाज पुरुषसत्तात्मक समाज में परिवर्तित हो सकता है। इसका प्रभाव आदिवासी संस्कृति पर भी पड़ेगा। इसलिए आदिवासी चिंतकों के सामने यह एक बड़ी चुनौती है कि वह इस तरह के सामाजिक आडम्बरों के खिलाफ संघर्ष करें। साहित्य और समाज दोनों ही स्तर पर आदिवासी समाज को जागरूक बनाना आवश्यक है।

आदिवासी स्त्रियों की एक बड़ी समस्या विस्थापन की है। आज आदिवासी पुरूषों के साथ औरतों का भी विस्थापन बड़े स्तर पर हो रहा है। औद्योगिकीकरण और विभिन्न संसाधनों की लूट ने आदिवासी समुदाय को अपनी जमीन से विस्थापित होने के लिए मजबूर कर दिया है। विस्थापन एवं इससे जनित पलायन का सर्वाधिक दंश आदिवासी स्त्रियों को ही सहना पड़ता है। वंदना टेटे के अनुसार "विस्थापन, पलायन और औद्योगिकीकरण की सबसे ज्यादा मार आदिवासी महिलाओं को ही झेलनी पड़ी है। खदान क्षेत्रों और औद्योगिक शहरों के विकास के साथ ही आदिवासी महिलाएँ पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित हुई हैं।"[1]

विस्थापन और उससे जनित समस्याएँ आज सबसे बड़ी चुनौती के रूप में आदिवासी समाज के सामने खड़ी हैं। जी. एन. देवी का मानना है कि इस चुनौती से लड़ना, आदिवासी रचनाकारों के लिए अत्यंत आवश्यक है। उनके अनुसार "9 करोड़ आदिवासी, 6 करोड़ घुमंतू, करीब 14-15 करोड़ आदिवासी आज विस्थापित होते जा रहे हैं। सिर्फ एक दो प्रतिशत 'क्रीमीलेयर' के लोगों ने सबकुछ 'हाइजेक' कर लिया है, बाकी सब विस्थापित हो रहे हैं। यह है विकास की विडम्बना। विकास की नीति ऐसी हो कि विस्थापन न हो - यह एक बड़ी चुनौती आदिवासी साहित्य के सामने है।"[2]

इसके साथ ही आदिवासियों में डायन-प्रथा का तेजी से विकास हुआ है। संपत्ति से बेदखल करने के लिए स्त्रियों को डायन घोषित कर दिया जाता है।

---

[1] वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृ. सं. 75

[2] युद्धरत आम आदमी, दिसम्बर 2005, जी. एन. देवी का लेख - 'आदिवासी समाज और साहित्य की चुनौतियाँ, पृ. सं. 24

प्रथागत नियमों के आधार पर श्रम के कामों से उन्हें दूर रखा जाता है। हल चलाने, तीर-धनुष छूने, छत की मरम्मत करने आदि का अधिकार स्त्रियों के पास नहीं है। ऐसी कई सारी प्रथाएँ आदिवासी समाज के आंतरिक ढाँचे को कमजोर कर रही हैं। एक तरफ उनके प्रथागत नियम तो दूसरी तरफ पूँजीवाद का प्रभाव, दोनों ही तरफ से आदिवासी समाज की पारंपरिक व्यवस्था नष्ट हो रही है। ऐसे में आदिवासी समाज को सजग होना पड़ेगा। आदिवासी स्त्री को पुनः बराबरी का हक देना होगा। आदिवासी समाज को सर्वप्रथम आंतरिक रूप से संगठित होना पड़ेगा, तभी वह बड़ी समस्याओं से संघर्ष कर पाने में सक्षम हो पाएगा। गैर-बराबरी पर आधारित समाज संकटों से जल्दी पराजित हो जाता है। आदिवासी समाज अपनी आंतरिक एकता के बल पर ही लगातार संघर्ष करता रहा है। इस संदर्भ में निर्मला पुतुल का मत उल्लेखनीय प्रतीत होता है, "परम्परागत चीजों और रीति रिवाजों को लेकर मेरी धारणा यह रही है ...कि वैसी चीजें जो हमारी पहचान और अस्मिता को बनाए रखने में सहायक हैं, उन्हें हर कीमत पर बचाए रखने के लिए संघर्ष करना चाहिए और जो हमारे विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहे हों उन रीति-रिवाजों और परम्पराओं का मोह छोड़कर पूरी शक्ति से उसका सामूहिक विरोध करना चाहिए।"[1]

आदिवासी समाज के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी प्रथाएँ जो स्त्री विरोधी हों और आदिवासी स्त्री के विकास में बाधक हों, उन्हें तत्काल समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए। आदिवासी चिंतकों के सामने यह एक चुनौती है कि वह पुनः आदिवासी संस्कृति के उस मूल विशेषता को स्थापित करने का प्रयास करें, जिसके अनुसार स्त्री और पुरुष समान माने जाते थे। आदिवासी साहित्य और समाज के विकास के लिए आदिवासी स्त्री को उसका सम्मानित दर्जा समाज में पुनः स्थापित करना होगा। आदिवासी समाज में श्रम के सौंदर्य को पुनः जीवित करने की चुनौती, इसके रचनाकारों और चिंतकों के सामने, सबसे बड़ी चुनौती है।

[1] रमणिका गुप्ता(संपा.), आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, निर्मला पुतुल से प्रोमिला की बातचीत, पृ. सं. 89

5.4 मुस्लिम -विमर्श की चुनौतियाँ

मुस्लिम लेखन और उनके आलोचना कर्म की चुनौतियों पर यहाँ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। मुस्लिम प्रश्न पर विचार करते हुए हमें ज्ञात होता है कि मुस्लिम समस्याओं को आधार बना कर हिन्दी में साहित्य तो बड़ी मात्रा में लिखा गया किंतु उस पर आधारित आलोचना का विकास उसी अनुपात में नहीं हो पाया। यह मुस्लिम लेखन और उसकी आलोचना के लिए बड़ी चुनौती है। किसी भी समाज का लेखन अपनी वास्तविक परिस्थितियों से प्रभावित होता है । आलोचना की संस्कृति का अभाव मोटे-तौर पर मुस्लिम समुदाय के अंतर्गत भी दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं है कि मुस्लिम समुदाय में ऐसे लोग नहीं हैं जो अपने समुदाय की बुराइयों की आलोचना नहीं करते परंतु आलोचना की संस्कृति का निर्माण वहाँ अभी तक नहीं हो पाया है।

राजेन्द्र यादव मानते हैं कि बहुसंख्यक आबादी के दबाव ने मुसलमानों के अंदर इस तरह की संस्कृति को विकसित नहीं होने दिया । इस कारण वह अल्पसंख्यक ग्रंथि के शिकार होते गए और खुद को खुद तक ही समेटकर रखने का प्रयास करने लगे। वह लिखते हैं, "बहुसंख्यकों पर संदेह और अपने पर कभी भी हमला होने का डर उनका स्थायी भाव बन गया है ।"[1] इस कारण मुसलमान अल्पसंख्यक ग्रंथि का शिकार होते गए। भयभीत होने के कारण ही उनमें घेटो की मानसिकता का भी विकास हुआ। वह स्वयं में ही सिमटकर रहने में ही सुरक्षित महसूस करने लगे । धर्मनिरपेक्ष कहे जाने वाले बौद्धिकों ने भी उनकी इस मानसिकता को बढ़ावा देने में पूरा योगदान दिया। राजेन्द्र यादव ने इस संदर्भ में स्पष्ट लिखा, "धर्मनिरपेक्ष या बौद्धिक सेकुलर लोगों ने भी स्थिति को सही दृष्टि से नहीं देखा। उनकी समझ थी कि हर कहीं अल्पसंख्यक अपनी पहचान और सुरक्षा 'घेटो' (घेराबंद) जीवन की सोच और जीवन में देखते हैं, उनकी सांप्रदायिकता ही उनका बचाव और विद्रोह है। विदेशों में बसे भारतीय अपने बीच लगभग जड़ और कट्टर हिन्दू, मुसलमान या सिख होकर रहते हैं। ... सच्चाई यह है कि वे जीवन धर्म और संबंधों में अपने हक तक ही सीमित हैं। अल्पसंख्यकों की इन कमजोरियों के

[1] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 41

प्रति सहानुभूति रखने वाले सेकुलरों ने मुसलमानों की हर जड़ता और रूढ़िवादिता का समर्थन किया।"[1]

ऐसी स्थिति में जबकि धर्मनिरपेक्ष कहे जाने वाले बौद्धिक भी मुस्लिमों के घेटो में बँध जाने को उचित मान रहे हों, तब मुस्लिम लेखकों एवं चिंतकों के सामने चुनौती भी बड़ी है। सर्वप्रथम तो उन्हें इस घेटो की मानसिकता से बाहर आना पड़ेगा तथा आलोचना की संस्कृति का विकास करना पड़ेगा। अल्पसंख्यक प्रश्नों से संबंधित आलोचना का विकास अत्यंत आवश्यक है। अजेय कुमार का भी मानना है कि मुस्लिम समुदाय का 'मुस्लिम घेटो' की मानसिकता से बाहर आना आज के समय में बेहद आवश्यक है। उनके अनुसार "मुस्लिम समाज के अंदर जो लोग सुधार चाहते हैं, उन्हें मुस्लिम घेटो मानसिकता से बाहर निकलकर सर्वव्यापी जनवादी आंदोलन का हिस्सा बनकर ही रास्ता तलाश करना होगा। गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी के सवाल केवल एक धर्म तक सीमित नहीं हैं।"[2]

घेटो की मानसिकता ने मुस्लिम समुदाय को गरीबी और अशिक्षा से जोड़ रखा है। किसी तरह के परिवर्तन की गति वहाँ अब भी बहुत धीमी है। धर्म का वर्चस्व ज्यादा है। अजेय कुमार का मानना है कि गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आदि का सवाल सिर्फ इस्लाम तक सीमित नहीं है बल्कि सभी धर्मों के लोग इसके अंतर्गत आते हैं। ऐसे में मुस्लिम विचारकों के सामने एक बड़ी चुनौती मुसलमानों को किसी भी तरह के जनवादी आंदोलन से जोड़ने की है। मुस्लिम लेखन और उसकी आलोचना की सर्वाधिक बड़ी चुनौती अपने रचनात्मक कार्य के द्वारा मुसलमानों को घेटो की मानसिकता के बाहर निकालना है। मुस्लिम लेखन और उसकी आलोचना इस कार्य को कैसे पूरा करेगी, यह एक विचारणीय पहलू है। अपने समुदाय के लोगों की चेतना के विकास के लिए प्रयास करना, इनके सामने एक बड़ी चुनौती है। दलित विमर्श, उनके सामने एक उदाहरण के तौर पर मौजूद है। जिसने अपने लेखन और विचार कर्म के द्वारा दलितों की एक बड़ी आबादी को प्रभावित किया है। उनकी चेतना के विकास में सकारात्मक योगदान दिया है।

मुस्लिम विमर्श के अंतर्गत एक बड़ी चुनौती मुस्लिम समुदाय के अंतर्गत जाति एवं वर्ग की समस्या पर प्रमुखता से विचार करना है। भारतीय मुसलमान भी

---

[1] राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, पृ. सं. 41

[2] हंस, अगस्त 2003, अजेय कुमार का लेख -'मुसलमान और वाम-दृष्टि', पृ.सं. 64

वर्ग और जाति में उसी तरह विभक्त हैं जिस प्रकार भारतीय हिन्दू समाज विभक्त है। नासिरा शर्मा ने भी मुसलमानों पर विचार करते हुए उन्हें चार भागों में बाँटा हैं, परंतु दलित मुसलमानों की चर्चा नहीं की है। उनके अनुसार "भारतीय मुसलमानों को मोटे रूप से चार भागों में बाँटा जा सकता है- सैयद, शेख, मुगल, पठान और दो फिरकों में सुन्नी और शिया ... ।"[1] यहाँ उन जातियों-उपजातियों का उल्लेख नहीं किया गया है, जो मुस्लिम समुदाय के अंतर्गत मौजूद हैं। इस सन्दर्भ में अब्दुल बिस्मिल्लाह लिखते हैं, "जितनी जातियाँ उपजातियाँ हिन्दू समाज में हैं, लगभग उतनी ही मुस्लिम समाज में भी हैं। यहाँ तक कि मुस्लिम समाज में भी अस्पृश्य जातियाँ हैं, जबकि इस्लाम में छूआछूत की अवधारणा नहीं है।"[2] इम्तियाज अहमद मानते हैं कि जाति और वर्ग का प्रश्न उत्पन्न करने पर कड़े विरोध का सामना करना पड़ता है। उन्होंने लिखा, "... जैसे ही जाति का नाम लीजिए, मुसलमानों में से अनेक स्वर इसका खंडन करने के लिए उठ आएंगे, पर सच्चाई यह है कि जाति मुसलमान समाज की उसी तरह वास्तविकता है, जैसा कि अन्य किसी भारतीय समुदाय की।"[3]

मुस्लिम विमर्श के सामने एक बड़ी चुनौती जाति-प्रश्न को सामने लाने एवं उसे हल करने की होगी। यह एक जिम्मेदारी भी है कि उन सारे पहलुओं को सामने लाया जाए जो अभी तक अनुत्तरित रहे हैं। इसके अभाव में न मुस्लिम समाज का विकास हो सकता है और न ही उनके साहित्य का। आलोचना सिर्फ रचित साहित्य का मुखापेक्षी नहीं होता। वंचित समुदायों को साहित्य के केन्द्र में लाने का प्रयास करना भी आलोचना का दायित्त्व है।

चौथीराम यादव दलित मुसलमानों की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "हिन्दू समाज के दलित विमर्श की तरह मुस्लिम समाज में उठ खड़े हुए 'पसमांदा विमर्श' को अब नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। मुस्लिम समाज में पसमांदा मुसलमानों की सामाजिक समस्या दलितों की तरह ही अपमानजनक और मारक है। पसमांदा फारसी का शब्द है जिसका अर्थ होता है जो पीछे छूट गये हैं।"[4]

---

[1] नासिरा शर्मा , राष्ट्र और मुसलमान, पृ.सं. 83

[2] हंस, अगस्त 2003, अब्दुल बिस्मिल्लाह का लेख - भारतीय मुस्लिम मन, पृ.सं. 90

[3] वही, इम्तियाज अहमद का लेख - भारतीय मुस्लिम समाज की आंतरिक कमजोरियाँ और उनका इलाज, पृ.सं. 17-18

[4] चौथीराम यादव , उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज, पृ. सं. 20

चौथीराम यादव इस बात को स्पष्ट रूप से सामने लाते हैं कि हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज के अंतर्गत भी अस्पृश्य एवं दलित जातियाँ हैं। उनकी स्थिति हिन्दू दलितों से भी बुरी है। हिन्दू दलितों के पक्ष में दलित विमर्श पूरी मजबूती से खड़ा है परंतु पसमांदा मुस्लिमों के साथ अभी तक स्पष्ट रूप से कोई विमर्श खड़ा नहीं दिखाई देता। मुस्लिम विमर्श को यह प्रश्न प्रमुखता से उठाना होगा। साहित्य एवं समाज दोनों ही स्तर पर पसमांदा मुसलमानों के अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। किसी भी समाज का साहित्य अपनी वास्तविकताओं एवं विडम्बनाओं को छोड़कर विकसित नहीं हो सकता। मुस्लिम विमर्श के सामने एक बड़ी चुनौती दलित मुसलमानों की समस्याओं को स्वर देने की है। साहित्य और समाज के मुख्यधारा में शामिल करने की चुनौती भी है। इस चुनौती को स्वीकार करके ही मुस्लिम विमर्श अपने महत्त्व को प्रतिपादित कर सकता है।

मुस्लिम विमर्श के सामने एक बड़ी चुनौती मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं को समुचित तरीके से सामने लाने की है। भारतीय समाज में आज भी स्त्रियों को समुचित अधिकार प्राप्त नहीं है। मुस्लिम स्त्रियों के अधिकार दूसरे समुदाय के स्त्रियों की तुलना में और भी सीमित हैं। मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दयनीय स्थिति का कारण मुस्लिम पर्सनल लॉ को माना जाता है। इस संदर्भ में जोया हसन लिखती हैं, "मुस्लिम औरतों की स्थिति मुस्लिम समाज में अच्छी नहीं है। ऐसा इसलिए कि हिन्दुस्तान के मुस्लिम पर्सनल लॉ पिछले 60-70 सालों में बिना किसी तब्दीली के कायम है।"[1]

मुस्लिम विमर्श के सामने यह चुनौती है कि वह मुस्लिम पर्सनल लॉ के उन पक्षों को सामने रखे जो महिलाओं एवं नागरिकों के अधिकारों को बाधित करता हो। इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि मुस्लिम औरतों के अधिकारों पर विचार भारतीय कानून के अंतर्गत क्यों नहीं होना चाहिए ? मुस्लिम औरतों के अधिकारों पर विचार धर्म के आधार पर क्यों हो ? मुस्लिम विमर्श को इस प्रश्न का हल ढूँढ़ना होगा। इस संदर्भ में जोया हसन की स्पष्ट मान्यता है कि "मुस्लिम औरत की स्थिति पर बात हमेशा इस्लाम के नजरिए से की जाती है। यह नजरिया ही गलत है। कुरान में औरतों के बारे में क्या लिखा है, इस नजरिए से मुस्लिम औरत पर बात करना गलत दृष्टिकोण है। दूसरे धर्म की औरतों की स्थिति पर बात करते समय धर्म केन्द्र

[1] हंस,अगस्त 2003, जोया हसन का लेख - 'मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं, आर्थिक', पृ.सं. 15

में नहीं होता है, बल्कि उनकी स्थिति को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आधारों पर परखते हैं।"[1]

जोया हसन द्वारा उठाए गए इस प्रश्न को छोड़कर मुस्लिम विमर्श आगे नहीं बढ़ सकता। सर्वप्रथम तो सभी महिलाओं को बराबरी का हक समाज में मिलना चाहिए, साथ ही उनकी समस्याओं पर भारतीय कानून के तहत एक ही तरीके से विचार होना चाहिए। धर्म अगर इसमें बाधा उत्पन्न करता है तो उसका सकारात्मक विरोध होना चाहिए। मुस्लिम विमर्श पर मुस्लिम समाज और उसकी स्त्रियों में चेतना जगाने का महत्त्वपूर्ण दायित्त्व है। रचनात्मक हस्तक्षेप के माध्यम से मुस्लिम स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करना अनिवार्य जान पड़ता है।

इस प्रकार मुस्लिम विमर्श के सामने कई चुनौतियाँ हैं, जिनका समाधान मुस्लिम विमर्श के विकास लिए आवश्यक प्रतीत होता है। समाज और साहित्य में चलने वाले विभिन्न आंदोलनों एवं विमर्शों के साथ चलते हुए ही मुस्लिम विमर्श बेहतर रूप में विकसित हो सकता है।

5.5 निष्कर्ष:

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि अपनी तमाम प्रगतिशील भूमिका के बावजूद अस्मितावादी आलोचना को अभी कई चुनौतियों का सामना करना आवश्यक है। अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके ही इन आलोचना पद्धतियों का वास्तविक विकास हो सकता है। स्त्रीवाद या दलित विमर्श का उद्देश्य समाज के अंतर्विरोधों को उजागर करना मात्र नहीं होना चाहिए बल्कि अपने अंतर्विरोधों के खिलाफ भी उनसे संघर्ष अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में आत्मालोचन की संस्कृति का विकास आवश्यक प्रतीत होता है। ये सभी विमर्श असल में समाज में आत्मालोचन की ही संस्कृति का ही विकास करना चाहते हैं ताकि समाज में विद्यमान जाति, धर्म, वर्ग, समुदाय, लिंग आदि पर आधारित विभेदों को दूर किया जा सके।

अंततः हमें ज्ञात होता है कि दलित विमर्श या आदिवासी विमर्श या मुस्लिम विमर्श अपने आप में कोई स्वायत्त विमर्श नहीं हैं बल्कि इन सभी के बीच एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है। यह भी स्पष्ट है कि अभी इस तरह का सम्बन्ध इन सभी

[1] हंस, अगस्त 2003, जोया हसन का लेख - 'मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं, आर्थिक', पृ.सं. 15

आलोचना पद्धतियों के बीच निर्मित नहीं हो पाया है। ऐसे में एक बड़ी चुनौती इन सभी आलोचना पद्धतियों का एक साझा मंच निर्मित करने की होगी क्योंकि यह सभी स्वायत्त न होकर हिन्दी साहित्य और आलोचना के ही विस्तार हैं। अस्मितावादी आलोचना ने समाज, साहित्य और आलोचना को पहले से ज्यादा संवेदनशील बनाया है परन्तु अभी इस कार्य को गंभीरता से जारी रखने की जरूरत है।

उपसंहार

आलोचना का सम्बन्ध सिर्फ साहित्य से नहीं होता। आलोचना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज से होता है। किसी समाज के सहिष्णु और सौहार्द्रपूर्ण होने का पता, उस समाज में मौजूद आलोचना की संस्कृति की स्थिति से चलता है। दुनिया का कोई भी समाज आलोचना की संस्कृति के अभाव में न प्रगति कर सकता है और न ही प्रगतिशील बन सकता है। समाज स्वभावतः प्रगतिशील नहीं बनता अर्थात् परिवर्तन हमेशा विकासोन्मुख नहीं होता। दुनिया के कई समाज इस बात का प्रमाण हैं कि विचारों की संकीर्णता ने उन समाजों की प्रगति को अवरुद्ध किया है। अभिव्यक्ति की आज़ादी को सीमित करना समाज को प्रगति की जगह रूढ़ परम्पराओं की ओर ढकेलना शुरू कर देता है। आलोचना अभिव्यक्ति की आज़ादी का महत्तम स्वरुप है, इसलिए इसका सम्मान आवश्यक है। आलोचना की संस्कृति के प्रोत्साहन के अभाव में रुढ़िवादी विचारों की संस्कृति हावी हो जाती है और समाज या राष्ट्र प्रगति करने की जगह पश्चगामी होने लगते हैं।

साहित्य कोई स्वायत्त ईकाई नहीं है। समाज में प्रचलित विचारों एवं चल रहे आंदोलनों का प्रभाव साहित्य पर अवश्यम्भावी रूप से पड़ता है। कहा जा सकता है कि समाज में विद्यमान चिन्ताधारा का सहज विकास साहित्य में दिखाई पड़ता है। यह सामाजिक चिन्ताधारा दोनों रूपों में ही साहित्य में मौजूद हो सकती है। प्रगतिशील और रुढ़िवादी अर्थात् मिथ्या चेतना और वर्ग चेतना, दोनों ही रूपों में समाज की चिन्ता और विचारधारा साहित्य में मौजूद हो सकती है। ऐसे में आलोचना की जिम्मेदारी ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आलोचना का सम्बन्ध सिर्फ साहित्य की दुनिया तक सीमित नहीं होता, हालाँकि वह प्रारम्भिक तौर पर किसी रचना पर आधारित होती है। असल में साहित्यिक आलोचना में समाज की चिन्ता, रचना से होते हुए आलोचना तक की यात्रा तय करती है। इस तरह साहित्यिक आलोचना महज साहित्यिक नहीं होती बल्कि उतनी ही सामाजिक भी हो जाती है।

ऐसे में आलोचना की सामाजिकता और आलोचना के सामाजिक दायित्त्व बोध का होना बहुत जरूरी है। यह भी समझना आवश्यक है कि कोई आलोचना अनिवार्यतः सामाजिक हो, यह जरूरी नहीं है। समाज किसी जाति या समुदाय विशेष का होते हुए भी उन्हीं तक सीमित नहीं होता। अपने समय में मौजूद अन्य समाजों के साथ निरंतर संवाद में रहकर ही कोई समाज मौजूं बना रह सकता है। अर्थात् किसी भी देश या समाज में संवाद की प्रक्रिया का होना उसकी जीवंतता का परिचायक होता है। संवाद की प्रक्रिया का ही व्यापक रूप आलोचना है क्योंकि वाद-विवाद-संवाद इसकी प्रकृति है। वाद-विवाद-संवाद ही किसी समाज की लोकतांत्रिक प्रकृति को मजबूत बनाता है। इसलिए किसी समाज के प्रगतिशील होने का सबसे पुख्ता सबूत उसके लोकतांत्रिक स्वरूप में होता है।

लोकतंत्र को मजबूत बनाये रखने और उसे निरंतर विकसित करते रहने के लिए उसके तत्त्वों को भी मजबूत करना आवश्यक होता है। आलोचना भी उन्हीं में से एक प्रमुख तत्त्व है। इस सन्दर्भ में समकालीन हिन्दी आलोचना ने न सिर्फ समाज या राष्ट्र के लोकतंत्र को मजबूत करने का प्रयास किया है बल्कि आलोचना के लोकतंत्र को भी मजबूत करने का प्रयास किया है। समकालीन हिन्दी आलोचना में इतने सारे स्वरों का एक साथ मौजूद होना आलोचना की संस्कृति के स्वरूप के लोकतांत्रिक होने का ही परिचायक है। दलित विमर्श, स्त्रीवाद, आदिवासी विमर्श, मुस्लिम विमर्श आदि समकालीन हिन्दी आलोचना के स्वरूप को व्यापक और उदार बनाते हैं। यह सच है कि ये सभी भिन्न-भिन्न अस्मिताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बावजूद यह उन विषयों को आलोचना के केंद्र में स्थापित करते हैं, जिन्हें अब तक आलोचना में हाशिए पर ही स्थान मिलता रहा था। हम देखते हैं कि जाति-प्रश्न पर चिंतित होने के बावजूद दलितों के जीवन का दारुण संघर्ष रचना और आलोचना के विषय नहीं बन पाए थे। इसी तरह स्त्रियों को आधी-आबादी स्वीकार करते हुए भी लैंगिक भेदभाव के विरुद्ध आलोचना का मजबूत स्वर सुनाई नहीं देता। आदिवासियों के अस्तित्व और संस्कृति के विनाश तक का प्रश्न हिन्दी आलोचना की चिंता में शामिल दिखाई नहीं देता। अल्पसंख्यकों की अत्यंत पिछड़ी अवस्था भी, हिन्दी आलोचना के स्वर को प्रभावित करती हुई दिखाई नहीं देती। ऐसे में अस्मितावादी आलोचना के प्रादुर्भाव ने उन रिक्त

स्थानों को भरने का प्रयास किया है, जिसके अभाव में हिन्दी आलोचना का स्वरूप अधूरा और इकहरा प्रतीत होता था। अस्मितावादी आलोचना ने हिन्दी आलोचना की परम्परा को सुदृढ़ करने के साथ-साथ इसे ज्यादा प्रभावी और प्रगतिशील बनाया है।

इस सन्दर्भ में यह बात सच है कि इन अस्मितावादी आलोचनाओं का स्वर अभी उस तरह से एक नहीं हो पाया है, जैसा कि अपेक्षित है। इन सभी का एक साझा मंच होना अत्यंत आवश्यक है । इन सभी आलोचना पद्धतियों के बीच आपसी समझदारी का विकास होना चाहिए तभी इनका समवेत स्वर साहित्यिक दुनिया का प्रभावी तरीके से अतिक्रमण कर पायेगा। इसके अभाव में ही अस्मितावाद को हिन्दी साहित्य और आलोचना के लिए विघटनकारी माना जाता है। माना जाता है कि इनका स्फुट प्रतिरोध एक बार स्फोटित होकर धीरे-धीरे मलिन हो जाने वाला है। इस शोध कार्य के माध्यम से साहित्यकारों, आलोचकों का इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है कि इन सारी आलोचना पद्धतियों द्वारा आपसी अन्तर्विरोधों को दूर कर, एक साझा मंच विकसित करने का प्रयास होना चाहिए।

यह समझने की जरूरत है कि कोई व्यक्ति दलितवादी या अम्बेडकरवादी होते हुए स्त्री-विरोधी नहीं हो सकता। इसी तरह से स्त्रीवादी होते हुए दलित या आदिवासी विरोधी विचार नहीं रखा जा सकता । यह स्वीकार्य नहीं हो सकता कि किसी की संवेदना मुस्लिमों के प्रति हो पर आदिवासियों के ऊपर होने वाला अन्याय उसे नहीं दीखता हो। अर्थात् किसी एक अस्मिता के प्रति संवेदनशील होने का मतलब अन्य अस्मिताओं की उपेक्षा नहीं है। इन सारी अस्मिताओं के बीच एक अन्तर्सम्बंध है। उस अन्तर्सम्बंध की पड़ताल और उसे मजबूत करने का दायित्त्व अस्मितावादी आलोचना पर है। यह समझे जाने की जरूरत है कि समाज में होने वाले समस्त शोषण और अन्याय का सम्बन्ध वर्चस्वशाली सत्ता से होता है। आलोचना का कार्य उस सत्ता की पहचान करने के साथ उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे विचारों को एक साझा मंच प्रदान करना भी है। एडवर्ड सईद का इस संदर्भ में मानना था की सच्ची आलोचना सत्ता के सामने सच कहने का साहस रखती है।

अस्मितावादी आलोचनाओं का आंतरिक एवं बाह्य दोनों स्तर पर अपने अंतर्विरोधों से संघर्ष अनिवार्य प्रतीत होता है। आत्मालोचन और आत्मावलोकन की संस्कृति का विकास इनके अन्दर बहुत धीमा दिखाई देता है। अस्मितावादी साहित्य रचना और आलोचना दोनों ही स्तर पर, ज्यादा सामाजिक होने का दावा करता है। यह दावा निराधार नहीं है किन्तु समाज से जमीनी स्तर पर जुड़ने की कोशिश इनके अन्दर दिखाई नहीं देती । इसलिए समाज से आए साहित्य को आधार बनाकर विकसित होने वाले इन आलोचना पद्धतियों को समाज से जमीनी तौर पर जुड़ने का प्रयास करना होगा। इनके आतंरिक अंतर्विरोध जो आत्मालोचन के अभाव में इनके अन्दर कई तरह के खांचों का निर्माण कर रहा है, उसे ईमानदारीपूर्वक हल करने का प्रयास करना होगा। सभी अस्मिताओं के बीच के अंतर्विरोध को दूर करने का प्रयास करते हुए संवाद की प्रक्रिया को शुरू करना होगा ताकि किसी साझे मंच की जरूरत को पूरा किया जा सके।

आलोचना की संस्कृति को मजबूत बनाना, विभिन्न समाजों की संस्कृतियों को महत्त्व देना, सहजीवन और सह-अस्तित्व के विचार को विकसित करना और सभी तरह के भेदभाव का प्रतिकार करना ही किसी भी साहित्यिक कर्म का उद्देश्य होता है। आने वाला समय अपार संभावनाओं के साथ, अपार संकटों से भी भरा होता है। ऐसे में एकजुट रहना और सुंदर भविष्य गढ़ने के प्रयास को निरंतर जारी रखना ही मनुष्यत्व का उद्देश्य है। अंततः साहित्य का प्राथमिक और अंतिम लक्ष्य मनुष्य ही होता है।

स्रोत एवं सन्दर्भ - ग्रन्थ सूची

1. अनामिका, पानी जो पत्थर पीता है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2012
2. अनामिका, मन मांझने की जरूरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008
3. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001
4. अभय कुमार दुबे (संपा.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014
5. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
6. अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013
7. अरविन्द जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
8. आनंद तेलतुंबड़े, साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन (अनुवाद- अनिल सिन्हा), ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, संस्करण 2010
9. आर. डी. आनंद, दलित प्रश्न और मार्क्सवाद, उद्भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण 2013
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008
11. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014
12. ओमप्रकाश सिंह (संपा.), आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली, भाग – 4, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2007
13. कँवल भारती, दलित साहित्य और विमर्श के आलोचक, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009

14. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, अमन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2013
15. कँवल भारती, दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012
16. कँवल भारती, हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, बोधिसत्त्व प्रकाशन, रामपुर, उत्तर प्रदेश, संस्करण 2006
17. कमला भसीन, निघत सईद खान, नारीवाद : यह आखिर है क्या ?, जागोरी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1986
18. कात्यायनी, कुछ जीवन्त कुछ ज्वलंत, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण 2006
19. कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण 2004
20. कौशल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1999
21. गंगा सहाय मीणा (संपा), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2014
22. गीताश्री (संपा.), नागपाश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
23. गेल ओमवेट, अम्बेडकर : प्रबुद्ध भारत की ओर (अनुवाद – पूरनचंद टंडन), पेंग्विन बुक्स, संस्करण 2005
24. गेल ओमवेट, दलित दृष्टि (अनुवाद – रमणिका गुप्ता, अकील कैस), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
25. गोपेश्वर सिंह (संपा.), भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2002
26. चौथीराम यादव, उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2014
27. जयप्रकाश कर्दम, दलित विमर्श : साहित्य के आईने में, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, संस्करण 2006

28.जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्री और पराधीनता, (अनुवाद एवं प्रस्तुति – युगांक धीर), संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2008
29. देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली 2009
30. धर्मवीर, कबीर के कुछ और आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002
31. धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
32. धर्मवीर, प्रेमचंद : सामंत का मुंशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005
33. निर्मला जैन (संपा.), महादेवी संचयिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002
34. न्युगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति (अनुवाद - आनंदस्वरूप वर्मा), ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, संस्करण 1999
35. न्युगी वा थ्योंगो, भाषा संस्कृति और अस्मिता (अनुवाद-आनंदस्वरूप वर्मा), सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1994
36. टेरी ईगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यालोचन (अनुवाद एवं प्रस्तुति-वैभव सिंह), आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), संस्करण 2006
37. नामवर सिंह, जमाने से दो दो हाथ, (संपा.) आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
38. नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, (संपा.) आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
39. नेमिचन्द्र जैन (संपा.), मुक्तिबोध रचनावली, भाग- पाँच, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 1985
40. पंकज चतुर्वेदी, क्या मुसलमान ऐसे ही होते हैं, शिल्पायन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
41. प्रणय कृष्ण, उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, संस्करण 2008

42. प्रणय कृष्ण, विमर्श और आलोचना, स्पॉट क्रिएटिव सर्विसेस, इलाहाबाद, संस्करण 2014
43. प्रमीला के. पी., स्त्री : यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
44. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004
45. पी. एन. सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी साहित्य, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), संस्करण 2009
46. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड-1 (भारत में जातिप्रथा-उन्मूलन, भाषायी प्रान्तों पर विचार, रानाडे गाँधी और जिन्ना), डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण 2013
47. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड- 9 (अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी), डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण 2013
48. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड- 7 (क्रांति तथा प्रतिक्रांति, बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स), डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण 2013
49. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, संस्करण 2011
50. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008
51. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और दलित दृष्टि, (संपादक - सर्वेश कुमार मौर्य), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015
52. रंगनायकम्मा, जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, संस्करण 2013
53. रजनी पाम दत्त, आज का भारत (अनुवाद – आनंदस्वरूप वर्मा) ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा.लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2011

54. रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012
55. रमणिका गुप्ता, आदिवासी अस्मिता का संकट, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013
56. रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013
57. रमणिका गुप्ता (संपा.), आदिवासी : विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
58. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा.), आज का स्त्री आंदोलन, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012
59. रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तक : विचार परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 2013
60. रमेशचंद मीणा (संपा.), आदिवासी विमर्श, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण 2013
61. राजकिशोर (संपा.), भारतीय मुसलमान : मिथक और यथार्थ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
62. राजेन्द्र यादव, वह सुबह कभी तो आएगी, (संपादक - कविता), अरु पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण 2008
63. रामकली सर्राफ (संपा.), दलित लेखन के अंतर्विरोध, शिल्पायन, नई दिल्ली,सं स्करण 2012
64. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण संवत् २०६०(2003 ई.)
65. रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2009
66. रामविलास शर्मा, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
67. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2004

68. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002
69. रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 1996
70. रामविलास शर्मा, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 1985
71. रामेश्वर राय (संपा.), निबंधों की दुनिया-निराला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
72. राहुल सांकृत्यायन, तुम्हारी क्षय, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, संस्करण 2011
73. राहुल सांकृत्यायन, दिमागी गुलामी, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, संस्करण 2011
74. रोज केरकेट्टा, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची (झारखण्ड), संस्करण 2014
75. रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
76. वंदना टेटे, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची (झारखण्ड), संस्करण 2013
77. विपिन चन्द्रा, सांप्रदायिकता : एक प्रवेशिका, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण 2008
78. विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2008
79. वीर भारत तलवार, झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2008
80. श्यौराज सिंह 'बेचैन', रजतरानी 'मीनू' (संपा.), दलित दखल, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, संस्करण 2011
81. शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (अनुवाद-रमणिका गुप्ता), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

82. सांप्रदायिक समस्या, मार्च 1931 के कानपुर दंगों की जाँच के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस(कराची अधिवेशन 1931) द्वारा नियुक्त समिति की रिपोर्ट (अनुवादक –दिवाकर), नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण 2006
83. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा.), नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2006
84. सिमोन द बोउवा, स्त्री उपेक्षिता (अनुवाद एवं प्रस्तुति - प्रभा खेतान), हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण 1992
85. सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, दखल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014
86. सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2006
87. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', चाबुक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1998
88. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रबंध पद्म, हिन्दी साहित्य भंडार, बंगलौर, संस्करण 1934
89. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006
90. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006
91. हरिनारायण ठाकुर, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2010
92. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण 2013
93. हरिवंश, फैसल अनुराग (संपा.), झारखण्ड अस्मिता के आयाम, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2009
94. Terry Eagleton, Why Marx Was Right, Seagull Books, Calcutta, 2012

95.Verrier Elwin, A Philosphy for Nepha (Arunachal Pradesh), Director of Research, Government of Arunachal Pradesh, Itanagar, 1958

पत्रिकाएँ

1. गौरीनाथ (संपा.), बया, अंक-24, नई दिल्ली, जनवरी-मार्च 2014
2. जय नारायण बुधवार (संपा), कल के लिए, बहराइच, उत्तर प्रदेश, दिसम्बर 1998
3. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (संपा.), नया पथ, अंक 26, नई दिल्ली,1998
4. रमणिका गुप्ता (संपा.), युद्धरत आम आदमी, पूर्णांक 80, रमणिका फाउन्डेशन, हजारीबाग (झारखण्ड), दिसम्बर 2005
5. रमेश उपाध्याय (संपा.), कथन, नई दिल्ली, अंक - अक्टूबर-नवंबर 1999, अक्टूबर-दिसंबर 1998
6. राजेन्द्र यादव (संपा.), असगर वजाहत (अतिथि संपा.), हंस, पूर्णांक 203, अगस्त 2003 , अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली
7. सुनील यादव (संपा.), समकालीन जनमत, इलाहाबाद, मई 2013

List of publication during Research work (2010-2015)

1. Manager Pandey ki vichardharatmak praatibaddhata, Alochna ka aatmsanghsrh (Book, Edited by Ravi Ranjan), vani prakshan, New Delhi, 2011
2. Rat baki to hai lekin, (Book Review), Hans (Ed- Rajendra Yadav), New Delhi, March 2011
3. Sanskrit Kavyashastra men vicharit Kavya Lakshna aur Samkalin Hindi Kavya Paridrishya, Sammuchaya, volume -2, Published by English and Foreign Language University, Hyderbad, 2012
4. Dalit chetna ka stree path, vagarth, Ed- Ekant Shrivastava, Bhartiya Bhasha Parishad, Kolkata, November 2012